"भारत के तीन प्रमुख शिक्षाविद् राष्ट्रपतियों के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी

की

पी-एच. डी. उपाधि (शिक्षाशास्त्र)

हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध

निर्देशक

डा. डी. एस. श्रीवास्तव

पूर्व अधिष्ठाता (शिक्षा संकाय)

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी

एवं विभागाध्यक्ष शिक्षक शिक्षा विभाग

शोधकर्ता

राजीव श्रीवास्तव

एम. एड.

Prof. D. S. Srivastava
Ex. Dean, Faculty of Education
Professor, Head and Director
Convenor
Board of Study and R.D.C.
Education and Physical Education

Mobile No. : 9450081211
Head
Department of Teacher Educatio
Atarra College, Atarra-210201

Date ....

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि राजीव श्रीवास्तव ने बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी द्वारा शिक्षा विषय पर स्वीकृत *"भारत के तीन प्रमुख शिक्षाविद् राष्ट्रपतियों के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन"* नामक शीर्षक पर मेरे निर्देशन में बड़े परिश्रम, लगन एवं अध्यवसाय के साथ 200 सौ दिन शोध–केन्द्र पर उपस्थित रहकर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध पूर्ण किया है। यह इनका मौलिक प्रयास है।

यह शोध प्रबन्ध बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी की पी.–एच. डी. परीक्षा की नियमावली के सभी उपबन्धों की पूर्ति करता है। मैं संस्तुति करता हूँ कि यह प्रबन्ध इस योग्य है कि मूल्यांकन हेतु विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया जाये।

दिनांक : 15/6/08

निर्देशक

(प्रो. डी. एस. श्रीवास्तव)

Residence Address : 3, Staff Quarter, Atarra College, Atarra (Banda)

घोषणा-पत्र

मैं राजीव श्रीवास्तव पुत्र श्री अरूण कुमार श्रीवास्तव यह घोषणा करता हू कि मैंने विषय "भारत के तीन प्रमुख शिक्षाविद् राष्ट्रपतियों के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन" पर शोध कार्य प्रो. डी एस. श्रीवास्तव विभागाध्यक्ष शिक्षक शिक्षा विभाग अतर्रा महाविद्यालय अतर्रा (बाँदा) के कुशल निर्देशन में पूर्ण किया है। मैं शोध केन्द्र पर 200 दिन उपस्थित हुआ है। यह मेरी मौलिक कृति है। इस विषय पर कोई भी शोध कार्य किसी भी विश्वविद्यालय में अभी तक प्रस्तुत नही किया गया है।

दिनांक : 10/6/08

भवदीय

राजीव श्रीवास्तव

(राजीव श्रीवास्तव)

शोध छात्र

आभार

सर्वप्रथम मैं अपने परम पूज्य ग्रहस्थ संत स्व. श्री रमाशंकर विद्यार्थी, जो कि साहित्य, धर्म, होम्योपैथी, कानून आदि विधाओं में दखल रखते थे और जिनका सारा जीवन विद्यार्थी के रूप में अध्ययनरत रहा का आदरपूर्वक स्मरण करता हूँ। उनकी प्रेरणा ने मुझे इस शोध कार्य के लिये प्रेरित तथा उत्साहित किया। वह यद्यपि आज हमारे बीच नहीं है लेकिन उनकी प्रेरणा ज्योति समान मैं अपने साथ सदैव महसूस करता हूँ। मैं उन्हें आदरपूर्वक "चाचा जी" कहा करता था। उन्होंने मुझे शोध विषय चयन करने में सहयोग दिया और तमाम विषयों पर विचारोपरान्त "भारत के तीन प्रमुख शिक्षाविद् राष्ट्रपतियों के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन" विषय का मैंने उनके सुझाव अनुसार चयन किया।

मेरे शोध निर्देशक डॉ. दयाशंकर श्रीवास्तव पूर्व अधिष्ठाता (शिक्षा संकाय) बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय एवं विभागाध्यक्ष शिक्षा विभाग अतर्रा महाविद्यालय अतर्रा (बांदा) के प्रति मैं नतमस्तक हूँ जिनके निर्देशन में और देखरेख में मैं अपने शोधकार्य को आगे बढ़ा सका हूँ। उन्होंने शोध के निर्देशन हेतु अपनी स्वीकृति ही प्रदान नही की अपितु पुत्रवत स्नेह देकर शोधकार्य के हर सोपान पर यथोचित मार्गदर्शन तथा निर्देशन देने की महान कृपा की है और अपने निजी पुस्तकालय से शैक्षिक शोध सर्वेक्षण, शैक्षिक अनुसंधान एवं शिक्षा सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थ व पत्र–पत्रिकाओं को उपलब्ध कराकर व उनसे अंश लेने का ढंग बताकर प्रासंगिक रूप से मदद की तथा शिक्षा विभाग के प्रवक्ता महोदयों से सम्पर्क कराकर शोध दृष्टिकोण को विस्तृत रूप देने का कार्य भी किया इस महती कृपा के लिये मैं उनका चिर ऋणी हूँ।

अपने शोध अध्ययन केन्द्र अतर्रा महाविद्यालय के प्राचार्य के प्रति जिन्होंने अपने विद्यालय के पुस्तकालय से अध्ययन करने की अनुमति प्रदान की, के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं दयानन्द वैदिक महाविद्यालय उरई के पुस्तकालय एवं राजकीय पुस्तकालय

उरई का ऋणी महसूस करता हूँ जहाँ से शोध विषयक सामग्री प्राप्त हुई।

मेरे पिता श्री अरूण कुमार श्रीवास्तव एवं माँ श्रीमती मुक्तारानी चाचा श्री अनिल श्रीवास्तव ने शोध विषयक विवेचन में पड़ने वाली कठिनाइयों का समाधान सुझाया उनके प्रति मैं अपना विनम्र आदर ही प्रकट कर सकता हूँ।

अग्रज श्री रवीन्द्र नाथ को आदर एवं अनुज श्री सिद्धार्थ शंकर, आलोक कुमार, राहुल श्रीवास्तव के प्रति स्नेह प्रकट करता हूँ जिन्होंने शोध विषय सम्बन्धी पत्र–पत्रिकाएं एवं संकलन उपलब्ध कराकर विषय के विस्तृत अध्ययन में सहयोग प्रदान किया है। अपने मामा श्री उदय शंकर वर्मा एवं श्री ओमप्रकाश श्रीवास्तव (कल्ला) द्वारा शोधकार्य में सहयोग के लिये आभारी हूँ। शिक्षा–दार्शनिकों तथा शोधकार्य में जिन विद्वानों शिक्षाविदों, महापुरुषों के ग्रन्थों से उद्धरण लेकर शोध प्रबन्ध में उनका उपयोग किया उन सबके प्रति मैं सादर आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं महक कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिण्टर्स के प्रोप्राइटर श्री मु. जियाउर्रहमान अंसारी जिन्होंने कम समय में स्वच्छ, स्पष्ट एवं आकर्षक प्रिन्ट करके शोध प्रबन्ध को रूप दिया है। उनके प्रति बहुत–बहुत आभार प्रकट करता हूँ।

इस शोध प्रबन्ध की तैयारी में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जिन्होंने सहायता दी है, उन तमाम कृपालु लोगों के प्रति सिवाय कृतज्ञता प्रकट करने के कुछ भी कहने और करने में समर्थ नहीं हूँ।

(राजीव श्रीवास्तव)
शोध छात्र

अनुक्रमणिका

अध्याय	विषय वस्तु	पृष्ठ संख्या
प्रथम अध्याय	**समस्या की पृष्ठभूमि तथा शोध उद्देश्य**	**1-12**
	1. शोध समस्या के अध्ययन का औचित्य	
	2. वर्तमान शोध की आवश्यकता एवं महत्व	
	3. समस्या का अभिकथन	
	4. शोध उद्देश्य	
	5. परिकल्पना	
	6. शोध की प्रबन्ध योजना	
द्वितीय अध्याय	**समस्या से सम्बद्ध साहित्य**	**13-31**
	1. सम्बन्धित साहित्य का अर्थ	
	2. सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षण से तात्पर्य एवं कार्य	
	3. सम्बन्धित साहित्य के अनुशीलन की उपयोगिता	
	4. वर्तमान शोध विषय से सम्बन्धित साहित्य एवं उसका विवेचन तथा तुलना	
तृतीय अध्याय	**शोध विधि एवं प्रदत्तों का संकलन**	**32-45**
	1. शैक्षिक अनुसंधान का अर्थ	
	2. अनुसंधान की प्रमुख विधियां	
	3. वर्तमान शोध कार्य में प्रयुक्त शोध विधि एवं उसकी प्रकृति	
	4. प्रयुक्त शोध विधि के सोपान	
चतुर्थ अध्याय	**परिवेशीय संदर्भ में बाल्यकाल एवं शिक्षा-दीक्षा**	**46-95**
	1. पारिवारिक स्थिति एवं प्रारम्भिक शिक्षा	
	2. माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा का व्यक्तित्व के निर्माण में	

योगदान

3. देश के परतन्त्रता काल की शिक्षा के प्रति असंतोष

4. अध्यापन कार्य का अनुभव

पंचम अध्याय **व्यक्तित्व एवं कृतित्व** **96-160**

(क) व्यक्तित्व

1. व्यक्तित्व–परिभाषा

2. व्यक्तित्व निर्धारण के आधार बिन्दु

3. व्यक्तित्व के प्रमुख रूप व्यक्त एवं अव्यक्त (बाह्य एवं अन्तः) व्यक्तित्व

4. बाह्य व्यक्तित्व

(i) रंग–रूप

(ii) वेश–भूषा

(iii) बाह्य प्रकृति

5. आन्तरिक व्यक्तित्व

(i) सत्य

(ii) अहिंसा

(iii) कर्तव्य पालन

(iv) निर्भीकता

(v) करूणा

(vi) सर्वधर्म समभाव

(vii) स्वाध्याय

(viii) देशप्रेम–भावनात्मक एकता

(ख) कृतित्व

1. (i) रचनाएं

(ii) ग्रंथ रचना पत्र सम्पादन

2. संस्था खुलवाना

3. सहायता कार्य

4. आयोग एवं समितियों की अध्यक्षता/संचालन

षष्ठ अध्याय 1. पृष्ठभूमि **161-286**

2. शिक्षा का अर्थ

3. शिक्षा के उद्देश्य

4. शिक्षक

5. विद्यार्थी

6. पाठ्यक्रम

7. शिक्षालय

8. अनुशासन

9. शिक्षक–विद्यार्थी सम्बन्ध

10. शिक्षा का माध्यम

सप्तम अध्याय वर्तमान समस्याओं के निदान में शैक्षिक विचारों की महत्ता एवं प्रासंगिकता **287-343**

1. प्राथमिक शिक्षा

2. माध्यमिक शिक्षा

3. उच्च शिक्षा

4. व्यावसायिक शिक्षा

5. समाज शिक्षा

6. स्त्री शिक्षा

7. अनुशासन–हीनता

8. राष्ट्रीय एकता

	9.	साम्प्रदायिकता	
	10.	जीवन—मूल्यों की आवश्यकता	
अष्ठम अध्याय	1.	निष्कर्ष	**344-379**
	2.	सुझाव	
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची			**380-387**
परिशिष्ट			

प्रथम अध्याय

समस्या की पृष्ठभूमि तथा शोध उद्देश्य

प्रथम अध्याय

समस्या की पृष्ठभूमि तथा शोध उद्देश्य

शोध समस्या के अध्ययन का औचित्य

शिक्षा वह साधन है जिससे राष्ट्र का विकास होता है। सभी देशों में शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है और शिक्षा का पुर्नरचना के लिए समयानुसार प्रत्यन किया जाता है। आधुनिक भारतीय शिक्षा की पुर्नरचना के लिए शुरू से ही प्रयत्न हुआ। भारतीय शिक्षा आयोग के शब्दों में –

''यदि राष्ट्रीय विकास का पथ तेज होना है तो शिक्षा को शक्तिशाली बनाने, सुधारने और फैलाने के निश्चित तेज काम के लिए एक सुनिश्चित उत्तेजना पूर्ण और कल्पनापूर्ण शैक्षिक नीति की आवश्यकता है।''[1]

भारतीय शिक्षा का इतिहास हमें बताता है कि प्राचीन काल और मध्य काल में शिक्षा की कोई न कोई नीति अवश्य रही है अन्यथा देश के लोग शिक्षित न हो पाते और न ही देश की संस्कृति आगे बढ़ती। प्राचीन काल में शिक्षण की नीति सरल थी। लोग अपनी आवश्यकतानुसार स्वयं अध्ययन में लग जाते थे। समाज की व्यवस्था ऐसी थी कि गुरूकुल अथवा शिक्षा–केन्द्रों में लोग स्वयं जाते थे और अपनी प्रगति के लिए शिक्षा लेते थे। धर्म की नीति का अनुसरण शिक्षा के क्षेत्र में भी पाया गया और शिक्षा लेना–देना मानव का धर्म बन गया।

अरस्तू और कौटिल्य ने शिक्षा के सम्बन्ध में जो विधान निश्चित किया था वह सचमुच ही बहुत प्रभावी है। अरस्तू ने कहा था कि विद्यालय की शिक्षा के अतिरिक्त बड़े–बड़े आचार्यो के विचारों और आचारों का अनुकरण करना चाहिये, जिसे वह 'एजूकेशन वाई एम्यूलेशन' मानते थे। कौटिल्य ने भी शिक्षा के सम्बन्ध में 'वृद्ध–संयोग' को बहुत महत्वपूर्ण माना है। यहाँ वृद्ध का अर्थ केवल उम्र या वर्षो में वृद्ध नहीं है बल्कि ज्ञान, कौशल और कला में निपुण और पारगंत व्यक्ति है।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय नेताओं ने भारत वर्ष की प्रचलित शिक्षा प्रणाली

में भारी परिवर्तन करने की बात उठायी थी। 1948 में राधाकृष्णन आयोग की नियुक्ति की गयी जिसने 1949 में विश्व विद्यालय शिक्षा के पुनर्गठन के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिये थे। इस आयोग के द्वारा न केवल व्यावसायिक शिक्षा पर वरन मानव–विषयों के अध्ययन पर भी बल दिया गया था। आयोग का सर्वोत्तम सुझाव इस बात में था कि भारतीय (पूर्वी) संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति में अनुकूल सामजंस्य लाकर भारतीय शिक्षा का पुनर्गठन किया जाय। आयोग की संस्तुतियों के विषय में स्व. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था – "आयोग की विशेषता है कि वह अतीत से पूर्ण विच्छेद नही करना चाहता, वरन वह चाहता है कि अतीत में सुलभ बहुमूल्य तत्वों को इस आधुनिकता में संरक्षित रखा जाय।"

1952-53 में मुदालियर आयोग नियुक्त किया गया। इसने स्वतन्त्र भारत के लिए आवश्यक माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन पर बल दिया। बालकों की व्यक्तिगत अभिरूचियों को ध्यान में रखकर विविध पाठ्यक्रमों को ग्रहण करने की व्यवस्था पर बल दिया। अध्यापकों की दशा, वेतनमान, प्रशिक्षण, छात्रानुशासन तथा प्रजातन्त्रात्मक शिक्षण प्रणालियों की सुधारात्मक संस्तुतियां प्रस्तुत करके भारतीय शिक्षा के विकास में इस आयोग ने अत्यधिक योग दिया। इस आयोग की संस्तुतियों के अनुसार विविध बहुधन्धी प्राबिधि–विद्यालय, अनियन्त्रण महाविद्यालय तथा बहुद्देशीय विद्यालय स्थापित हुए।

1964 में भारत सरकार ने डॉ. दौलत सिंह कोठारी की अध्यक्षता में भारतीय शिक्षा आयोग की नियुक्ति की जिसमें सम्पूर्ण शिक्षा क्षेत्र पर विचार करते हुए कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये गए। स्वतंत्र राष्ट्र की कोई शिक्षा नीति स्पष्ट न होने के कारण हमारे देश की शिक्षा व्यवस्था अनेक आयोगों की संस्तुतियों और सुझावों के बाद भी दिशाहीन हो रही थी। इन्ही परिस्थितियों में भारतीय संसद ने यह निर्णय लिया कि आयोगों की संस्तुतियों को ध्यान में रखते हुए एक ऐसी शिक्षा नीति तैयार की जाय जिसके माध्यम से राष्ट्र का विकास हो सके। 1968 में प्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1979

में द्वितीय राष्ट्रीय शिक्षा नीति तथा 1986 में तृतीय राष्ट्रीय शिक्षा नीति घोषित की गई। 1979 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति की संसद से अनुमोदित न होने के कारण क्रियान्वित न हो सकी। राजीव गांधी ने प्रधानमंत्री बनने के बाद ही ये घोषणा की थी कि देश में एक राष्ट्रीय शिक्षा नीति की अत्यन्त आवश्यकता है जिसके फलस्वरूप 1986 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति घोषित की गयी जिसे नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति कहा गया। 1992 में श्री राममूर्ति की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी जिसमें 1986 में घोषित राष्ट्रीय शिक्षा नीति में आवश्यक संशोधन किये गये। तत्पश्चात राष्ट्र की शिक्षा व्यवस्था राष्ट्रीय शिक्षा नीतियों में दिये गये महत्वपूर्ण बिन्दुओं तथा निर्देशित सिद्धान्तों के आधार पर संचालित होने लगी।

स्वतंत्र भारत में अब तक शिक्षा की प्रगति जितनी होनी चाहिए थी, उतनी नही हो सकी। योजनाओं में लक्ष्य ऊँचे रखे गए किन्तु उपलब्धियां उद्देश्यों के अनुकूल नहीं हो सकी। अब तक के शैक्षिक नियोजन के मूल में यह भ्रामक धारणा विद्यमान रही है कि केवल धन से ही शिक्षा में सुधार सम्भव है। फिर साधनों के अभाव में जब उतना व्यय नहीं किया जा सका तो सोच लिया कि शैक्षिक प्रगति सम्भव नहीं है।

आज की शिक्षा के सामने दो महत्वपूर्ण समस्यायें है। एक समस्या यह है कि भारतीय समाज के विशाल विद्यालय में अर्थात जन–जीवन में यह बात कैसे पैदा करें जिससे कि वह नई पीढ़ी के लिए हिकारत, अविश्वास और विद्रोह की चीज न बने और दूसरी समस्या यह है कि हम विद्यालय की चहरदीवारी में विभिन्न विषयों और कौशलों के माध्यम से अपनी पीढ़ी को इस प्रकार कैसे विकसित करें ताकि उनमें आत्मविश्वास, परिश्रमशीलता, अपने वातावरण को बनाने और सुधारने और नये मूल्यों का विकास करने या उन्हें स्थापित करने की प्रेरणा और क्षमता मिलें। इस 'पीढ़ियों की खाई' के जमाने में अरस्तू और कौटिल्य की कही बात को उलट कर देखना होगा अर्थात ''वृद्धों को अपनी शिक्षा के लिए नई पीढ़ी का संयोग और सम्पर्क स्थापित करना होगा।'' हमें उनको सहयोगी मानकर चलना होगा। कई विषयों में उनसे पराजित होने पर लज्जा

का अनुभव नहीं करना होगा। हमारा प्राचीन समाज हमेशा यही कहता रहा है कि "प्राप्तेतु षोडषे वर्षे पुत्र मित्रबदाचरेत।" हमारे बुजुर्गों ने इससे भी बड़ा आदर्श गुरूओं के सामने प्रस्तुत किया था वह है – "शिष्य से पराजय की कामना करो।" गुरू की उच्चता और महानता इसी बात में है कि उसके शिष्य उससे भी महान बने।

किसी भी राष्ट्र की उन्नति केवल वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति, बड़े–बड़े कारखानों से ही नहीं होती जब तक कि उस राष्ट्र का मानव अपनी आध्यात्मिक आवश्यकताओं का मेल या सामंजस्य इनके साथ स्थापित नहीं करता।

प्राचीन भारत में शिक्षा प्रकाश एवं शक्ति का श्रोत मानी जाती थी और व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्तियों के संतुलित विकास से उसके स्वभाव में परिवर्तन करके उसे श्रेष्ठ और श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर बनाने का कार्य करती है तथा इस योग्य बनाती है कि वह समाज में एक सुयोग्य एवं उपयोगी नागरिक बनकर अपने समाज तथा राष्ट्र को उन्नति की ओर अग्रसर करने में सहायक होवें।

डॉ. अनन्त सदाशिव अलेतकर ने प्राचीन काल की शिक्षा के आदर्श के सम्बन्ध में लिखा है–"ईश्वर भक्ति धर्म विश्वास चरित्र निर्माण और सामाजिक कर्तव्यों की शिक्षा सामाजिक गुणों की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रचार प्राचीन भारत में शिक्षा के मुख्य उद्देश्य व आदर्श थे।[1]

भारतीय जीवन दिव्य भावनाओं तथा उद्दात सिद्धान्तों पर संगठित किया गया था। यदि कोई व्यक्ति समाज या राष्ट्र अपनी प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का संरक्षण और संवर्द्धन नही कर सकता तो उसको सही रूप में शिक्षित नहीं कहा जा सकता। विस्तृत अर्थ में शिक्षा सारे जीवन चलने वाली वह प्रक्रिया है जिससे सीख एवं अनुभव के द्वारा व्यक्ति अपने को सभ्य, सुसंस्कृत एवं उन्नत बनाता चलता है और संकुचित अर्थ में शिक्षा से आशय शिक्षण प्रदान करने की उस प्रक्रिया से है जो जीवकोपार्जन में लगने के पूर्व किसी गुरू या गुरूओं से प्राप्त करता है।

---

1. 'प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति' लेखक डा. अनन्त सदाशिव अलेतकर, प्रकाशक नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी 1979-80, पृ. 7

विश्व में जितने मत सम्प्रदाय और विचार धाराएं चली सभी ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु शिक्षा को साधन तथा माध्यम बनाया। पाश्चात्य दार्शनिकों सुकरात, प्लेटो, जानलाक, रूसो, पेस्टालाजी, जे एच हरवार्ट, फेडरिक फ्रावेल, हर्वट स्पेन्सर, सरपेरीनन, मेरिया मांटेसरी, जान डी. वी. एच किलपैट्रिक आदि ने अपनी शिक्षा योजना समाज हित में जनता के सामने रखी। भारतीय दार्शनिक स्वामी जगतगुरू शंकराचार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, महर्षि अरविन्द घोष, डॉ. राधाकृष्णन, आचार्य विनोबा भावे, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा डॉ. जाकिर हुसैन ने शिक्षा पद्धति तथा शिक्षा दर्शन समाज हित में विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया है।

जगतगुरू शंकराचार्य धर्म प्रचारक एवं संरक्षक हुए उन्होंने वेदांत को जीवन दर्शन का आधार बताया। स्वामी दयानन्द सरस्वती वेदो के भाष्यकार एवं आर्य समाज के संस्थापक हुए। उनके नाम पर दयानन्द वैदिक विद्यालयों की स्थापना सभी प्रदेशों के बड़े–बड़े नगरों में हुई और वैदिक ज्ञान प्रदान करने की दृष्टि से गुरूकुल स्थापित हुए।

स्वामी विवेकानन्द ने मानव की निस्वार्थ सेवा करने, व्यक्तियों में आत्मविश्वास उत्पन्न करने एवं बढ़ाने तथा शिक्षा का प्रसार जन–जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से अपने गुरूदेव के नाम पर श्री रामकृष्ण मिशन का संगठन किया। गुरूदेव रवीन्द्र नाथ ने अपने शिक्षा आदर्शों को व्यवहारिक रूप देने के उद्देश्य से शिक्षण संस्थायें शांति निकेतन 1901, श्री निकेतन 1922 तथा शिल्प सदन 1924 में खोली थी। तीनों को मिलाकर विश्व भारती की एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप में स्थापना की थी। महात्मा गांधी ने सत्य, अंहिसा, परमोधर्मा पर आचरणकर यह साबित किया कि स्वयं के आचरण द्वारा पृथ्वी के मानवों को सीख दी जा सकती है। अपने अनुभवों को 1939 में वर्धा में शिक्षाविदो के सामने रखा जो वर्धा योजना के नाम से जानी जाती है। इस शिक्षा का आधार बेसिक क्राफ्ट या मूल हस्तकला रखा गया था। 1945 में सेवाग्राम में

शिक्षा सम्मेलन में समग्र शिक्षा की योजना प्रस्तुत की गई थी जिसे नई तालीम कहा गया है। "महात्मा गांधी ने गुजरात विद्यापीठ की स्थापना 18 अक्टूबर 1920 ई. को स्वयं की थी और वे ही अजीवन इसके कुलपति रहे। इसका उद्देश्य चरित्र योग्यता, शिक्षा और कर्त्तव्य निष्ठता से युक्त ऐसे कार्यकर्ता तैयार करना था जो सत्य और अंहिसा के आदर्शो के अनुरूप जीवन–यापन करने वाले हो। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रखा गया और पाठ्यक्रम में राष्ट्रभाषा हिन्दी अनिवार्य रखा गया। विद्यापीठ ग्रामों के उत्थान का एक साधन बना। आज वहां नर्सरी, प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा की व्यवस्था है। वहां प्रतिदिन दो ढाई घण्टे का कृषि, काष्ठकला और हाथ की कताई–बुनाई का शिल्प यहां के कार्यक्रम का आवश्यक भाग है। विद्यापीठ सामुदायिक जीवन का अनुभव प्रदान करता है। परीक्षा की दृष्टि से वार्षिक परीक्षा के स्थान पर साप्ताहिक टेस्ट होते है। जिसमें विद्यापीठ के पाठ्यक्रम के सभी पक्षों का मूल्यांकन किया जाता है। इन्ही उद्देश्यों को आधार बनाकर वाराणसी में बसंत पंचमी के दिन 10 फरवरी 1921 को महात्मा गांधी के कर–कमलों से ही काशी विद्यापीठ की स्थापना की गई। वहां शास्त्री का पाठ्यक्रम एम. ए. के स्तर का था। आज वहां शास्त्री के अतिरिक्त एम.ए., एम.ए.एस., पी.एच.डी., डी. लिट् कोर्स भी चल रहे है। नियमित और व्यक्तिगत दोनों ही प्रकार के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे है।"(1)

महर्षि अरविन्द घोष ने बड़ौदा राज्य में कुछ वर्षो तक अध्यापन कार्य किया। वगमंग आंदोलन में वह सक्रिय रूप से सम्मिलित हुए। राजनीति से सन्यास लेकर पंडिचेरी में आध्यात्मक साधना मे लग गए। 1943 में देश विदेश के साधकों के बच्चों को शिक्षा देने हेतु विद्यालय की स्थापना की जिससे उनके शैक्षिक विचारों को मूल रूप दिया जा सके। अब वह एक अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द का रूप ले चुका है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन वर्ष 1939 में हिन्दू विश्व विद्यालय बनारस में उप कुलपति बनाए गए। 1948 में विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष बनाए गए, इस आयोग में सदस्य रूप में डॉ.

1. "आधुनिक भारतीय शिक्षा समस्यायें और समाधान" लेखक रवीन्द्र अग्निहोत्री, प्रकाशक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ए–26/2, तिलक नगर, जयपुर, पृ. 412-413

जाकिर हुसैन, डॉ. ताराचन्द्र, डॉ० मुदालियर, डॉ. साहा आदि थे। आयोग ने विश्वविद्यालीय शिक्षा पर अपने महत्वपूर्ण सुझाव दिए।

डॉ. जाकिर हुसैन ने जामिया मिलिया की स्थापना की थी। सन् 1926 से 1948 तक वह इस संस्था के उप कुलपति रहे। जामिया मिलिया में उन्होंने ऐसी भूमि तैयार की जहां हिन्दू और मुस्लिम मिलकर नैतिक मूल्यों की प्राप्ति कर सके। उन्होंने 1938 में वर्धा योजना को व्यवस्थित रूप दिया। वह 1938 से हिन्दुस्तानी तालीमी संघ सेवाग्राम के अध्यक्ष रहे। 1948 से 1956 तक अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे।

महात्मा गांधी के आध्यात्मिक शिष्य डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य विनोबा भावे ने बुनियादी शिक्षा एवं राष्ट्रभाषा पर अपने विस्त्रित विचार प्रस्तुत किये है।

उक्त शिक्षा विचारकों के शैक्षिक आदर्श एवं सिद्धान्तों पर अनुसंधान एवं शोध प्रबन्ध विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा प्रस्तुत किये गए है, लेकिन अब तक किसी व्यक्ति द्वारा ***"भारत के तीन प्रमुख राष्ट्रपतियों के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन"*** विषय पर शोध कार्य नहीं हुआ है। भारत के तीन प्रथम राष्ट्रपतियों डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन एवं डॉ. जाकिर हुसैन के शैक्षिक विचारों पर एक साथ तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया है और न कोई शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया है। जबकि डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने शिक्षा जगत के लिए भाषा के प्रश्न को बहुत गहनता से उठाया और सम्पूर्ण भारत के लिए जनभाषा के रूप में 'हिन्दुस्तानी' राष्ट्रभाषा का प्रतिपादन किया। उन्होंने राष्ट्रभाषा को धनी बनाने के लिए अन्य प्रचलित शब्दों को तथा अन्य भाषाई शब्दों को 'हिन्दुस्तानी' भाषा में सम्मिलित करने की जोरदार सिफारिश की। उनके जीवन का एक बड़ा हिस्सा शिक्षा और अध्यायन से भी जुड़ा रहा है। डॉ. राधाकृष्णन ने विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष के रूप में विश्वविद्यालीय शिक्षा पर महत्वपूर्ण अनुशसायें प्रस्तुत की है। डॉ. जाकिर हुसैन ने महात्मा गांधी के विचारों पर आधारित बुनियादी शिक्षा एवं नयी तालीम पर सकारात्मक कार्य किया और

उसको अमली जामा पहनाने का भरसक प्रयत्न किया है। वह स्वयं जीवन पर्यन्त एक आदर्श शिक्षक के रूप में आचरण करते रहे। यद्यपि वह देश के सर्वोच्च पदों पर आसीन रहे है। इस शोध में उक्त तीन महापुरूषों के शिक्षा जगत में योगदान, उनका दर्शन और उसकी परिकल्पना को सार रूप में ग्रहण करने का प्रयास किया गया है।

वर्तमान शोध की आवश्यकता तथा महत्व

देशों के स्वतन्त्रता संग्राम में अपना सर्वस्य न्योछावर कर देने वाले महामानव महात्मा गांधी के साथ–साथ डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन एवं डॉ. जाकिर हुसैन प्रथम पंक्ति के राष्ट्रमवत थे। उनका दर्शन, उनके द्वारा विभिन्न अवसरों पर दिये गये भाषण, उनकी रचनाएं तथा उनके क्रियात्मक कार्यो पर एक साथ नजर डालना तथा उसके महत्व को उजागर करना वर्तमान शोध का प्रमुख ध्येय है। समकालीन शिक्षा शास्त्रियों के शैक्षिक विचारों एवं उनके क्रियात्मक प्रयोगों से तुलना करने का प्रयास किया गया है एवं पूर्वाग्रह रहित समीक्षात्मक अध्ययन इस शोध का महत्व है।

समस्या का अभिकथन

आवश्यकता की संतुष्टि के साधन मार्ग में आने वाला व्यवधान ही समस्या प्रकट करता है। व्यवधान जितना प्रबल होगा तीव्र होगा समस्या उतनी ही गम्भीर होगी।

देश को स्वतन्त्र हुए 60 वर्ष हो गए है लेकिन हम देश को वांछित शिक्षा व्यवस्था नही दे सके और जो लक्ष्य लेकर चले थे उसके अनुसार हम पूरी जनता को शिक्षित नही कर सके है। बुनियादी तौर पर भारतीय समाज के हर वर्ग, कौम और क्षेत्र को शिक्षित करने का लक्ष्य महात्मा गांधी और उनकी योजना के अनुयायी डॉ. राजेन्द्र प्रसाद एवं डॉ. जाकिर हुसैन के प्रयास से भी फल–फूल नही सका है। राष्ट्रीय बेसिक शिक्षा और नयी तालीम को समुचित साधन और प्रोत्साहन नही मिल सका। आज देश के समक्ष रोजगार परक शिक्षा की कितनी गहन आवश्यकता है इससे भली भांति जन–जन अवगत है। मुख्यतः शिक्षा भी आय का साधन बना दी गई है जो अपने

आकर्षक प्रयोगों द्वारा घनाड्य वर्ग को अपनी ओर खींचता है और गरीब कमजोर वर्ग घिसे पिटे साधनहीन स्कूलों में शिक्षा ग्रहण करने के लिए मजबूर है। परिणाम यह है कि देश में भेदभाव पूर्ण शिक्षा व्यवस्थाने जड़े पकड़ ली है। यह एक ऐसी समस्या है जिसका निदान एक ज्वलंत समस्या है। इस शोध प्रबन्ध में इस समस्या पर प्रकाश डालकर सुसंगत सुझाव प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा। अतएव शोधार्थी द्वारा निम्न समस्या का चयन किया गया है।

"भारत के तीन प्रमुख शिक्षाविद् राष्ट्रपतियों के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन"

शोध उद्देश्य

शोध का मुख्य उद्देश्य भारत के प्रथम तीन राष्ट्रपतियों जो शिक्षा जगत से अमिभ रूप से जुड़े हुए थे उनके वर्तमान परिपेक्ष्य में शैक्षिक विचारों को एक साथ एक श्रृंखला में प्रस्तुत करने का प्रयास है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन एवं डॉ. जाकिर हुसैन का शिक्षा क्षेत्र में महान योगदान रहा है और वे महात्मा गांधी कविवर रवीन्द्र नाथ टैगोर, महर्षि अरविन्द घोष, विवेकानन्द, आचार्य विनोबा भावे आदि महापुरूषों के दर्शन से गहनता से प्रभावित रहे है। इस देश में एक ऐसे शिक्षा दर्शन की आवश्यकता है जिसमें शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षालय, शिक्षा प्रणाली, पाठ्यक्रम एवं अनुशासन और औद्योगिक शिक्षा तथा भाषा का एक व्यवहारिक निदान किया गया है। इस शोध के निम्न उद्देश्य निर्धारित किये गये है :-

1. तीन प्रमुख राष्ट्रपतियों (डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. एस. राधाकृष्णन तथा डॉ. जाकिर हुसैन) के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करना।
2. शैक्षिक विचारकों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालना।
3. शिक्षा जगत की वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में उक्त शिक्षाविदों के विचारों की प्रांसगिकता का अध्ययन।

परिकल्पना

अनुसंधान कार्य में समस्या के लिए एक उपयुक्त परिकल्पना की रचना आवश्यक होती है। परिकल्पना के अभाव में समस्या का अध्ययन प्रायः सम्भव नहीं है। कारण यह है कि समस्या का स्वरूप अधिकतर अत्यधिक विसम, विस्तृत तथा विसरित होता है। ऐसी स्थित में उसके व्यापक क्षेत्र को घटाना तथा न्यून करना अत्यन्त आवश्यक होता है, जिसमें अध्ययन का स्वरूप स्पष्ट सूक्ष्म तथा गहन हो सके।

ब्राउन तथा घिरौली ने परिकल्पना की एक स्पष्ट एवं विस्तृत परिभाषा इस प्रकार दी है "परिकल्पना तथ्यात्मक तथा संप्रत्यात्मक तत्वों तथा उनके साबधों के विषय में एक ऐसा प्रस्ताव होता है कि जिसका उद्देश्य ज्ञात तथ्यों तथा अनुभवों से परे ज्ञान तथा जानकारी में वृद्धि करता है।"[1]

शोध की प्रबन्ध योजना

महत्वपूर्ण मुद्दों या समस्याओं का व्यवस्थित रूप में अध्ययन करने की दृष्टि से एक योजना या प्रस्ताव निर्मित करना आवश्यक होता है। यह एक ऐसे प्रारूप की अपेक्षा रखती है जिसके तहत शोध का उद्देश्य इसका स्वरूप एवं क्षेत्र एवं अन्य आवश्यक सूचनाएं प्रस्तुत की जाती है।

शोध प्रबन्ध को आठ अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में प्राचीन काल में शिक्षा के उद्देश्य एवं आदर्श, भारतीय विचारकों द्वारा शिक्षण पद्धति के प्रतिपादित स्वरूपों का संदर्भ देते हुए वर्तमान शोध के लिए प्रेरणा उसकी आवश्यकता तथा महत्व पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में सम्बन्धित साहित्य का अर्थ उसके कार्य तथा सम्बद्ध साहित्य के अनुशीलन की आवश्यकता एवं उपयोगिता को दर्शाते हुए डॉ. वुच द्वारा सम्पादित सर्वे आफ रिसर्च इन एजूकेशन के अध्ययन से स्पष्ट किया कि डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन एवं डॉ. जाकिर हुसैन के शैक्षिक विचारों पर एक साथ

1. शैक्षिक अनुसंधान, लेखक के. पी. पाण्डेय, पृ. 270, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी 1998

अध्ययन नहीं किया गया है। शोध में इन तीन महामानवों–शिक्षाविदों के शैक्षिक विचारों के कुछ अनछुये पहुलयों पर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय शैक्षिक अनुसंधान का अर्थ, अनुसंधान की प्रमुख विधियां, वर्तमान शोध कार्य में प्रयुक्त शोध विधि एवं उसकी प्रकृति तथा प्रयुक्त शोध विधि के सोपान का उल्लेख किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन एवं डॉ. जाकिर हुसैन की परिवारिक स्थिति एवं प्रारम्भिक शिक्षा, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा तथा शिक्षा का व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान उनमें देश की परतन्त्रताकाल की शिक्षा के प्रति असंतोष तथा उनका अध्यापन कार्य का अनुभव पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय में व्यक्तित्व की परिभाषा व्यक्तित्व निर्धारण के आधार बिन्दु व्यक्तित्व के प्रमुख रूप–व्यकत एवं अव्यक्त (बाह्य एवं अंतः) व्यक्तित्व। बाह्य व्यक्तित्व में रंग–रूप वेशभूषा एवं वाहय प्रकृति तथा आतंरिक व्यक्तित्व में सत्य अंहिसा का परिपालन, कर्तव्य पालन, निर्भीकता, करूणा, सर्वधर्म समभाव, स्वाध्याय, देश प्रेम भावनात्मक एकता पर प्रथम तीनों शिक्षाविद राष्ट्रपतियों पर प्रकाश डाला गया है तथा उनके कृतित्व में उनके द्वारा की गई रचनाएं – ग्रन्थ रचना एवं सम्पादन, संस्थायें खुलवाना सहायता कार्य करना तथा उनके द्वारा आयोग एवं समितियों की अध्यक्षता/संचालन का उल्लेख किया गया है।

छटवें अध्याय में शैक्षिक विचारों की पृष्ठ भूमि शिक्षा का अर्थ, शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षक, विद्यार्थी, पाठ्यक्रम, शिक्षालय, अनुशासन, शिक्षक–विद्यार्थी सम्बन्ध एवं शिक्षा का माध्यम तथा एक दूसरे का पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना की गई है।

सप्तम अध्याय में वर्तमान समस्याओं के निदान में शैक्षिक विचारों की महत्ता एवं प्रासंगिकता विशेष तौर पर प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, उच्च शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, समाज शिक्षा, स्त्री शिक्षा, अनुशासनहीनता, राष्ट्रीय एकता, साम्प्रदायिकता तथा जीवन–मूल्यों की आवश्यकता पर विचार किया गया है तथा इनके विस्तार क्षेत्रों पर

प्रकाश डाला गया है।

अष्ठम अध्याय में शोध का निष्कर्ष, वर्तमान में शैक्षिक स्तर की समालोचना इसकी कठिनाइयां, अभाव, साधनहीनता तथा वर्तमान शैक्षिक संस्कृति के सम्बन्ध में विचार किया गया है तथा शैक्षिक सुधार हेतु सुझाव प्रस्तुत किये गये है।

अध्याय में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन एवं डॉ. जाकिर हुसैन के समकालीन शिक्षाविदों के शैक्षिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा विचारों की उपयोगिता पर एक नजर डाली गयी है।

द्वितीय अध्याय

समस्या से सम्बद्ध साहित्य

द्वितीय अध्याय

समस्या से सम्बद्ध साहित्य

सम्बन्धित साहित्य का अर्थ

सम्बन्धित साहित्य से तात्पर्य डा. पारसनाथ राय के अनुसार "अनुसंधान के विषय से सम्बन्धित उन सभी प्रकार के ग्रन्थों, पत्र–पत्रिकाओं, ज्ञानकोषों प्रकाशित तथा अप्रकाशित शोध–प्रबन्धों एवं अभिलेखों आदि से है जिनके अध्ययन से अनुसंधान कर्ता को अपनी समस्या के चयन, परिकल्पनाओं के निर्माण, अध्ययन की रूपरेखा बनाकर कार्य को आगे बढ़ाना होता है।[1]

सभी विद्वानो ने एकमत से अनुसंधान कार्य की सफलता के लिए सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन अपरिहार्य माना है। चार्टरवी गुड ने इसे सटीक रूप से परिभाषित किया है – "मुद्रित साहित्य के अपार भण्डार की कुंजी अर्थपूर्ण समस्या और विश्लेषणीय परिकल्पना के श्रोत का द्वार खोल देती है, अध्ययन की विधि के चुनाव तथा प्राप्त सामग्री के तुलनात्मक विश्लेषण में सहायता करती है। वास्तव में रचनात्मक, मौलिकता तथा चिन्तन के विकास हेतु विस्तृत एवं गम्भीर अध्ययन आवश्यक है।"[2]

सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षण से तात्पर्य एवं कार्य के उद्देश्य

गुड़वार तथा स्केटस के अनुसार सर्वेक्षण निम्न तथ्यों को स्पष्ट करता है :–

1. उपलब्ध प्रमाण क्या समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत करते हैं।
2. यह सर्वेक्षण उन सिद्धान्तों, व्याख्याओं तथा परिकल्पनाओं को विचार प्रदान करता है जो अपने अध्ययन की समस्या के निर्माण के लिए महत्वपूर्ण होते है।
3. यह समस्या के समाधान हेतु अनुसंधान की समुचित विधिका सुझाव देता है।
4. तुलनात्मक आकड़ों को प्राप्त करने व उनके विश्लेषण में सहायक होता है।

---

1. "अनुसंधान परिचय" लेखक डा. पारसनाथ राय, प्रकाशक लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 1985 पृ. 94
2. "मैथोलॉजी आफ एजूकेशनल रिसर्च, लेखक गुड़वार एवं स्केटस, प्रकाशक अप्लीटन कम्पनी न्यूयार्क, पृ. 104-105

5. सम्बन्धित साहित्य का गम्भीर अध्ययन अनुसंधानकर्ता के ज्ञानकोष की वृद्धि करता है।

सर्वेक्षण का कार्य क्षेत्र

1. अनुसंधान के लिए पृष्ठ भूमि को स्पष्ट करता है तथा विभिन्न सिद्धान्तों एवं धारणाओं को समझने में सहायता करता है।
2. चयन किये गए क्षेत्र में कितना काम हो चुका है उसकी जानकारी देता है।
3. अनुसंधान के लिए किस विधि का प्रयोग उपयुक्त होगा।
4. समस्या के परिभाषीकरण, अवधारणायें, सीमाकंन तथा परिकल्पना के निर्माण में सहायता करता है।
5. प्राप्त निष्कर्षों के विश्लेषण के लिए सूझ पैदा करता है तथा समर्थन के लिए आधार प्रस्तुत करता है।
6. लिये गये अनुसंधान की सफलता तथा उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में पूर्वानुमान होता है।
7. शोध सामग्री कम करने के उपयुक्त साधनों उपकरणों, विधियों एवं परिणामों के खोजने में सहायता करता है।
8. सर्वेक्षण साहित्य से जानकारी होती है कि कौन से पक्ष ऐसे है जो शोध कार्य से अभी तक अछूते रह गये है।

सम्बन्धित साहित्य के अनुशीलन की उपयोगिता

सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षण से अनुसंधानकर्ता को निम्नलिखित लाभ है :–

1. यह आवश्यक पुनरावृत्ति से बचाता है।
2. यह महत्वपूर्ण अंग के रूप में शोधकर्ता के ज्ञान उसकी स्पष्टता तथा कुशलता को स्पष्ट करता है।
3. अब तक उस क्षेत्र में हो चुके कार्य की सूचना देता है।
4. पहले किये गये कार्य के आंकड़े वर्तमान अध्ययन में सहायक होते है।

5. समस्या के चुनाव, विश्लेषण एवं कथन में सहायक होता है।

6. यह समस्या के अध्ययन में सूझ पैदा करता है।

7. समस्या के सीमांकन में सहायक होता है।

8. सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण न करने से यह सम्भावना रहती है कि जो अनुसंधान कार्य पहले किया जा चुका है वह पुनः किया जा सकता है।

9. अध्ययन के क्षेत्र को सीमित करने एवं उसमें लगने वाले श्रम की बचत करता है।

10. पूर्व में किये गये कुछ अनुसंधानों में प्राप्त निष्कर्षों से प्रस्तावित शोध में प्राप्त निष्कर्ष का सत्यापन हो सकता है।

11. पूर्व अनुसंधानों के अध्ययन से अन्य सम्बन्धित नवीन समस्याओं का पता लगता है।

सूचना स्रोत

अनुसंधान सम्बन्धी सूचनाएं निम्न स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है – 1. पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाला सामाजिक साहित्य 2. वार्षिकी 3. किसी विषय पर लेख 4. बुलेटिन 5. शोध प्रबन्ध 6. राजकीय प्रकाशन 7. विश्वविद्यालय प्रकाशन 8. अन्य प्रकाशन 9. अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशन 10. शिक्षा सम्बन्धी लेख 11. ज्ञान कोष 12. निर्देशकाएं आदि।

बोर्ज. डब्लू. आर. के अनुसार "किसी भी क्षेत्र का साहित्य उस आधारशिला के समान है जिस पर सम्पूर्ण भावी कार्य आधारित होता है। यदि सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षण द्वारा इस नीव को दृढ़ नहीं कर लेते तो हमारे कार्य को प्रभावहीन एवं महत्वहीन होने की सम्भावना है अथवा यह पुनरावृत्ति भी हो सकती है।"

प्रस्तुत शोध सम्बन्धी साहित्य

शोध समस्या से सम्बन्धित कार्यों की जानकारी करने पर प्रकट हुआ कि भारत के अन्य शिक्षा मनीषियों के चाहे वे सक्रिय राजनीति में रहे हो या उससे पृथक

शिक्षा क्षेत्र में योगदान किया हो उनके शिक्षा दर्शन एवं शैक्षिक विचारों पर शोध कार्य किया गया है। जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है –

जगत गुरू शंकराचार्य (788-820 ई.)

क्र.सं.	शोध शीर्षक	वर्ष	वि.वि.	शोधकर्ता
1.	शंकराचार्य की शिक्षा दर्शन	1978	मेरठ	शर्मा वी. डी.
2.	शंकर वेदांत में विश्व बंधुत्व की भावना और शिक्षा एक अध्ययन	1992	आगरा	सिंह पहुप

स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883 ई.)

क्र.सं.	शोध शीर्षक	वर्ष	वि.वि.	शोधकर्ता
1.	एजूकेशनल आइडियाज आफ स्वामी दयानन्द	1980	केरला	नैय्यर वी.एस.
2.	एजूकेशनल फिलासफी आफ स्वामी दयानन्द	1981	मेरठ	वी.पी.एम. चौहान
3.	ए स्टडी आफ स्वामी दयानन्द सरस्वती, इन्टरपिटेसन आफ वैदिक स्प्रिक्चर्स इट्स एजूकेशन इम्पीकेशन एण्ड सोशल रेलीवेन्स	2001	हैदराबाद	तेजा धर्मा डी

कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1943 ई.)

क्र.सं.	शोध शीर्षक	वर्ष	वि.वि.	शोधकर्ता
1.	रवीन्द्र नाथ टैगोर एज एन एजूकेटर	1972	आगरा	आई. वी. सिंह
2.	एजूकेशनल फिलासफी आफ टैगोर एण्ड इट्स रिलीवेंस टु करेन्ट एजूकेशनल थाट्स	1976	कलकत्ता	एम. एन. जान

3.	आर्ट एज ए मीडियम आफ एजूकेशन इज टैमोर्स थीम	1976	उस्मानिया	आर. पाल
4.	ए क्रिटीकल स्टडी आफ रवीन्द्र नाथ टैगोर एज एन एजूकेशनिस्ट	1980	गोरखपुर	एस. एन. सिंह
5.	ए स्टडी आफ द एजूकेशनल आईडियाज आफ रवीन्द्र नाथ टैगोर एण्ड देयर रेलीवेंस टु कन्टम्परेरी थाटस एण्ड प्रेक्टिस इन एजूकेशन	1981	विश्व भारती	एस. एस. राय
6.	ए क्रटीकल स्टडीज आफ रवीन्द्र नाथ टैगोर्स एजूकेशनल फिलासफी	1982	पूना	पी.जी. पुरन्दरे
7.	एजूकेशनल आइडियाज आफ टैगोर एण्ड दियर रेलीवेन्स टु वेल्यू एजूकेशन इन मार्डन इण्डिया कान्टेक्स्ट	2003	कुरूक्षेत्र	गीतांजलि

पं. मदन मोहन मालवीय (1861-1946 ई.)

क्र.सं.	शोध शीर्षक	वर्ष	वि.वि.	शोधकर्ता
1.	पं. मदन मोहन मालवीय के शैक्षिक विचारों का अध्ययन	1986	बनारस	एम. राय
2.	आधुनिक परिवेश में महामना मदन मोहन मालवीय के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन	1990	बुन्देलखण्ड	जवाहर लाल वर्मा

स्वामी विवेकानन्द (1863-1902 ई.)

क्र.सं.	शोध शीर्षक	वर्ष	वि.वि.	शोधकर्ता
1.	स्वामी विवेकानन्दस फिलासफी ऑफ एजूकेशन–एसाइको मेटाफिजकल एप्रोच	1973	कलकत्ता	एम. हुसैन
2.	ए स्टडी आफ द फिलासफी आफ विवेकानन्द विद रिफरेंस टू अद्वैत वेदांत एण्ड ग्रेट यूनीवर्सल हार्ट आफ बुद्ध	1978	गोहटी	टी. एस. दत्ता
3.	एजूकेशनल फिलोसफी आफ स्वामी विवेकानन्द	1978	बाम्बे	जे. डी. पुठियाथ
4.	सिन्थेटिक स्प्रीचुल्जिम आफ श्री रामकृष्ण थ्रो हिस्ट्री एण्ड फिलासफीकल परसपेक्टिव	1984	गोहाटी	एच. पी. दास
5.	ए स्टडी आफ एजूकेशनल थाटस आफ स्वामी विवेकानन्द	1985	रूहेलखण्ड	आर.पी. गुप्ता
6.	क्रटीकल स्टडी आफ एजूकेशनल फिलासफी एण्ड टीचिंग मेथड आफ स्वामी विवेकानन्द	1985	अवध	शिवशरन मिश्रा
7.	द रामकृष्ण मिशन एण्ड इटस इम्पेक्ट आन कन्टमपरेरी इण्डियन एजूकेशन	1986	लखनऊ	मीरा सन्याल
8.	ए कम्परेहेन्सिव इम्पेक्ट इन क्रटीकल एनालिसिस आफ	1987	पूना	एस.वी. अभ्यंकर

	स्वामी विवेकानन्द्स एजूकेशनल थाटस एण्ड इटस फिलासफीकल फाउन्डेसन विद स्पेशल फोकस आन वैल्यू इजूकेशन इन द कान्टेक्ट आफ न्यूकिलयर एण्ड स्पेस इन ग्लोबल वैल्यू क्राइसेस एण्ड द नीड फार वैल्यू एजूकेशन इन इण्डिया टुडे			
9.	स्वामी विवेकानन्द का शैक्षिक दर्शन व वैदिक शिक्षा का प्रभाव	2003	जबलपुर	खरे गजेश

अब्दुल कलाम आजाद (1888-1958 ई.)

क्र.सं.	शोध शीर्षक	वर्ष	वि.वि.	शोधकर्ता
1.	द एजूकेशनल आस्पेक्टस आफ द थाटस आफ मौलाना अब्दुल कलाम आजाद	1968	दिल्ली	एम. जी. रसेल

महर्षि अरविन्द (1872-1950 ई.)

क्र.सं.	शोध शीर्षक	वर्ष	वि.वि.	शोधकर्ता
1.	ए स्टडी आफ श्री अरविन्दाज फिलासफी आफ एजूकेशन	1978	एस. बी.	ए. एस. बाबू
2.	ह्यूमनिज्म इन द एजूकेशनल फिलासफी आफ श्री अरविन्दो	1983	मेरठ	आर. एस. शर्मा
3.	एजूकेशनल फिलासफी आफ श्री अरविन्दो	1984	मेरठ	एस. एस. चन्दर
4.	एजूकेशनल फिलासफी आफ श्री अरविन्दो एण्ड इटस एक्सपेरीमेन्टस इन उड़ीसा	1990	उत्कल	गयाधर दास

5.	वैल्यू एजूकेशन इन द लाइट आफ श्री अरविन्दाज फिलासफी विद स्पेशल रिफरेन्स होम साइंस एजूकेशन	1991	उस्मानिया	मनय शकुन्तला एन
6.	कम्परेटिव स्टडी आफ फिलासफीकल एण्ड एजूकेशनल व्यूज आफ महर्षि अरविन्दो एण्ड रूसो	1991	कुमांऊ	हरिशंकर
7.	ए कम्परेटिव स्टडी आफ द एजूकेशनल फिलासफीज आफ श्री अरविन्दो एण्ड महात्मा गांधी एण्ड देयर रिलवेंस टु मार्डन एजूकेशनल सिस्टम	1992	पंजाब	रवीन्द्र जीत कौर

सर्वपल्ली डा. राधाकृष्णन (1888-1975 ई.)

क्र.सं.	**शोध शीर्षक**	**वर्ष**	**वि.वि.**	**शोधकर्ता**
1.	एजूकेशनल फिलासफी आफ डा. राधाकृष्णन एण्ड इटसरेलीवेंस फार सोशल चेन्ज	1988	आगरा	भागवती
2.	ए कम्परेटिव स्टडी आफ द एजूकेशनल आइडियाज आफ सर्वपल्ली राधाकृष्णन एण्ड वर्टेड रसल	1989	इलाहाबाद	उमारानी शर्मा

पं. जवाहर लाल नेहरू (1889-1964 ई.)

क्र.सं.	शोध शीर्षक	वर्ष	वि.वि.	शोधकर्ता
1.	द एजूकेशनल थाटस आफ जवाहर लाल नेहरू	1980	गुजरात	ए. एन. अब्बासी
2.	द क्रिटिकल स्टडी आफ कान्ट्रीब्यूसन आफ पंडित जवाहर लाल नेहरू टुवर्ड्स थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस आफ एजूकेशन इन इण्डिया	1996	मराठवाड़ा (औरंगाबाद)	धांधे जयन्त राधाकृष्णन
3.	पं. जवाहर लाल नेहरू के शैक्षिक विचारों का एक भारतीय परिप्रेक्ष्य में औचित्य एक अध्ययन	2002	रूहेलखण्ड	रस्तोगी विनीता

आचार्य विनोबा भावे (1895-1982 ई.)

क्र.सं.	शोध शीर्षक	वर्ष	वि.वि.	शोधकर्ता
1.	ए स्टडी आफ द एजूकेशनल फिलासफी आफ विनोबा भावे	1973	एस. पी.	जे. एम. भट्ट
2.	ए स्टडी आफ एजूकेशनल थाटस आफ विनोबा	1974	पटना	एस. सिंह
3.	ए स्टडी आफ द फिलासफी आफ आचार्य विनोबा भावे एण्ड इटस इफेक्ट आन एजूकेशन इन द लाइट रिफरेन्स आफ द न्यू एजूकेशन पॉलिसी	1992	नागपुर	सी. भारोटे

4.	आचार्य विनोबा के शैक्षिक एवं सामाजिक विचारों का एक विवेचनात्मक अध्ययन	1994	कुमाऊं	दीक्षित आरती

जाकिर हुसैन (1897-1969 ई.)

क्र.सं.	शोध शीर्षक	वर्ष	वि.वि.	शोधकर्ता
1.	ए क्रिटिक आन एजूकेशनल थाटस आफ डा. जाकिर हुसैन	1985	मेरठ	के. आर. पी. सिंह

डा. बी. आर. अम्बेडकर

क्र.सं.	शोध शीर्षक	वर्ष	वि.वि.	शोधकर्ता
1.	ए स्टडी आफ एजूकेशनल थाट्स एण्ड वर्क आफ डा. बी. आर. अम्बेडकर	1997	कोल्हापुर	सदाशिवराज हंस

महात्मा गांधी के शैक्षिक विचार मूर्त रूप से बुनियादी शिक्षा पद्धति तथा समग्र नयी तालीम पर नौ अनुसंधानकर्ताओं द्वारा शोधकार्य किये गये है।

विद्वानों ने अनुसंधान प्रक्रिया पर बहुत सारी पुस्तकें लिखी है। अनुसंधान शब्द का प्रयोग ज्ञान की प्रत्येक शाखा के गहन अध्ययन के लिये होता है। अनुसंधान उस प्रक्रिया का द्योतक है। जिसमें अनेक तथ्यों का एकीकरण और अनेक आधारों पर व्यापक निष्कर्ष निकाला जाना संभव है। अनुसंधान को अंग्रेजी में रिसर्च (Research) कहा जाता है। यानी पुनः खोज करना और एक निष्कर्ष हासिल करना।

डब्लू. एस. मनरो के अनुसार

"अनुसंधान उन समस्याओं के अध्ययन की एक विधि है जिनका अपूर्ण अथवा पूर्ण समाधान तथ्यों के आधार पर ढूढ़ना है। अनुसंधान के लिये तथ्य, लोगों के मतों के कथन, ऐतिहासिक तथ्य, लेख अथवा अभिलेख परीक्षणों से प्राप्त फल प्रश्नावली के उत्तर अथवा प्रयोगों से प्राप्त सामग्री हो सकती है।"[1]

1. "अनुसंधान परिचय" लेखक डा. पारसनाथ राय, प्रकाशक लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, संस्करण 1985 पृ. 20

महात्मा गांधी अंग्रेजों द्वारा भारत में चलाई गई शिक्षा प्रणाली से असन्तुष्ट थे उनकी राय में शिक्षा की तत्कालीन पद्धति एक अत्यधिक अन्यायी सरकार के सम्पर्क रखने के अतिरिक्त कुछ नहीं थी। यह निम्न तीन विषयों में दोषपूर्ण थी –

1. यह देशी संस्कृति की पूर्ण अवहेलना करते हुये विदेशी संस्कृति पर आधारित है।
2. हृदय और हाथ की संस्कृति की अवहेलना करती है। पूरी तरह केवल मस्तिष्क में सीमित है।
3. वह एक विदेशी माध्यम के द्वारा दी जाती है।

गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन के समय में राष्ट्रीय शिक्षा की व्याख्या हेतु कई विद्यापीठों की स्थापना की। सर्वप्रथम 1920 में गुजरात विद्यापीठ की स्थापना करके नया प्रयोग प्रारम्भ किया जिसके प्रधानाचार्य किशोरीलाल घनश्याम मश्रुवाला नियुक्त किये गये, 1920 में ही काशी विद्यापीठ की स्थापना कराई गई। उसके प्रधानाचार्य डा. भगवानदास बनाये गये, उनके बाद आचार्य नरेन्द्र देव ने यह पद ग्रहण किया था। गांधी जी ने ही बिहार विद्यापीठ की स्थापना करके डा. राजेन्द्र प्रसाद को उसका प्रधानाचार्य बनाया। गांधी जी की सम्मति पर राष्ट्रीय शिक्षा के पक्षधर मुस्लिम विद्वानों द्वारा जामिया मिलिया की स्थापना पहले अलीगढ़ में की गई जिसको बाद में दिल्ली स्थानान्तरित कर दिया गया था। इसमें डा. जाकिर हुसैन पहले अर्थशास्त्र के अध्यापक नियुक्त हुये बाद में उसके प्रधानाचार्य बनाये गये। महात्मा गांधी ने 1937 में अपने बेसिक शिक्षा का प्रतिपादन करते हुये बर्धा समिति बनाई जिसके अध्यक्ष जामिया मिलिया के प्रधानाचार्य डा. जाकिर हुसैन बनाये गये थे। डा. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में ही अखिल–भारतीय शिक्षा परिषद की स्थापना 1939 में सेवाग्राम बर्धा में की गई थी। इसको बाद में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ नाम दिया गया था।

स्वतन्त्रता के बाद भारत में विश्वविद्यालीय शिक्षा के दोषों को दूर करने के लिये भारत सरकार ने 4 नवम्बर 1948 को प्रस्ताव पास करके विश्वविद्यालय आयोग

का गठन किया जिसके अध्यक्ष सर्वपल्ली डा. राधाकृष्णन बनाये गये थे। इसके अन्य सदस्यों में डा. जाकिर हुसैन व डा. लक्ष्मण स्वामी मुदालियर एवं मेद्यनाथ जैसे मान्य शिक्षाविद् थे।

भारत के संविधान के निर्माण हेतु संविधान सभा का गठन हुआ था जिसके अध्यक्ष डा. राजेन्द्र प्रसाद बनाये गये। संविधान में 14 वर्ष तक के बालक—बालिका को शिक्षा देने का प्रावधान रखा गया था एवं हिन्दी को राष्ट्रभाषा की मान्यता दी गई थी।

देश का अनन्य भक्त, महान विद्वान एवं शिक्षाविद् डा. राजेन्द्र प्रसाद को भारतीय गणतंत्र का प्रथम राष्ट्रपति चुना गया था। उनके बाद महान दार्शनिक एवं शिक्षाविद डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन को 1962 में द्वितीय राष्ट्रपति के रूप में चयनित किया गया। वर्ष 1967 में महान शिक्षाविद डा. जाकिर हुसैन ने देश के सर्वोच्च पद का तृतीय राष्ट्रपति के रूप में सुशोभित किया। इस पर प्रथम तीन राष्ट्रपतियों जो शिक्षाविद् भी रहे है के शैक्षिक विचारों का गहन अध्ययन करने की अभिलाषा जागृति हुई।

डा. एम. वी. बुच द्वारा सम्पादित सर्वे आफ रिसर्च इन एजूकेशन के अब तक प्रकाशित खण्डों के शिक्षा दर्शन सम्बन्धी भागों में उल्लिखित शोधकर्त्ताओं के शोध प्रबन्धों के शीर्षकों एवं तत्सम्बन्धी समालोचनाओं का अध्ययन किया, पाया कि –

1. डा. राजेन्द्र प्रसाद के शैक्षिक विचारों पर एक शोध प्रबन्ध 1992 में आगरा विश्वविद्यालय में डा. विजयनन्द द्वारा प्रस्तुत किया गया।
2. डा. राधाकृष्णन के शिक्षा दर्शन पर सामाजिक परिवर्तन की प्रासंगिकता पर एक शोध प्रबन्ध डा. भाग्यवती द्वारा वर्ष 1988 में आगरा विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया।
3. डा. राधाकृष्णन एवं वट्रेन्ड रसेल के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन विषय पर एक शोध प्रबन्ध वर्ष 1889 में श्री उमारानी शर्मा द्वारा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया।

४. डा. जाकिर हुसैन ने शैक्षिक विचारों पर 1985 में श्री के. आर. पी. सिंह द्वारा मेरठ विश्वविद्यालय में पी. एच. डी. हेतु शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया था।

डा. बुच द्वारा सम्पादित सर्वे आफ रिसर्च इन एजूकेशन के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि डा. एस. राधाकृष्णन एवं बट्रेन्ड रसेल के शैक्षिक विचारों के तुलनात्मक अध्ययन के अतिरिक्त डा. राधाकृष्णन का अन्य किसी शिक्षाविद् के विचारों से तुलना करते हुये कोई अध्ययन अभी तक सम्पन्न नहीं किया गया है।

दो–दो शिक्षाविदों के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन ११ शोध प्रबन्धों में किया गया है। जिनमें चार शोध कार्य में भारतीय शैक्षिक विचारकों के अन्य भारतीय शिक्षाविद् के विचारों से तुलना की गयी है तथा सात शोध कार्यों में भारतीय शिक्षाविद के विचारों की तुलना विदेश के शिक्षा शास्त्री के विचारों से की गई है। इनको क्रमशः 'क' वर्ग एवं 'ख' वर्ग में नीचे दिया गया है। इस गणना में एनीबेसेंट और श्री मां को, जिन्होंने पूरा जीवन भारतीय चिन्तन में व्यतीत किया है उन्हें भारतीय चिन्तक माना गया है।

वर्ग 'क'

क्र.सं.	शोधकर्ता	विषय	वर्ष	विश्वविद्यालय
1.	एन के वैद्य	ए एजूकेशनल फिलासफी आफ एनीवेसेन्ट एण्ड गांधी	1985	रांची विश्वविद्यालय (डी. लिट् हेतु)
2.	पी. धाम	एकम्परेटिव स्टडी आफ एजूकेशनल फिलासफीज आफ रवीन्द्र नाथ टैगोर एण्ड महर्षि अरविन्द	1990	रूहेलखण्ड वि. वि.
3.	रवीन्द्र जीत कौर	ए कम्परेटिव स्टडी आफ द एजूकेशनल फिलासफीज श्री अरविन्द एण्ड महात्मा गांधी एण्ड देयर रेलेवेस टु मार्डन एजूकेशनल सिस्टम	1992	पंजाब वि. वि.

4.	एस.एन. बाकवे	एजूकेशनल फिलासफी आफ लोकमान्य तिलक एण्ड स्वामी विवेकानन्द ए कम्परेटिव स्टडी	1983	सौराष्ट्र वि. वि.
5.	वर्मा गीता	ए कम्परेटिव स्टडी आफ द एजूकेशनल थाट्स आफ स्वामी विवेकानन्द एण्ड अरविन्दो घोष एण्ड देयर रेलीवेन्स इन द कन्टेस्ट आफ नेशनल पालसी आफ एजूकेशन 1986	2001	चण्डीगढ़
6.	वर्मा अनीता	ए कम्परेटिव स्टडी आफ एजूकेशनल फिलासफीज आफ स्वामी विवेकानन्द एण्ड श्री अरविन्दो घोष एण्ड इट्स रेलीवेन्स टू मार्डन इण्डियन एजूकेशन	1995	पटियाला
7.	रीमा	ए कम्परेटिव स्टडी आफ एजूकेशनल थाट्स स्वामी विवेकानन्द एण्ड महात्मा गाँधी	1993	कालीकट
8.	कौर गुरपीत	ए कम्परेटिव स्टडी आफ द आइडियाज केरीकुलम थाट्स एण्ड फिलासफी अरविन्दो एण्ड महात्मा गाँधी	2005	गढ़वाल

वर्ग 'ख'

क्र.सं.	शोधकर्ता	विषय	वर्ष	विश्वविद्यालय
1.	ललिथा	द एजूकेशनल फिलासफी आफ गांधी एण्ड डी. वी. ए स्टडी एण्ड कम्परीजन	1967	आंध्र वि. वि.
2.	एस. पी. सिंह	द एजूकेशनल डाक्ट्रिन्स आफ प्लेटो एण्ड अरविन्द	1983	अवध वि. वि.
3.	आर. सिन्हा	टैगोर्स एण्ड व्हाइटहेड्स आईडियाज आन एजूकेशन ए कम्परेटिव स्टडी	1987	कुरूक्षेत्र वि. वि.
4.	उमारानी शर्मा	ए कम्परेटिव स्टडी आफ एजूकेशनल आइडियाज आफ एस. राधाकृष्णन एण्ड वन्ट्रेड रसेल	1989	इलाहाबाद वि. वि.
5.	हरीशंकर	कम्परेटिव स्टडी आफ फिलासफीकल एण्ड एजूकेशनल व्यूज आफ अरविन्द एण्ड रूसो	1991	कुमांऊ वि. वि.
6.	विद्या सिंह	ए कम्परेटिव स्टडी आफ आईडियलिज्म टु एजूकेशन एज परसीब्ड वाई प्लेटो एण्ड श्री मां	1992	आगरा वि. वि.
7.	एस. मिनोचा	कम्परेटिव स्टडी आफ नेचुरलिज्म इन एजूकेशन एजकन्सेप्चुलाइज्ड वाई रूसो एण्ड टैगोर	1981	पंजाब वि. वि.

8.	दयाशंकर दुबे	शिक्षाशास्त्री के रूप में जान डेवी और महात्मा गांधी का तुलनात्मक अध्ययन तथा वर्तमान भारत में शिक्षा हेतु उनकी संगति	1991-92	बु. वि. झाँसी (अप्रकाशित)
9.	धर्मेन्द्र दुबे	शिक्षाशास्त्री के रूप में महामना पंडित मदन मोहन मालवीय एवं महात्मा गांधी जी का एक तुलनात्मक अध्ययन तथा वर्तमान लोकतन्त्रात्मक परिवेश में शिक्षा हेतु उनकी संगति	2000-01	बु. वि. झाँसी (अप्रकाशित)
10.	भारती डी विजया	ए कम्परेटिव स्टडी आफ द एजूकेशनल फिलासफीज आफ स्वामी विवेकानन्द एण्ड जान डी. वी.	1999	नागार्जुन

शैक्षिक अनुसंधान सम्बन्धी ग्रंथ डा. पारसनाथ राय द्वारा रचित "अनुसंधान परिचय" डा. आर. ए. शर्मा कृत "शिक्षा अनुसंधान" डा. आर. पी. भटनागर लिखित "शिक्षा अनुसंधान" एवं डा. के. पी. पांडे द्वारा लिखित "शैक्षिक अनुसंधान" का अध्ययन करके सम्बन्ध साहित्य के अध्ययन की उपयोगिता एवं उसके महत्व, पुस्तकालय के उपयोग की विधि तथा ऐतिहासिक शोध विधि का अध्ययन किया। डा. शर्मा और पाण्डेय के ग्रंथों में वर्णित एक नई शोध विधि (दार्शनिक विधि) की जानकारी प्राप्त की।

डा. राजेन्द्र प्रसाद के ग्रन्थ 'आत्म कथा', चम्पारन में 'महात्मा गांधी', 'गांधी जी की देन', गांधी मार्ग तथा साहित्य शिक्षा और संस्कृति आदि ग्रन्थों का अध्ययन

किया। आत्मकथा के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि श्री राजेन्द्र प्रसाद 1908 में भूमिहार कालेज मुजफ्फरनगर (बिहार) में अध्यापक नियुक्त हुये थे तथा जनवरी 1909 में उसी कालेज में प्रिसिंपल बनाये गये थे। 1909 में ही सिटी कालेज कलकत्ता में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हुये। वर्ष 1914 में कलकत्ता कालेज में प्रोफेसर का पदभार संभाला। यहाँ उन्होंने दो वर्षों तक अध्यापन कार्य किया। महात्मा गाँधी द्वारा असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किये जाने पर राजेन्द्र प्रसाद ने वकालत छोड़कर राष्ट्रीय महाविद्यालय पटना में प्रिंसिपल का पद संभाला। 1921 में बिहार विद्यापीठ की स्थापना होने पर उसके प्रधान–आचार्य के रूप में संस्था का संचालन 1927 तक किया। आत्मकथा के "बिहार की तीन महत्वपूर्ण कमेटियां" नामक अध्याय में लिखा है कि बिहार सरकार ने तीन कमेटियां गठित की थी। उनमें से शिक्षा सम्बन्धी कमेटी के अध्यक्ष डा. राजेन्द्र प्रसाद बनाये गये थे। इस कमेटी ने जो रिपोर्ट दी थी उसमें शिक्षा के तीन क्षेत्रों 1. प्राथमिक शिक्षा 2. स्कूली शिक्षा 3. उच्च शिक्षा के बारे में संस्तुति की गई थी। उससे प्रकट है कि श्री राजेन्द्र प्रसाद द्वारा अध्यापन कार्य छोड़ने के बाद भी उनकी रूचि शिक्षा के प्रसार एवं उसकी उन्नति हेतु रचनात्मक विचार देने में बराबर बनी रही थी। इसकी पुष्टि डा. राजेन्द्र प्रसाद की पुस्तक 'साहित्य शिक्षा और संस्कृति" की भूमिका (दो शब्द) में अंकित निम्नांकित शब्दावली से होती है।

"सार्वजनिक जीवन में प्रवेश पाने के पूर्व से ही 'शिक्षा शास्त्र' में मेरी काफी रूचि रही है और मैं इन सवालों पर बड़े जोर से विचार करता आया हूँ।"

सेठ गोविन्द दास की पुस्तक 'महापुरुषों की जीवन झाकियां" से महात्मा गांधी, राजेन्द्र प्रसाद एवं डा. राधाकृष्णन के जीवन चरित्र तथा व्यक्तित्व की जानकारी पाप्त होती है। सेठ गोविन्द दास की पुस्तक 'देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद' तथा 'युग पुरुष नेहरू' से भारत के प्रथम राष्ट्रपति एवं प्रथम प्रधानमंत्री के जीवन की रोचक एवं ज्ञानवर्धक सामग्री प्राप्त होती है।

डा. सत्येन्द्र पारीक के ग्रन्थ "हमारे राष्ट्रपति" से डा. राजेन्द्र प्रसाद डा.

राधाकृष्णन एवं डा. जाकिर हुसैन के जीवन चरित्र एवं कार्यों के अतिरिक्त उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की जानकारी मिली। डा. आत्मा नन्द सिंह द्वारा सम्पादित 'भारतीय शिक्षा के प्रवर्तक' ग्रन्थ से महात्मा गांधी, रवीन्द्र नाथ टैगोर और महर्षि अरविन्द एवं डा. जाकिर हुसैन के शिक्षा–प्रवर्तक–स्वरूप का ज्ञान मिला। डा. राधाकृष्णन एवं जाकिर हुसैन के सम्बन्ध में विशेष विवरण डा. बैद्यनाथ प्रसाद वर्मा के वृहत ग्रंथ "विश्व के महान शिक्षा शास्त्री' से प्राप्त हुआ। डा. एस. राधाकृष्णन के बारे में जानकारी श्री वर्मा के उक्त ग्रंथ के अतिरिक्त डा. रामनाथ शर्मा द्वारा लिखित 'समकालीन भारतीय शिक्षा दार्शनिक' एवं डा. एस. पी. चौबे द्वारा रचित "भारतीय शिक्षा दार्शनिक" और डा. रामशकल पाण्डेय द्वारा लिखित "विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री" से मिली।

सन्मार्ग प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित डा. एस. राधाकृष्णन द्वारा रचित 'स्वतन्त्रता और संस्कृति' उनके १६ प्रवचनों का संग्रह है उसमें शिक्षा सम्बन्धी विचार संकलित है। के. सी. मलैया की पुस्तक "भारतीय शिक्षा आयोग और समितियां" में डा. जाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट तथा विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (राधाकृष्णन शिक्षा आयोग 1948-49) का विवरण मिलता है। डा. जाकिर हुसैन का प्रमाणिक जीवन चरित्र उनकी पुत्री सईदा खुर्शीद द्वारा लिखित "जाकिर हुसैन की कहानी उनकी पुत्री की जुवानी" से मिला इसके अतिरिक्त डा. ताराचन्द्र द्वारा सम्पादित ग्रंथ "जाकिर हुसैन व्यक्तित्व और विचार" एक प्रमाणिक ग्रन्थ है।

प्रस्तुत शोध की तुलना एवं विवेचना

उपयुक्त शोध में ऐतिहासिक तथा दार्शनिक दोनों ही विधियों को उपयोग में लाया गया है। उद्देश्य तथा परिकल्पना के आधार पर ऐतिहासिक विधि ही उपयुक्त विधि है। जिसके आधार पर शोध कार्य पूरा किया जा सकता है। प्रथम तीन राष्ट्रपतियों के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करते समय दार्शनिक विधि को ही उपयोग में लेना पड़ा है। अतः इस शोध के शोध उद्देश्य तथा शोध विधि इसके पूर्व में सम्पादित किये शोध कार्यों के अनुरूप है। तीनों प्रथम राष्ट्रपतियों के दार्शनिक शैक्षिक तथा सामाजिक
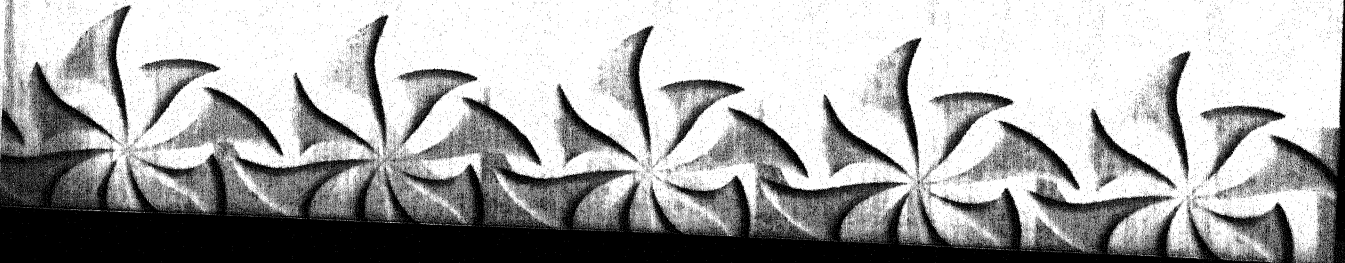
विचारों का अध्ययन करते समय जो तुलनात्मक दृष्टिकोण के पैरामीटर अपनाये गये है। वो अन्य सम्पादित शोधों से भिन्न है। अतः इस शोध में जो निष्कर्ष प्राप्त होंगे उनमें भिन्नता भी आ जायेगी लेकिन वर्तमान राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था के सुधार में जो सुधार प्रस्तुत किये जायेंगे उनमें समानता पाई जा सकती है।

तृतीय अध्याय

शोध विधि एवं प्रदत्तों का संकलन

तृतीय अध्याय

शोध विधि एवं प्रदत्तों का संकलन

शैक्षिक अनुसंधान का अर्थ

अनुसंधान को हंसराज कपिल द्वारा लिखित एवं हरप्रसाद भार्गव आगरा द्वारा प्रकाशित अनुसंधान विधियों में इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि अनुसंधान "एक ऐसा व्यवस्थित तथा नियंत्रित अध्ययन है, जिसके अन्तर्गत सम्बन्धित चरों व घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का अन्वेषण तथा विश्लेषण उपयुक्त सांख्यिकीय विधि तथा वैज्ञानिक विधि द्वारा किया जाता है, तथा प्राप्त परिणामों से वैज्ञानिक निष्कर्षों, नियमों तथा सिद्धान्तों की रचना, खोज व पुष्टि की जाती है।"[(1)]

Research अनुसंधान का उदगम एक ऐसे शब्द से हुआ जिसका अर्थ सब दिशाओं में जाना अथवा खोज करना होता है। वैसे भी रिसर्च शब्द स्वयं ही दो शब्दों 'रि' तथा 'सर्च' से मिलकर बना है जिसका तात्पर्य 'खोज की पुनरावृत्ति' होता है अथवा एक अन्वेषण होता है। अज्ञात विषयों तथा घटनाओं के प्रति अन्वेषण करना है।

अनुसंधान के प्रक्रम में समस्या के कथन के तुरन्त पश्चात शीघ्र उद्देश्यों का निश्चयन किया जाता है तत्पश्चात् उद्देश्यों को दृष्टिगत करते हुए एक उपयुक्त परिकल्पना की रचना की आवश्यकता होती है। परिकल्पना के अभाव में वैज्ञानिक अध्ययन प्रायः सम्भव नहीं है। समस्या के व्यापक क्षेत्र को घटाना तथा न्यून करना अत्यन्त आवश्यक होता है जिससे अध्ययन का स्वरूप स्पष्ट, सूक्ष्म तथा गहन हो सके।

जान डी. वी. द्वारा वर्णित विमर्शी चिन्तन निहित सोपानों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अनुसंधान' तथा 'वैज्ञानिक विधि' दोनो ही पद समानार्थी है। समस्याओं का समाधान ढूढ़ने अथवा नवीन ज्ञान के सृजन हेतु आधुनिक प्रणाली की विशेषता यह है कि उसमें आगमन एवं निगमन दोनों ही विधियों का सामंजस्य किया जाता है तथा इसके समत्वित रूप में अनुप्रयोग को ही वैज्ञानिक विधि की संज्ञा दी

1. "अनुसंधान विधियां" लेखक हंसराज कपिल, प्रकाशक हरप्रसाद भार्गव आगरा, 1980 पृ. 1

जाती है जिसे दूसरे शब्दों में अनुसंधान या शोध की विधि भी कहा जाता है।

डॉ. के. पी. पाण्डेय द्वारा लिखित 'शैक्षिक अनुसंधान' के आमुख में कहा गया है कि "शैक्षिक परिस्थितियों की रहस्याव्यक्ता का उद्‌घाटन प्रत्येक प्रबुद्ध शिक्षा शास्त्री की संकल्पना का केन्द्रवर्ती बिन्दु होता है। इधर के दशकों में वैज्ञानिक ज्ञान एवं सम्प्रेषण की टेक्नोलाजी के विस्तार के साथ इस ओर विशेष आकर्षण बढ़ा है। इसी परिप्रेक्ष्य में शैक्षिक अनुसंधान की महत्ता एवं उपयोगिता का आंकलन करना अधिक समाचीन प्रतीत होता है। हमारी शिक्षा व्यवस्थाओं का जाल जिस द्रुत गति से बढ़ा है उनकी उपादेयता एवं प्रभाविता के सम्बन्ध में चिन्ता भी मुखिर हुई है। इस पहलू के गवेषनात्यक् अध्ययन के लिये ही शैक्षिक अनुसंधान की जरूरत पड़ती है।"

"शैक्षिक अनुसंधान के तहत महत्वपूर्ण शैक्षिक प्रश्नों (मुद्दों) का व्यवस्थित एवं वस्तुनिष्ठ ढंग से उत्तर प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य होता है। यह निर्विवाद है कि जिन मुद्दों का शैक्षिक प्रसंगों में अध्ययन किया जाता है प्रायः जटिल एवं चुनौतीपूर्ण होते है जिससे उनका हल कई विधियों से अन्वेषित अनुसंधान सन्दर्भों में पूर्व नियत उत्तरों को भी पुनः पारीक्षित एवं मूल्यांकित करना पड़ता है क्योंकि परिवर्तित सामाजिक एवं शैक्षिक सन्दर्भों में यथार्थ का स्वरूप भी बदलता हुआ मिलता है। इस प्रकार चाहे नवीन शैक्षिक ज्ञान की सम्प्राप्ति हमारा लक्ष्य हो अथवा पूर्ण अन्वेषित तथ्यों एवं सत्यों का पुनः सत्यापन या परीक्षण शैक्षिक तथ्यों के स्वरूप को वर्तमान प्राविधिक क्रांति को दृष्टिगत रखकर अत्यंत सजग एवं कल्पनाशील परिप्रेक्ष्य में गठित करना परमावश्यक है।'''[1]

साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि शैक्षिक अनुसंधान शैक्षिक समस्याओं अथवा शैक्षिक चिन्तनों के अध्ययन हेतु वैज्ञानिक विधि का प्रयोग है। जिन घटनाओं के प्रति शिक्षाशास्त्री, शिक्षाविद् शिक्षक या शिक्षा में रूचि रखने वाला व्यक्ति आकर्षित होता है, उनसे सम्बन्धित सुगठित ज्ञान को या वैज्ञानिक ज्ञान भण्डार में वृद्धि लाने के लिए शैक्षिक अनुसंधान का विशेष आग्रह होता है।

1. 'शैक्षिक अनुसंधान' लेखक डा. के. पी. पाण्डेय, प्रकाशक विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 1998 आमुख

शैक्षिक अनुसंधान के अन्तर्गत शिक्षा के औपचारिक, निरौपचारिक अथवा प्रासंगिक सन्दर्भों में पाई जाने वाली समस्याओं एवं चरों के बारे में जानकारी बढ़ाने के लिए प्रायः तीन प्रकार्य अपेक्षित है। विवरण व्याख्या एवं भावीकथन पूर्वोक्त शैक्षिक सन्दर्भों में अर्थपूर्ण प्रश्नों की पहिचान करना एवं व्यवस्थित, वस्तुनिष्ठ एवं सोद्देश्यपूर्ण ढंग से उनके उत्तर के लिए प्रयास करना शैक्षिक अनुसंधान का मुख्य मुद्दा है। ये अर्थ पूर्ण प्रश्न शैक्षिक प्रक्रियाओं, शैक्षिक स्वरूपों औपचारिक, निरौपचारिक एवं प्रासंगिक (संगठनों, विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों आदि) तथा शिक्षा से सम्बन्धित महत्वपूर्ण एवं क्रांतिकारी चिन्तनों एवं अनुचिन्तनों के अध्ययन से सम्बद्ध हो सकते है। अतः शैक्षिक अनुसंधान की परिधि या इसके अध्ययन क्षेत्र की विशदता, गम्भीरता एवं व्यापकता का एहसास करते हुए हमें यह ध्यान रखना होगा कि इसके तहत उन्ही विषयों का अध्ययन महत्वपूर्ण माना जाएगा जिनको शिक्षाविदों, शिक्षकों एवं सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि में औचित्य प्रदर्शित किया जा सके।

विधियां

अनुसंधान की विधियों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। सामान्यतः विधियों का ऐतिहासिक विधि, वर्णनात्मक विधि तथा प्रयोगात्मक विधि नामों से जानते हैं। इन्हें हम न कहकर अनुसंधान के प्रकार कहें तो अधिक उचित होगा। यदि समस्या ऐतिहासिक है तो हम ऐतिहासिक अनुसंधान कहेंगे। यदि समस्या की प्रकृति वर्णनात्मक है तो उसे वर्णनात्मक अनुसंधान कहेंगे और यदि प्रयोगात्मक है तो उसे प्रयोगात्मक अनुसंधान कहेंगे।

ऐतिहासिक अनुसंधान

ऐतिहासिक अनुसंधान के लिए पूर्व इतिहास और ऐतिहासिक ज्ञान की जानकारी करना आवश्यक है। मानव की उपलब्धियां का पूर्ण, सही और अर्थपूण अभिलेख इतिहास होता है। एक विशेष समय पर घटित मानव–जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का एक सत्य, सुनियोजित एवं परीक्षित अभिलेख इतिहास होता है। इस

इतिहास का प्रयोग भूतकाल की पृष्ठभूमि में वर्तमान को समझने एवं भविष्य के लिए पूर्व कथन करने के लिए किया जाता है जिससे भविष्य के सम्बन्ध में एक उचित निर्णय करने में सरलता हो सके।

(१) जान डब्लू वेस्ट के अनुसार

"ऐतिहासिक अनुसंधान का सम्बन्ध ऐतिहासिक समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण बन से है। इसके विभिन्न पद भूत के सम्बन्ध में एक नई सूझ पैदा करते हैं जिसका सम्बन्ध वर्तमान और भविष्य से होता है।"(1)

ऐतिहासिक अनुसंधान का मुख्य उद्देश्य भूत के आधार पर वर्तमान को समझना एवं भविष्य के लिए सतर्क होना है। सूक्ष्म में ऐतिहासिक अनुसंधान का मूल उद्देश्य ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इन समस्याओं का मूल्यांकन करना है।

ऐतिहासिक अनुसंधान शिक्षा तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में स्थित वर्तमान क्रियाओं और प्रवृत्तियों के आधार का सम्यक् विवेचन करता है। इससे किसी उलझी समस्या का हल ढूढने में सहायता मिलती है। इस प्रकार ऐतिहासिक अनुसंधान वर्तमान शैक्षिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं का हल ढूढ़ने में सहायक होता है।

एफ. एल. ह्विटनी के अनुसार

"ऐतिहासिक अनुसंधान भूत का विश्लेषण करता है। इसका उद्देश्य भूतकालीन घटनाक्रम, तथ्य और अभिवृत्तियों के आधार पर ऐसी सामाजिक समस्याओं का चिन्तन एवं विश्लेषण करना है जिनका समाधान नहीं मिल सका है। यह मानव–विचारों और क्रियाओं के विकास की दिशा की खोज करता है, जिसके द्वारा सामाजिक क्रियाओं के लिए आधार प्राप्त हो सके।"(2)

ऐतिहासिक अनुसंधान का प्रमुख उद्देश्य शिक्षा, मनोविज्ञान अथवा अन्य सामाजिक विज्ञानों में चिन्तन को नई दिशा देने एवं नीति–निर्धारण में सहायता करना

---

1. *"रिचर्स इन एजूकेशन" लेखक जान डब्ल्यू. वेस्ट, पृ. 86*
2. *"द एलीमेन्ट ऑफ रिसर्च" लेखक एफ. एल. ह्विटनी, पृ. 192*

है। ऐतिहासिक अनुसंधान शिक्षा तथा मनोविज्ञान क्षेत्र में स्थित वर्तमान क्रियाओं और प्रवृत्तिओं के आधार का सम्यक् विवेचन करता है। अतः ऐतिहासिक अनुसंधान वर्तमान शैक्षिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्यओं का हल ढूढ़ते में सहायक होता है।

(१) लोकेश कौल के अनुसार

"यह शोध की वह विधि है जिसमें ऐतिहासिक महत्व के तथ्यों तथा दत्तों को ढूंढ–ढूंढ़ कर एकत्र किया जाता है और वर्गीकरण करके उनकी व्याख्या तथा आलोचना की जाती है। अन्ततः उसके आधार पर कुछ मान्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इस प्रकार इसमें अतीत की घटनाओं का किसी विशिष्ट दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाता है और संग्रहीत सामग्री की विश्लेषणात्मक व्याख्या की जाती है।"[1]

(२) शिक्षा-परिभाषा-कोष में ऐतिहासिक अनुसंधान की परिभाषा दी जा गई है

"ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्यों का अन्वेषण करने, उनका अभिलेख रखने तथा उनकी व्याख्या करने की वह प्रक्रिया जिसमें सम्बन्धित आधार सामग्री को एकत्रित करने के उपरान्त उसकी व्याख्या की जाती है ऐतिहासिक शोध विधि कहलाती है।"[2]

अध्ययन–सामग्री तथा अध्ययन में नियत्रंण की कठोरता तथा परिशुद्धता के आधार पर अनुसंधान निम्न प्रकार से वर्गीकृत किये जा सकते है :–

१. ऐतिहासिक अनुसंधान
२. सर्वेक्षण अनुसंधान
३. पद्धतिपरक अनुसंधान
४. घटना स्थल अनुसंधान

---

1. "मेथाडोलाजी आफ एजूकेशनल रिसर्च" लेखक लोकेश कोल, पृ. 178
2. "शिक्षा परिभाषा कोष" प्रकाशक केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, भारत सरकार शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय, नई दिल्ली, पृ. 59

५. घटनोत्तर अनुसंधान

६. क्षेत्र प्रयोग

७. प्रायोगिक अनुसंधान

ऐतिहासिक अनुसंधान

समाज का इतिहास उसकी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार होता है। समाज की वर्तमान संस्थाओं, समस्याओं व विचार धाराओं के विशिष्ट स्वरूप को ज्ञात करने के लिए ऐतिहासिक अनुसंधान की आवश्यकता होती है।

१. करलिंगर के अनुसार "ऐतिहासिक अनुसंधान अतीत की घटनाओं, विकास क्रमों तथा अनुभवों का यह सूक्ष्मात्मक अन्वेषण होता है जिसमें अतीत से सम्बन्धित सूचनाओं के साधनों तथा प्राप्त सन्तुलित विवेचना की वैधता का सावधानपूर्ण परीक्षण सम्मलित रहता है।[1]

सर्वेक्षण अनुसंधान

शैक्षिक क्षेत्र में सर्वेक्षण विवरणात्मक अनुसंधान का अध्ययन एवं अभिन्न तथा महत्वपूर्ण अंग है :–

१. वेस्ट के अनुसार "विवरणात्मक अनुसंधान वर्तमान स्थिति की व्याख्या तथा विवेचना प्रस्तुत करता है। इसका सम्बन्ध उन स्थितियों तथा सम्बन्धों से है जिनका अस्तित्व वर्तमान में है अथवा उन त्योहारों से है, जो कि प्रचलित है व उन दृष्टि कोणों अथवा अभिवृत्तियों से है जिनका प्रचलन है व ऐसे प्रक्रमों से है जो कि सक्रिय है तथा उन प्रभावों से है जिन्हें अनुभव किया जा रहा है अथवा उन उपनीतियों से है जो कि विकासशील है।'''[2]

Webster's New Collegiate Dictionary (1949) Page 855

शब्दकोष के अनुसार सर्वे का मूल अर्थ ऊपर से देखना, अवलोकन अथवा

1. "फाउण्डेशन आफ विमेरियल रिचर्स" लेखक करलिंगर एफ. एन. 1964, पृ. 698
2. "रिसर्च इन एजूकेशन' लेखक वेस्ट जे. डब्ल्यू. 1963, पृ. 102

अन्वेषण होता है।

१. करलिंगर के शब्दों में "सर्वेक्षण अनुसंधान सामाजिक, वैज्ञानिक अन्वेषण की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत व्यापक तथा कम आकार वाली जनसंख्याओ का अध्ययन उनमें से चयन किये गये प्रतिदर्शों के आधार पर इस आशय से किया जाता है ताकि उनमें व्याप्त सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक चरों के घटनाक्रमों, विवरणों तथा पारस्परिक अन्तर साधकों का ज्ञान उपलब्ध हो सके।"[1]

पद्धतिपरक अनुसंधान

सामाजिक विज्ञानों में होने वाले अधिकतर अनुसंधानों में प्रायोगिक पद्धति की अनुप्रयुक्ति प्रायः अधिक उपयुक्त नहीं रहती और विषय सामग्री के विशेष रूप को ध्यान में रखते हुये एक विशेष अध्ययन विधि को रचित तथा विकसित करना पड़ता है। उस स्थित में अध्ययन–विधि को तकनीकी भाषायें पद्धति कहते है।

घटनोत्तर अनुसंधान

घटनोत्तर अनुसंधान में अनुसंधान कर्ता स्वतन्त्र चर को स्वयं नियत्रिंत नहीं करता है बल्कि आश्रित चर के आधार पर उसकी खोज करता है।

१. करलिंगर के अनुसार

एक्स पोस्ट फैक्टो अनुसंधान को एक ऐसी अनुसंधान की परिभाषा दी जा सकती है जिससे स्वतन्त्र चर या एक से अधिक स्वतन्त्र चर पहले ही घटित हो चुके होते है। और अनुसंधान कर्ता प्रेक्षण का कार्य एक परतन्त्र चर अथवा परतन्त्र चरों से प्रारम्भ करता है। इसके पश्चात ही वह स्वतन्त्र चरों के एक परन्तत्र चर अथवा एक से अधिक परतन्त्र चरों पर पड़ने वाले सम्भाव्य सम्बन्धों व प्रभावों का अध्ययन प्रतिगामी रूप से करता है।"[2]

उपरोक्त से स्पष्ट है कि एक्स फैक्टो अनुसंधान में अनुसंधानकर्ता परतन्त्र

---

1. "फाउण्डेशन आफ विमेरियल रिचर्स" लेखक करलिंगर एफ. एन. (हाल्ट) 1964, पृ. 313
2. "फाउण्डेशन आफ विमेरियल रिचर्स" लेखक करलिंगर एफ. एन. (हाल्ट), पृ. 360

चर का स्वयं नियंत्रितकर्ता है बल्कि आश्रित चर के आधार पर उसकी खोजकर्ता है।

क्षेत्र अनुसंधान

सामाज वैज्ञानिकों ने अनेक क्षेत्रों में सामाजिक संरचनाओं, संस्थाओं, समुदाओं, संगठनों व संस्थाओं के अध्ययन तथा उनके व्यक्तियों व समूहों के पारस्परिक व सामाजिक सम्बन्धों व अन्तर सम्बन्धों को जानने व समझने में क्षेत्र अनुसंधान विधि का उपयोग किया है।

१. करलिंगर के अनुसार "क्षेत्र अध्ययन ऐसे घटनोत्तर (एक्स पोस्ट फैक्टो) वैज्ञानिक अन्वेषण है जिनका उद्देश्य वास्तविक, सामाजिक संरचनाओं में समाज शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक व शिक्षण शास्त्रीय चरों के सम्बन्धों व अन्त क्रियाओं की खोज करना होता है .... एक अध्ययन कर्ता क्षेत्र अध्ययन के अन्तर्गत एक सामाजिक अथवा संस्थागत स्थिति का पहले अवलोकन करता है और फिर उसके अन्तर्गत सम्बन्धित व्यक्तियों व समूहों की अभिवृत्तियां, मूल्यों, प्रत्यक्षणों और व्यवहारों के सम्बन्धों का अध्ययन करता है।"(1)

क्षेत्र प्रयोग

क्षेत्र प्रयोग एक ऐसा प्रयोगिक अभिकल्प होता है जिसका संचालन सम्बन्धित सामाजिक व स्वाभाविक परिवेश में किया जाता है और जिसके आधार पर ऐसे सैद्धान्तिक तथ्यों तथा वैध नियमों की खोज की जाती है कि जिनकी वैज्ञानिक आधार पर वास्तविक, सामाजिक स्थितियों में अनुप्रयुक्ति की जा सकती है। क्षेत्र प्रयोग का उद्देश्य सैद्धान्तिक नियमों की रचना भी है तथा तत्कालिक व्यवहारिक समस्याओं का समाधान भी।

करलिंगर के अनुसार क्षेत्र प्रयोग तथा प्रयोगशाला आधारित प्रयोग में कोई तीव्र विरोध नही है। उनके अन्तर अधिकतर अंशो के ही होते है। कभी–कभी तो एक अध्ययन के सम्बन्ध में यह कहना ही कठिन हो जाता है कि यह प्रयोगशाला आधारित

---

1. "फाउण्डेशन आफ विमेरियल रिचर्स" लेखक करलिंगर एफ. एन. (हाल्ट), पृ. 360

प्रयोग है या क्षेत्र प्रयोग है।

प्रायोगिक अनुसंधान

भौतिक विज्ञानों की प्रगति व उन्नति का एक मुख्य कारण इन विज्ञानों में प्रायोगिक पद्धति भी व्यापक अनुप्रयुक्ति है। यही कारण है कि सामाजिक विज्ञानों में भी विशेषता मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रायोगिक अनुसंधान पर विशेष बल रहता है और समाज विज्ञान व शिक्षा के क्षेत्रों में भी इसके अधिक उपयोग की आवश्यकता निरन्तर महसूस की जा रही है। लेकिन सामाजिक विज्ञानों में होने वाले प्रयोग भौतिक विज्ञानों में होने वाले प्रयोग से बहुत भिन्न होता है।

शोध कार्य में प्रयुक्त शोध विधि

प्रयुक्त शोध कार्य प्रथम तीन राष्ट्रपतियों के शैक्षिक विचारों पर किया गया है। यह तीनों महापुरूष दिवंगत हो गए है उनका कार्य एवं रचनायें इतिहास का अंग बन चुकी है। इसीलिये ऐतिहासिक विधि का प्रयोग किया गया है। इनके विचार लेखन एवं कार्य दार्शनिक थे इसीलिये उनके कार्यो का मूल्यांकन दार्शनिक दृष्टि से किया गया है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन एवं डॉ. जाकिर हुसैन के विचारों एवं लेखन के सम्बन्ध में दार्शनिक विधि का प्रयोग ऐतिहासिक विधि के साथ किया गया है क्योंकि दोनों एक दूसरे से अभिन्न है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन महान दार्शनिक थे उन्होंने भारतीय संस्कृति–महान वैदिक शास्त्र की महत्ता का पतिस्थापन अपने विचारों से किया और देश के प्रगति का मार्ग धर्मावलम्बन को बताया है। इसी प्रकार डॉ. राजेन्द्र प्रसाद व डॉ. जाकिर हुसैन भी मुख्य रूप से गांधी दर्शन से प्रभावित रहे है। गांधी जी ने विलुप्त होती भारतीय संस्कृति ऐतिहासिक गौरव को अपने नये शिक्षा विचारों से पुर्नजीवित करने का प्रयास किया है।

प्रयुक्त शोध-विधि के चरण

ऐतिहासिक अनुसंधान में समाज की वर्तमान संस्थाओं, समस्याओं व विचार धाराओं के विशिष्ट स्वरूपों को प्राप्त करने के लिए उसके ऐतिहासिक अनुसंधान की

आवश्यकता होती है।

१. जॉन वेस्ट के अनुसार "ऐतिहासिक अनुसंधान ऐतिहासिक समस्याओं के अन्वेषण में वैज्ञानिक पद्धति की अनुप्रयुक्ति होता है।"[1]

शिक्षा जगत में ऐतिहासिक अनुसंधान के अध्ययन से अतीत की शिक्षा सम्बन्धी दार्शनिक विचार धाराओं, पद्धतियों तथा आदर्शों की जानकारी उपलब्ध होती है तथा उनके संदर्भ में वर्तमान समय में शिक्षा जगत की समस्या तथा व्यवस्था का संदर्भ मिलता है।

ऐतिहासिक विधि के निम्न चरण होते है :–

1. समस्या का चयन और कथन
2. दत्त संग्रह
   (क) प्राथमिक स्रोत
   (ख) मौलिक स्रोत
3. दत्तों का विश्लेषण एवं समीक्षा
   (क) वाहय आलोचना
   (ख) आंतरिक समालोचना
4. निष्कर्षो का निरूपण करना
5. प्रतिवेदन

प्राथमिक स्रोत वह स्रोत है जिनसे सीधी जानकारी प्राप्त होती है इनका सम्बन्ध मूल व मौलिक सम्बन्धों से होता है जिनके अन्तर्गत किसी एक विशिष्ट ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित ठोस प्रभाव प्रमुख तथा प्रत्यक्ष सामग्री के रूप में सम्मिलित रहते है।

---

1. "रिचर्स इन एजूकेशन" लेखक वेस्ट जे. डब्ल्यू. (पेरेन्टिक हाल) 1963, पृ. 86

1. करलिंगर के अनुसार

"प्राथमिक स्रोत एक ऐतिहासिक प्रदत्त का मूल भण्डार होता है। वह किसी महत्वपूर्ण अवसर का मौलिक अभिलेख होता है या एक प्रत्यक्षदर्शी द्वारा एक घटना का विवरण होता है या फिर एक छाया चित्र अथवा किसी संगठन की बैठक का विस्तृत विवरण होता है।"[1]

गौण श्रोत में यदि किसी ऐतिहासिक प्रत्यक्ष प्रभाव के बजाय इस घटना का किसी व्यक्ति द्वारा किया गया वर्णन हमें प्राप्त होता है वह गौण श्रोत कहा जायेगा। इसमें मौलिक प्रभाव का अभाव रहता है, क्योंकि वह किसी व्यक्ति द्वारा लिखित सूचना होती है। इस कारण से प्रत्यक्ष घटना व हमारे बीच की दूरी जितनी अधिक होगी भिन्न–भिन्न लेखकों के किसी एक घटना व तथ्य सम्बन्धी तथ्यों के प्रति उनके विभिन्न दृष्टिकोण होने के कारण वर्णन तथा व्याख्यान मूल घटना में उतनी ही भिन्न होगी।

करलिंगर के अनुसार

"गौण श्रोत एक वास्तविक इतिहास से एक या अधिक पद दूर ले जाने वाला एक ऐतिहासिक घटना या परिस्थिति का लेखा–जोखा या अभिलेख है।

1. वेस्ट के अनुसार "गौण श्रोत एक व्यक्ति द्वारा दिये गये ऐसे प्रतिवेदन होते है जो कि एक प्रत्यक्ष साक्षी अथवा किसी एक घटना में सम्भावित व्यक्ति के प्रभाव का विवरण प्रस्तुत करते है। गौण श्रोत का लेखक स्वयं एक घटना स्थल का अवलोकन करता नही होता है, वह केवल उस व्यक्ति का कथन अथवा लेख प्रतिवेदन के रूप में प्रस्तुत करता है जो कि घटना स्थल पर उस समय उपस्थित था।"[2]

---

1. "अनुसंधान विधियां" लेखक डा. एच. के. कपिल, हरप्रसाद भार्गव आगरा 1981, पृ. 176
2. "अनुसंधान विधियां" लेखक डा. एच. के. कपिल, हरप्रसाद भार्गव आगरा 1981, पृ. 176

आलोचना

ऐतिहासिक अनुसंधान में जिन तत्वों का अध्ययन किया जाता है अतीत में घटित होने के कारण उनकी पुनरावृत्ति सम्भव नही होती। ऐसे अनुसंधान में विशेष सामग्री के प्रति अनुसंधानकर्ता को बहुत सावधान रहना होता है।

1. बाह्य आलोचना

अनुसंधान कर्ता को उपयोग में लाये जाने वाले श्रोतों की सत्यता तथा वैधता को स्थापित करना होता है। वाहय आलोचना का विवरण करने के लिए अनुसंधान कर्ता को चाहिए कि वह सम्बन्धित तथ्यों की आयु, भाषा, स्याही, कागज, वस्त्र, लेख–लिखावट कआदि की जाँच इनके विशेषज्ञों द्वारा सम्भव कराये और उनकी सत्यता स्थापित होने पर ही अनुसंधान में उपयोग करें।

प्रस्तुत शोध कार्य में प्राथमिक व गौण श्रोत से सम्बन्धित ग्रन्थ व लेख प्रयुक्त किये गये है, वे डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन एवं डॉ. जाकिर हुसैन के जीवनकाल में उनके द्वारा लिखित है और उन्ही के जीवनकाल में अधिकांशतः प्रकाशित हुई है।

आंतरिक समालोचना

इस प्रक्रिया में विषय सामग्री की समालोचना कर यह पता लगाते है कि यह कितना सही है ऐसा हो सकता है की सम्बन्धित सामग्री का श्रोत विश्वसनीय हो परन्तु कुछ अज्ञात कारणों से जैसे किसी पूर्वाग्रह, संवेग, भय, भाव व अभाव में जाने या अनजाने में उसमें तथ्यों को तोड़–मड़ोरकर रखा गया हो जो त्रृटिपूर्ण हो। यहाँ शोधकर्ता को सम्बन्धित अभिलेखों में सम्भावित त्रुटियों के प्रति निरन्तर सतर्क रहना पड़ता है ऐसी स्थिति में शोध कर्ता द्वारा विश्लेषण के अध्ययन से यथार्थता ज्ञात करने के प्रक्रम को आन्तरिक समालोचना कहते है। प्रस्तुत शोध में प्रयुक्त सामग्री की वाहय आलोचना के साथ ही सभी प्रकार से आन्तरिक समालोचना भी की गयी है। उपलब्ध सामग्री या तो डॉ. राजेन्द्र पसाद, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन एवं डॉ. जाकिर हुसैन द्वारा

लिखित है अथवा प्रतिष्ठित लेखकों की है।

डॉ. के.पी. पाण्डेय द्वारा लिखित पुस्तक शैक्षिक अनुसंधान में उनके अनुसार ऐतिहासिक शोध के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचार प्रकट किये गये है।

निष्कर्ष का निरूपण

ऐतिहासिक श्रोत की शुरूआत ही तब होती है जब अतीत से सम्बन्धित शोध घटना, विकास या अनुभाव के प्रति प्रश्न चिन्ह लगाया जाये। कभी–कभी इतिहास वेत्ता को ऐसी सामग्री हाथ लग जाती है जिसकी व्याख्या एवं निहितार्थ से अतीत की घटनाओं के बारे में नये उत्तर प्राप्त होते है तथा किन्ही अन्य परिस्थितियों में वह उपलब्ध आधार सामग्री के अध्ययन से प्रभावित अर्थों का खण्डन करता है एवं नवीन परिकल्पनायें बनाता है जिनसे अतीत से जुड़ी घटनाओं की अपेक्षाकृत अधिक संतोषजनक व्याख्या प्रस्तुत की जा सके। सामान्यः तौर पर यह अध्ययन समस्या के अत्यन्त अस्पष्ट एवं भ्रान्त स्वरूप से प्रारम्भ होता है तथा बाद में चलकर उसके निश्चित बिन्दुओं को निरूपित एवं परिभाषित किया जाता है।

प्रतिवेदन

प्रतिवेदन के तहत अनुसंधान की आधार भूमि उसकी समस्यायें, उद्देश्य, परिकल्पनायें प्रतिदर्श जिसके सम्बन्ध में शोध किया गया है शोध का अभिकल्प जिस का अनुपालन हुआ है आधार सामग्रियों के संकलन हेतु गठित या चयनित वह शोध उपकरण जिसका में अनुसंधान प्रयोग किया गया है। आधार सामग्रियों के विश्लेषण हेतु प्रयुक्त गुणात्मक या परिणात्मक प्रतिपादन पद्धति आधार सामग्री का विवेचन एवं उसके अध्ययन से निरूपित सामान्यीकरण एवं निष्कर्ष तथा भावी शोध सम्भावनाओं के सम्बन्ध में सुझावों के अतिरिक्त सम्बद्ध शोध साहित्य एवं वे संदर्भ जिनसे उपयुक्त रूप में उद्धरण लिये गये हो आदि का स्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

दार्शनिक विधि
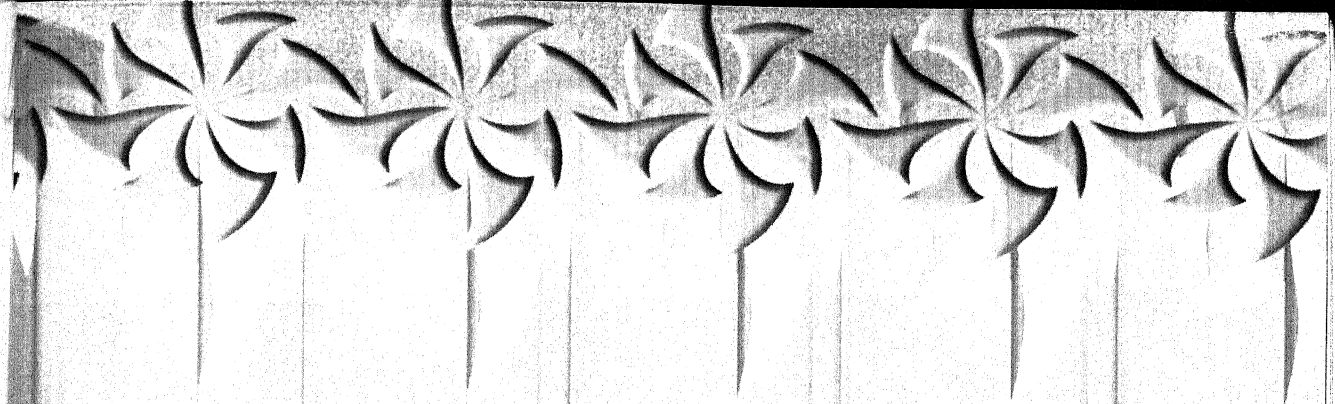
प्रो० एम. वर्मा के अनुसार दार्शनिक विधि ''पाण्डित्य, आलोचनात्मक, अन्तर

दृष्टि तथा संश्लेषणात्मक योग्यता की अपेक्षा रखती है। इतिहास की तुलना में भी इसके अन्तर्गत अपेक्षाकृत अधिक पुस्तकीय कार्य व्यापार निहित होता है क्योंकि इसमें प्रमाणिक ग्रन्थों एवं श्रद्धा योग्य, पोथियों का अत्यन्त नजदीक से अध्ययन (परशीलन) किया जाता है। स्वभाविक है कि इसके लिए शोधकर्ता में दार्शनिक रूप से दार्शनिक विचारों की अच्छी जानकारी तथा प्रमुख सम्प्रदायों एवं प्रवृत्तियों से परिचय हो।''

डॉ. के. पी. पाण्डेय ने अपनी पुस्तक शैक्षिक अनुसंधान के पृष्ठ–88 में दार्शनिक अनुसंधान के प्रति इस प्रकार की व्याख्या की है कि ''पाश्चात्य चिन्तकों यथाः प्लेटों, रूसों, जान डी वी तथा रसेल आदि एवं भारतीय चिन्तकों यथाः अरविन्द, विवेकानन्द, टैगोर, गांधी एवं कृष्ण मूर्ति पर किये गये शैक्षिक अनुसंधान इस प्रकार के शोध के प्रत्यक्ष उदाहरण है। इन शोधों में सम्बन्धित चिन्तकों के शैक्षिक विचारों उनके शैक्षिक मुद्दों पर पाये जाने वाले दृष्टिकोणों तथा उन परिप्रक्ष्यों में शिक्षा की प्रणाली, शिक्षण विधि तथा शैक्षिक मूल्यांकन आदि की अवधारणाओं का गहन अध्ययन अभीष्ट होता है। इस अध्ययन के तहत विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक ढंग से शैक्षिक विचारों पर प्रकाश डालना मुख्य मुद्दा होता है जिससे उक्त चिन्तक की शिक्षा सम्बन्धी धारणाओं, शिक्षा प्रक्रियाओं के बारे में मान्यताओं, प्रमुख स्थापनाओं तथा अभिमतों की छानबीन की जा सके तथा अनुशीलन के आधार पर शिक्षा की प्रमुख संकल्पनाओं को एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया जा सके।''[1]

1. ''शैक्षिक अनुसंधान' लेखक डा. के. पी. पाण्डेय, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, पृ. 88

चतुर्थ अध्याय

परिवेशीय संदर्भ में बाल्यकाल एवं शिक्षा-दीक्षा
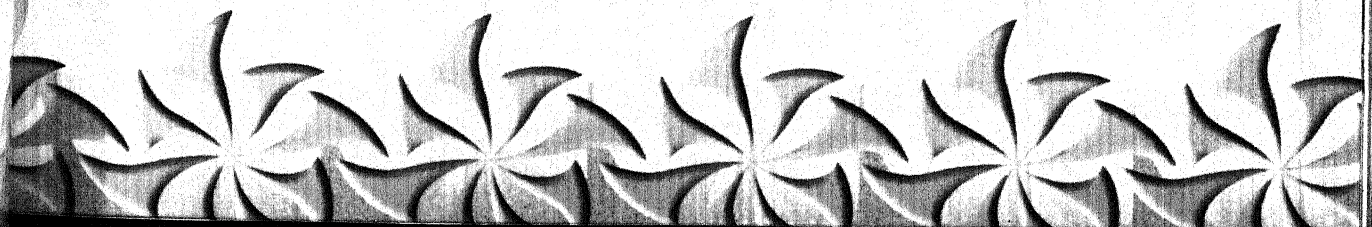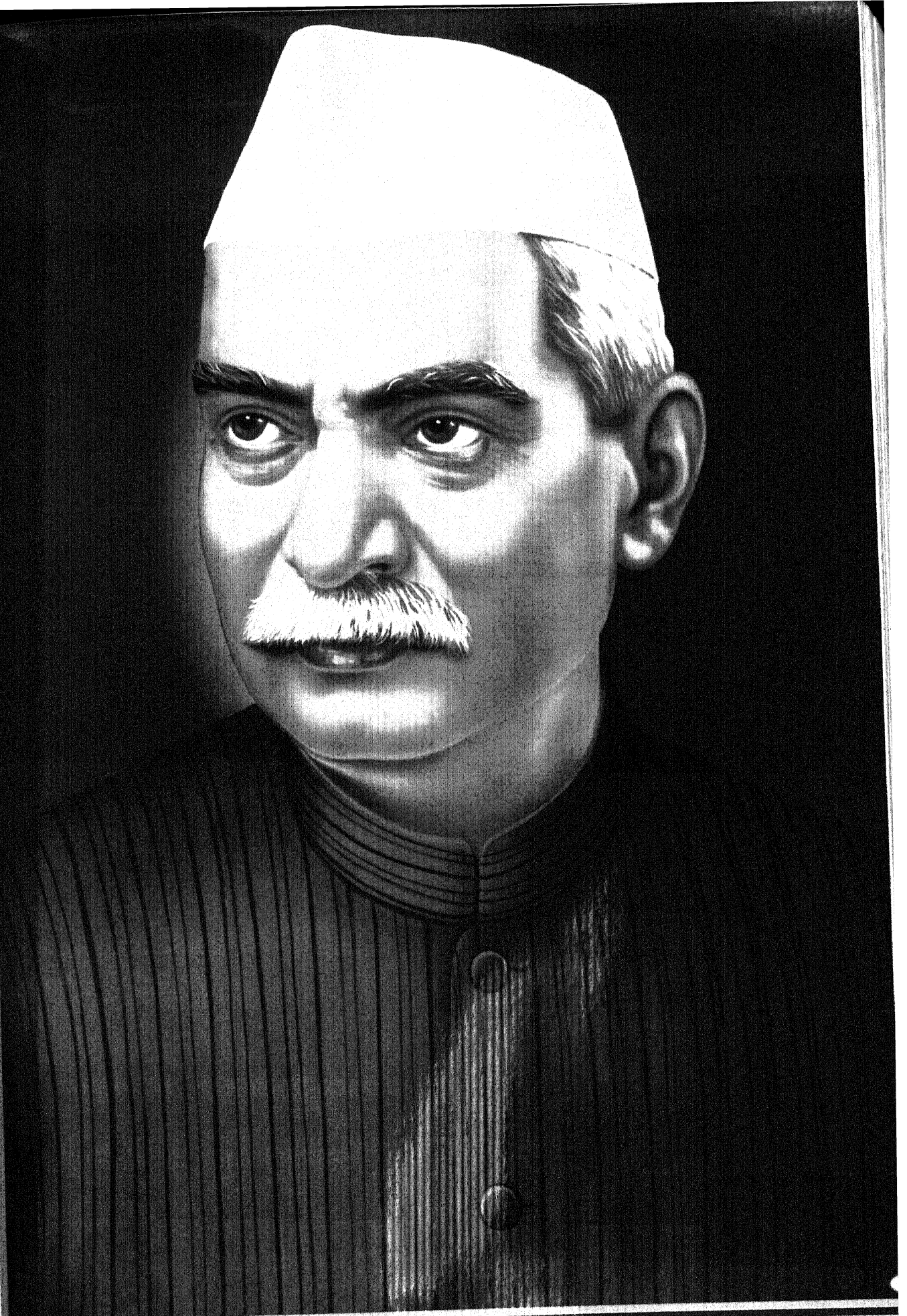
डा राजेन्द्र प्रसाद

चतुर्थ अध्याय

परिवेशीय संदर्भ में बाल्यकाल एवं शिक्षा-दीक्षा

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

पारिवारिक स्थिति एवं प्रारम्भिक शिक्षा

राजेन्द्र बाबू का जन्म बिहार के सारन जिला के जीरादेई नामक गाँव में 3 दिसम्बर 1884 में कायस्थ कुल में हुआ था। उनके पिता श्री महादेव सहाय थे। राजेन्द्र बाबू के दो भाई तथा तीन बहनें थी। सबसे बड़ी बहिन भगवती देवी और उससे छोटी अनारकली। अनारकली से छोटी बहिन की मृत्यु बचपन में हो गई थी। राजेन्द्र प्रसाद अपने भाई बहिनों में सबसे छोटे थे। उनके बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद राजेन्द्र प्रसाद से 8 वर्ष बड़े थे। बड़ी बहिन भगवती देवी विवाह के कुछ दिनों बाद विधवा हो गई थी और मायके आकर रहने लगी थी।

राजेन्द्र बाबू के पूर्वज संयुक्त प्रांत के रहने वाले थे। परिवार की एक साखा गया में आकर बस गई थी। दूसरी साखा जिला सारन (बिहार) के एक गाँव जीरादेई में जाकर रहने लगी थी। जीरादेई वाला परिवार ही राजेन्द्र बाबू के पूर्वजों का परिवार है। डा. राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' के अनुसार जीरादेई में आने वाले पूर्वज राजेन्द्र बाबू से सातवीं या आठवीं पीढ़ी ऊपर थे। उन दिनों कायस्थ आमजन से अधिक शिक्षित हुआ करते थे। उसी समय इन लोगों का सम्बन्ध हथुआ–राज से हो गया जहाँ छोटी सी लिखने पढ़ने की नौकरी उनमें से किसी को मिल गई। हथुआ–राज के साथ राजेन्द्र बाबू के पूर्वजों का सम्बन्ध कई पीढ़ियों तक चलता रहा। इनका परिवार अपने गाँव की जमींदारी में हिस्सेदार नहीं हुये, यद्यपि पीछे उनके पूर्वज कई गाँव के जमींदार हुये।

राजेन्द्र बाबू के दादा (बाबा) दो भाई थे। बड़े भाई चौधुरलाल छोटे मिश्रीलाल का देहान्त हो गया था उनके केवल एक पुत्र महादेव सहाय थे जो राजेन्द्र

बाबू के पिता थे। चौधुरलाल के एक पुत्र था जगदेव सहाय। चौधुरलाल का महादेव सहाय पर बड़ा स्नेह था। जगदेव सहाय और महादेव सहाय को पुत्रवत ही पालन पोषण हुआ।

उन दिनों अंग्रेजी प्रचलित नही थी फारसी की ही शिक्षा दोनों को मिली। फाारसी भी दोनो भाई उसी मौलवी साहब से पढ़ते थे जो महाराज के पुत्र को पढ़ाते थे।

जगदेव और महादेव दोनों में बहुत प्यार था इसी कारण दोनों का परिवार संयुक्त रहा। राजेन्द्र बाबू के पिता महादेव सहाय जी आयुर्वेद के जानकार थे। वे घर पर ही रहते थे और आयुर्वेद और यूनानी विधि से रोगियों का इलाज करते थे दवा के पैसा नहीं लेते थे। वे फारसी के विद्वान थे और संस्कृत भी जानते थे। अखाड़े का भी उन्हें बहुत शौक था। संयुक्त परिवार होने के कारण राजेन्द्र बाबू को जन्म से बहुत प्यार मिला। माता पिता बहिन के प्यार के साथ–साथ उन्हें ताऊ जी और ताई जी का विशेष प्यार मिला। उनसे बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद भी अपने छोटे भाई राजेन्द्र को बहुत प्यार करते थे। घर में बहुत लाड़ले होने से राजेन्द्र बाबू बहुत कोमल और शर्मीले स्वभाव के हो गये थे।

लाड़दुलार और पारिवारिक परिवेश में शाम होते ही वे सोने के लिये मचलने लगते थे। माँ उन्हें अपने साथ लिटाकर सुला देती थी। जब खाना तैयार हो जाता तो उन्हें फिर से उठाना पड़ता था। माँ उन्हें बड़ी मनुहार से उठाती और उनका मन लगाने के लिये तोता–मैना तथा राजा–रानी की कहानियां सुनाया करती। कहानी सुने बिना राजेन्द्र बाबू खाना नही खाते थे। उन्हें जगाकर खाना खिलाने से लेकर फिर से सुलाने तक कहानियों का सिलसिला जारी रहता था।

जीरादेई में राजेन्द्र प्रसाद की विशाल हवेली तथा एक बड़ा बर्मांचा था। चौधुरलाल की सेवा और संरक्षता से खुश होकर हथुआ महाराज राजेन्द्र प्रताप ने चौधुरलाल को जागीर प्रदान की। इस जागीर की आय से चौधुरलाल ने 7000 रुपया

आय वाली जमींदारी अपने परिवार के लिये खरीद ली। यह जमींदारी अपनी पत्नी तथा भाई की पत्नी के नाम खरीदी थी। अतः इस परिवार का संयुक्ताधिकार था। जमींदारी की व्यवस्था राजेन्द्र बाबू के ताऊ जी जगदेव सहाय जी देखते थे। जगदेव सहाय जी के कोई पुत्र न था। अतः भाई महादेव सहाय का परिवार ही उनका परिवार था।

राजेन्द्र बाबू पर बचपन से ग्रामीण जीवन का बड़ा प्रभाव पड़ा। अपनी आत्मकथा में राजेन्द्र बाबू ने ग्रामीण जीवन का विस्तार से उल्लेख किया है –

"उन दिनों गाँव का जीवन आज से कहीं ज्यादा सादा था। जीरादेई और जमलापुर दो गाँव है पर दोनों ही बस्ती इस प्रकार मिली–जुली है कि यह कहना मुश्किल कि कहाँ जीरादेई खत्म है और कहा जमलापुर शुरू है, इसलिये आबादी के लिहाज से दोनों गाँवों को साथ ही लिया जाये तो कोई हर्ज नही। दोनों गाँवों में प्रायः सभी जातियों के लोग बसते हैं। आबादी दो हजार से अधिक होगी। उन दिनों भी गाँवों से मिलने वाली प्रायः सभी चीजें यहाँ मिलती थी अब तो कुछ नये प्रकार की दुकानें हो गई है जिनमें पान–बीड़ी भी मिलती है। उन दिनों ऐसी चीजें नहीं मिलती थी, हाँ काला तम्बाकू और खैनी खूब बिका करती थी। कपड़े की दुकानें अच्छी थी जहाँ से दूसरे गाँवों के लोग तथा कुछ व्यापारी भी सामान ले जाया करते थे। चावल, दाल, आटा, मसाला, नमक, तेल आदि वहाँ सब कुछ मिलता था। दवा की भी छोटी–छोटी दुकानें थी। मिठाई की कोई दुकान न थी। गाँव में कोकरी लोगों की काफी बड़ी बस्ती है इसलिये साग–सब्जी भी काफी मिलती थी। अहीर कम थे, पर आसपास के गाँवों में उनकी काफी आबादी थी, जो सूत लेकर कपड़ा बुनते थे। चूड़ीहार चूड़िया बनाते थे। बिसाती छोटी–मोटी चीजे, जैसे टिकुली आदि बेचते थे।"[1]

मनोरंजन और शिक्षा का दूसरा साधन रामलीला थी। रामायण और रामलीला का गाँव में बड़ा महत्व था। राजेन्द्र बाबू के जीवन पर रामचरित मानस और रामलीला का बहुत प्रभाव पड़ा। उन दिनों हिन्दू और मुसलमान दोनों समुदाय एक दूसरे के

1. 'आत्मकथा' लेखक डा. राजेन्द्र प्रसाद

त्यौहारों में खुले मन से शामिल हुआ करते थे। ग्रामीण जीवन में किसी प्रकार का मतभेद नहीं था। हिन्दुओं के त्यौहार दशहरा, दीवाली, होली, रामनवमी, जन्माष्टमी आदि बड़े धूमधाम से मनाये जाते थे। मुसलमान भी उन उत्सवों में खुले मन से शामिल होते थे। मुसलमानों के त्यौहार ईद, मुर्हरम आदि भी बड़े धूमधाम से मनाये जाते थे। हिन्दू इन त्यौहारों का पूरा आनन्द लेते थे। राजेन्द्र बाबू का बचपन गाँव में बीता। गाँव के बच्चों में हिन्दू–मुसलमान जैसा कोई धार्मिक मतभेद न था। सब मिलजुलकर हर उत्सव और त्यौहार में शरीक होते थे और खूब मनाते थे।

अच्छे गुणों का गाँव में आदर था। नैतिक मूल्य गाँव का आदर्श था। बड़ो की इज्जत, बूढ़ों का मान पढ़े लिखो का आदर, ज्ञानी और विद्वानों को विशेष स्थान देना ग्रामीण समाज की परम्परा थी। भारतीय संस्कृति के सभी सुन्दर मूल्य गाँव वालों की निधि थे जिसे वे किसी कीमत पर खोना नही चाहते थे। ऐसे ग्रामीण एवं पारिवारिक परिवेश में राजेन्द्र बाबू के जीवन पर अच्छा और अमिट प्रभाव पड़ा। बचपन से संस्कार के रूप में ग्रामीण जीवन के यह सभी गुण राजेन्द्र बाबू के मन में रच–बस गये थे। इन गुणों से उनका व्यक्तित्व बुना गया था, सादगी और ईमानदारी उनके जीवन में सदा सबसे ऊपर रहे।

परम्परा के अनुसार राजेन्द्र बाबू की शिक्षा का प्रारम्भ घर से ही किया गया। उर्दू भाषा के जानकार और अरबी–फारसी के विद्वान–मौलवी अच्छे शिक्षक थे। पिछली तीन पीढ़ियों से उनके परिवार में शिक्षा पाने और अध्ययन करने की परम्परा चली आ रही थी। पाँच वर्ष की आयु पूरी करने के बाद राजेन्द्र बाबू की शिक्षा घर से ही प्रारम्भ की गई। उनके साथ उनके दो चचेरे भाई शिक्षा आरम्भ करने के लिये बिठाये गये थे जो राजेन्द्र बाबू से आयु से बड़े थे। हवेली के एक कोने के कक्ष में मकतब तैय्यार किया गया। मौलवी साहब उर्दू और फारसी पढ़ाते थे। भाषा के अलावा गिनती और पहाड़े भी सिखाये जाते थे। जोड, बाकी, गुणा, भाग के साधारण सवाल भी कराये जाते थे।

मौलवी साहब वाकई खुशमिजाज व्यक्ति थे। बच्चों से खूब घुलमिल जाते थे वे हंसी–मजाक करना बहुत पसंद करते थे, स्वयं मजाक का पात्र बन जाने में भी उन्हें कोई एतराज नहीं होता था। लगभग आठ महीने तक राजेन्द्र बाबू को इन मौलवी साहब ने पढ़ाया। आठ महीने बाद मौलवी बदल गये। दूसरे मौलवी बहुत गम्भीर स्वभाव के थे। यह प्रतिदिन दो बार पढ़ाते थे। राजेन्द्र बाबू और उनके दोनों सहपाठी दोपहर के भोजन के बाद मौलवी साहब के पास मकतब में आकर आराम करते। उस समय मौलवी साहब भी आराम करते थे। जब मौलवी साहब सो जाते तो बच्चे चुपके से उठकर शतरंज की विसात बिछाकर शतरंज खेलने लगते और ज्यों ही मौलवी साहब की आंख खुलती, शतरंज का सामान छुपा दिया जाता। सायंकाल बच्चे फिर पाठ याद करते। मौलवी साहब को सुनाते और नया पाठ पढ़ते। पाठ खत्म होने के बाद बच्चे संध्या समय पर वापस घर लौट आते। राजेन्द्र बाबू इतना थक जाते कि घर आते ही सो जाते।

आरंभिक शिक्षा घर पर पूरी करने के बाद राजेन्द्र बाबू को स्कूल की शिक्षा के लिये छपरा भेजा गया। उनके बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद पहले से ही छपरा में पढ़ रहे थे। उस समय महेन्द्र प्रसाद दूसरी कक्षा में थे। राजेन्द्र बाबू का दाखिला आठवीं में किया गया। उस समय यही प्रारम्भिक कक्षा थी। उस समय पहले आठवीं, फिर सातवीं, फिर छठीं इसी प्रकार एंण्ट्रेस को प्रथम कहा जाता था। छपरा में राजेन्द्र बाबू को हिन्दी वर्णमाला तथा अंग्रेजी वर्णमाला सिखाई गई। पिता ने महेन्द्र प्रसाद तथा राजेन्द्र बाबू को किराये के एक मकान में रखा था जहाँ उनके सहयोग के लिये एक रसोइया भी रखा गया था जो उनके लिये खाना बनाता तथा अन्य आवश्यक मामलों में सहयोग करता था। वहाँ पर अभिभावक की भूमिका भी रसोइया की ही थी। खर्च के लिये राजेन्द्र बाबू तथा उनके बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद को नकद पैसा नहीं दिया जाता था। उनकी आवश्यकता की वस्तुयें पिता द्वारा उनके पास पहुँचा दी जाती थी। दुकान से खरीददारी की भी व्यवस्था थी। इसका बिल पिता द्वारा चुकाया जाता था। आठ वर्ष की

छोटी सी आयु के लाड़ प्यार में पले बच्चों का माता–पिता और परिवार के सदस्यों से अलग रहना एक तपस्या से कम नहीं था। गाँव के सभी संगी–साथी छूटे, गाँव के त्यौहार उत्सव छूटे, माँ की गोद में सोकर कहानियां सुना–सुनाकर सुलाना और खाना खिलाना सब छूट गया। राजेन्द्र बाबू घर में सबसे छोटे होने के कारण माता–पिता, दादा–दादी के अलावा ताई और ताऊ के भी लाड़ले थे परन्तु शिक्षा के लिये सब छोड़ना पड़ा। छपरा में बिलकुल नया माहौल था, नये सहपाठी थे नये लोग थे और नया समाज था। एक बात अवश्य अच्छी थी कि बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद का साथ और भरपूर प्यार व सहयोग उन्हें मिलता था।

राजेन्द्र बाबू को शुरू में कठिनाई हुयी। जल्दी सो जाने वाले राजेन्द्र को अब नये अनुशासन का पालन करना पड़ता था। हर शाम उन्हें माँ ताई ताऊ, पिता दादा–दादी की याद आती। माँ की याद में वह इतने दुखी होते कि बड़े भाई से छिपकर खूब रोते। महेन्द्र बाबू समझाते "माँ की ममता माँ का प्यार तो अनमोल है, उसका स्थान कोई नहीं ले सकता है, परन्तु हम क्या करें। हमारा जन्म गाँव में हुआ। गाँवों में स्कूल तो होते नहीं। गाँव के बच्चों को पढ़ना है तो उन्हें माता–पिता और घर–परिवार की ममता तो छोड़नी ही पड़ेगी। गाँव से आकर शहर में पढ़ने वाले बच्चों के भाग्य में माँ की ममता और पिता का प्यार कहा। दो में एक ही चीज मिलेगा – परिवार का साथ या पढ़ाई" "यह सरकार अंग्रेजों की है। हमारा देश गुलाम है। हमारी अपनी सरकार नही है। अंग्रेज जानबूझकर इतने स्कूल नहीं खोलते कि हमारे देश के सारे बच्चे पढ़–लिख जाये। इसलिये गिने–चुने बच्चे ही पढ़ पाते है।" राजेन्द्र बाबू ने प्रश्न किया "हमारा देश गुलाम क्यों है भैया ? हम अपनी सरकार क्यों नहीं बना सकते" 8-9 वर्ष के बालक के मुँह से ऐसा प्रश्न सुनकर महेन्द्र बाबू छोटे भाई का मुँह देखते रह गये बोले "पूरी बात तो मैं नही जानता, परन्तु इतनी बात समझ में आती है कि हमारा देश गरीब है, हमारे देश के लोग मिलकर विदेशियों के खिलाफ लड़ना नहीं जानते, इसलिये विदेशियों ने हमारे देश को गुलाम बना लिया है। जब तक देश आजाद नहीं हो जाता,

अपनी सरकार कैसी बनायी जा सकती है।" जीवन के प्रारम्भकाल से ही राजेन्द्र बाबू के मन में भारतवासियों की असहायता एवं आपसी फूट का अहसास हुआ और उन्होंने देश के लिये कुछ करने की सोच बनाई।

6 माह तक घर की याद करके रोने वाले राजेन्द्र बाबू ने भाई के कहने से रोना छोड़ दिया। माँ–बाबू जी को याद तो वह खूब करते थे, परन्तु अब उनसे प्रेरणा लेने लगे थे। जब–जब उन्हें घर की याद आती, वे बड़े भाई को न रोने का दिया गया वचन याद करते और अपने पर काबू पा लेते। अब वे पढ़ाई में पूरा मन लगाते। नतीजा यह हुआ कि राजेन्द्र बाबू अध्यापकों की नजरों में चढ़ने लगे। कक्षा में पूछे गये प्रश्नों के धड़ल्ले से उत्तर देते और शाबासी पाते। कभी–कभी उन्हें इनाम भी मिला करता। इससे बड़े महेन्द्र प्रसाद को बेहद प्रसन्नता होती।

पिता ने एक अध्यापक की व्यवस्था कर दी थी, परन्तु राजेन्द्र बाबू बड़े भाई से ही पढ़ना पसन्द करते थे। अध्यापक के चले जाने के बाद वे बड़े भाई का सहारा लेते थे। बड़े भाई उनकी मदद के लिये सदैव तत्पर रहते थे। राजेन्द्र बाबू को पढ़ाने में उन्हें आनन्द मिलता था। राजेन्द्र बाबू की मेहनत और लगन से वे बहुत खुश थे। घर को लिखे गये पत्रों में वे राजेन्द्र बाबू की प्रशंसा किया करते थे।

राजेन्द्र बाबू ने कक्षा आठ में प्रथम स्थान प्राप्त किया। प्रधानाचार्य ने उन्हें एक साथ दो जमातों में तरक्की दे दी इस पर राजेन्द्र बाबू कक्षा आठवीं से सीधे कक्षा छठीं में आ गये।

एण्ट्रेंस की परीक्षा पास करके महेन्द्र प्रसाद पटना चले गये। राजेन्द्र प्रसाद अकेले नहीं रह सकते थे। अतः उन्हें भी छपरा से हटाकर पटना भेजा गया। उन्हीं दिनों उनके आरम्भिक शिक्षा के साथी दो चचेरे भाई जमुना और गया को भी शिक्षा के लिये पटना भेजा गया। इन तीनों का दाखिला टी. के. घोष अकादमी पटना में हो गया। पटना में राजेन्द्र बाबू तीनों भाइयों के साथ अध्ययन में लग गये। जमुना और गया उनके प्रिय सहपाठी थे। तीनों भाईयों में खूब बनती थी। राजेन्द्र बाबू के दोनों चचेरे

भाई उन्हें बहुत प्यार करते थे। राजेन्द्र बाबू के अच्छे संस्कार साफ–सुथरे विचार और सादगी तथा सद्व्यवहार किसी का भी मन मोहने के लिये काफी थे। वे स्वभाव से संकोची और लज्जाशील होते हुये भी बड़े परिश्रमी और उदार थे इसलिये अच्छे लड़के उनके मित्र बन जाते।

पटना में दो वर्ष तक राजेन्द्र बाबू ने बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद से सहयोग लेते हुये कड़ा परिश्रम किया। इन दो वर्षों में महेन्द्र प्रसाद ने एफ. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की और राजेन्द्र बाबू चौथी कथा में आ गये।

1896 में राजेन्द्र बाबू का विवाह बलिया जिला की राजवंशी के साथ तय हो गया। उस समय राजेन्द्र बाबू की आयु मात्र 12 वर्ष से भी कम थी। जून 1896 में बारात जीरादेई से बलिया जिला गांव दलन छपरी गई। यह स्थान जीरादेई से 20 कोस की दूरी पर था। बारात में हाथी, घोड़े, बैलगाड़ी आदि वाहन शामिल थे। एक पालकी में राजेन्द्र बाबू को बैठाया गया दूसरी पालकी में दूल्हे के पिता महादेव सहाय थे शेष लोग बैलगाड़ियों, घोड़ों तथा हाथी पर सवार थे। राजेन्द्र बाबू की पालकी चाँदी की थी जमींदार घराने की शान शौकत का मामला था। बड़ी शान के साथ तीन हाथियों वाली शानदार बारात वधू के गाँव पहुँची। परिछावन की रस्म के समय दूल्हे की तलाश हुई। जब लोग यह देखकर हैरान थे कि दूल्हा अपनी पालकी में गहरी नींद में सो रहा था। दूल्हा भी ऐसा जिसे रात होते ही सोने की आदत थी। परन्तु विवाह तो विवाह है उसकी रस्में तो पूरी करनी ही पड़ती है। राजेन्द्र बाबू जाग तो गये लेकिन हर रस्म के लिये उन्हें जगाया जाता था। इस प्रकार वर–वधू का विवाह सम्पन्न तो हो गया, परन्तु यह शुद्ध बाल–विवाह था। न वधू को होश था कि क्या हो रहा है और न ही वर को होश था कि क्या किया जा रहा है। बाल सुलभ उत्सुकता तो राजेन्द्र बाबू को थी लेकिन विवाह का सही आशय इस उम्र में उनकी समझ से परे था। गाँव की प्रथा अनुसार विवाह के बाद बारात बिना वधू के ही वापस लौटती थी। विवाह से कुछ वर्ष बाद द्विगमन की प्रथा थी। इस प्रथा के अनुसार एक छोटी बारात फिर दुल्हन को लेने

उसके घर जाती थी और दुल्हन की विदाई शान के साथ कराई जाती थी।

राजेन्द्र बाबू के विवाह के बाद उनके बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद पटना से एफ. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण कर उच्च शिक्षा बी. ए. के लिये कलकत्ता चले गये। राजेन्द्र बाबू को भी पटना से हटाकर हथुवा के स्कूल में दाखिल करा दिया गया। हथुवा की शिक्षाविधि रटने पर आधारित थी राजेन्द्र बाबू को यह विधि रास नहीं आई उन्हें रटने की आदत नहीं थी। वे समझने की विधि में दक्ष थे। समझकर अपने शब्दों में लिखना उनकी शैली थी। राजेन्द्र बाबू को यहाँ शिक्षकों की इतनी सख्ती झेलनी पड़ी कि वे बीमार रहने लगे। उनके पिता जी ने उन्हें हथुवा से हटाकर वापस छपरा के उसी स्कूल में दाखिल करा दिया जिसमें वे पहले पढ़ते थे। रसोइया काका उनके साथ रहे। चौथी की पढ़ाई में वे छपरा में सबसे आगे निकल गये।

अपनी 'आत्मकथा' में उन्होंने लिखा है "उस स्कूल में से चला आना मेरे लिये एक बड़ी बात हुई। छपरा पहुँचते ही मानो खोई बुद्धि और लौट आई"

"चौथे क्लास में छात्रों की संख्या केवल अधिक ही नहीं थी, अच्छे–अच्छे छात्र भी थे, जिनमें कई तो मिडिल स्कूल पास करके छात्रवृत्ति लेकर आये थे। उनका गणित, भूगोल और इतिहास का ज्ञान अच्छा था, चूँकि यह विषय वे हिन्दी में पढ़ चुके थे और यहाँ पढ़े हुये विषयों को ही अंग्रेजी माध्यम से दुहराना था। थोड़े ही दिनों में मास्टर ने महसूस किया और मेरे साथियों ने समझा कि मैं भी तेज लड़कों में से एक हूँ। मैं इतने लड़कों के बीच किसी भी परीक्षा में अव्वल स्थान नहीं पा सका था, पर रसिक बाबू (अध्यापक) ने मुझसे उन्हीं दिनों कहा था कि देखो, मेहनत करो – अंत में तुम्हारा और रामानुग्रह का ही मुकाबला रहेगा और दूसरे साथी तेज होने पर भी तुमसे नीचे हो जायेंगे। नामालूम उन्होंने क्यों ऐसा कहा पर बात ऐसी ही हुई।"[1]

तीसरे से दूसरे दर्जे में तरक्की हुई और सालाना इम्तिहान में उन्होंने तीसरा स्थान प्राप्त किया। इसी प्रकार दूसरे से अव्वल दर्जे में जाने से पहले जो परीक्षा हुई

---

1. 'आत्मकथा' लेखक डा. राजेन्द्र प्रसाद, पृ. 49

उसमें राजेन्द्र बाबू ने अव्वल और रामानुग्रह ने दूसरा स्थान प्राप्त किया। रसिक बाबू की बात पूरी हुई।

रसिक बाबू केवल पढ़ाने में ही पटु नहीं थे, बल्कि लड़कों के चरित्र का भी ध्यान रखते थे। स्कूल के शिक्षकों में राजेन्द्र बाबू के ऊपर सबसे गहरी छाप उन्हीं की पड़ी। वे पढ़ाते भी थे और अच्छी बाते बताकर विचार भी सुधारते थे। रसिक बाबू कुछ देश की बाते भी बताते कैसे पढ़कर आदमी ऊँचे स्थान पर पहुँच सकता है। जब राजेन्द्र बाबू एण्ट्रेंस क्लास में पहुँचे, तब उन्होंने कहा था कि मेहनत करो। तुम यूनीवर्सिटी में ऊँचा स्थान पा सकते हो और वस्तुतः समय आने पर उनकी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। राजेन्द्र बाबू को सर्वोत्कृष्ट छात्रवृत्ति भी मिली। उस समय निम्नलिखित तीन प्रकार की छात्रवृत्तियाँ मिला करती थी –

प्रथम - दो या तीन, दस रुपयों की जो जिले भर में अव्वल दो या तीन लड़कों को मिला करती थी।

द्वितीय - दो तीन पन्द्रह रुपया मासिक की जो डिवीजन भर में जिसमें उन दिनों आजकल के पटना और तिरहत डिवीजनों के सात जिले शामिल थे अव्वल दो या तीन लड़कों को मिलती थी।

तृतीय - बीस रुपया मासिक की जो सारी यूनीवर्सिटी भर में अव्वल दस लड़कों को मिलती थी।

बिहार सूबा बंगाल का हिस्सा था और कलकत्ता यूनीवर्सिटी का अधिकार बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम और वर्मा पर था। एक ही परीक्षा होती थी और इन सूबों के लड़कों में जो सबसे ऊपर आते थे उन दस लड़कों को ही 20 रुपये की छात्रवृत्ति मिलती थी।

राजेन्द्र बाबू को भी सबसे अधिक नम्बर पाने के लिये बीस रुपया मासिक की छात्रवृत्ति मिली तथा इसके अतिरिक्त अंग्रेजी में भी अव्वल होने से दस रुपये मासिक छात्रवृत्ति अलग से एक वर्ष के लिये मिली। बालक राजेन्द्र का बचपन और

उनका प्रारम्भिक शिक्षाकाल गाँव में ही बीता। इसलिये उनके जीवन में गाँव के सादे रहन–सहन की अमिट छाप थी। गाँव के निश्छल निर्मल वातावरण में राजेन्द्र बाबू का पालन–पोषण हुआ था। इसलिये आप ग्रामीण भारत के सच्चे प्रतिनिधि कहलाते थे। ग्रामीणों के दुख–दर्दों को जितनी अच्छी तरह आप पहचानते थे उतना कोई दूसरा नेता नहीं जान सका। ग्रामीणों की सरलता, कर्मठता और सच्चाई के सब गुण आपमें कूट–कूटकर भरे थे। इसलिये आप भारतीय ग्रामीणों को भी उतने ही प्रिय थे, जितने भारत के नागरिकों को।

माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा

छपरा पहुँचकर उन्होंने पढ़ाई में बहुत मेहनत की और एण्ट्रेंस की परीक्षा में अव्वल आये। उन दिनों एण्ट्रेंस की परीक्षा कोलकाता विश्वविद्यालय से पास की जाती थी। बिहार, बंगाल, उड़ीसा, असम, वर्मा और नेपाल उन दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालय में शामिल थे। पूरे विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान पाने वाले वे पहले बिहारी छात्र थे। इतने बड़े क्षेत्र में सबसे आगे आना गौरव की बात थी।

एण्ट्रेंस की परीक्षा में प्रथम आने के बाद राजेन्द्र प्रसाद ने आगे की पढ़ाई के लिये कोलकाता के प्रेसीडेंसी कालेज में दाखिला लेने का निश्चय किया। 1920 में राजेन्द्र बाबू ने कोलकत्ता के प्रेसीडेंसी कालेज में एफ. ए. में दाखिला ले लिया। उन्हें विश्वविद्यालय में प्रथम आने के लिये 20 रुपया तथा अंग्रेजी में सबसे अधिक अंक प्राप्त करने के लिये 10 रुपये की छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। जिस समय राजेन्द्र बाबू ने कोलकत्ता में एफ. ए. में दाखिला लिया, उस समय तक बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद एफ. ए. करने के बाद इलाहाबाद चले गये थे और इलाहाबाद के म्योर सेन्ट्रल कालेज से बी. ए. करके वे इसी वर्ष कोलकत्ता लौटे थे।

दोनों भाई ईडन हिन्दी होस्टल में साथ–साथ रहने लगे। प्रेसीडेंसी कालेज के प्रधानाचार्य डाक्टर पी. के. राम थे।

स्वभाव के संकोची और सादगी पसंद राजेन्द्र बाबू ने पढ़ाई में मेहनत केवल

अधिक अंक लाने के उद्देश्य से कभी नहीं की, विषय को पूरी तरह समझने और ज्ञान प्राप्त करने की लालसा उनमें कूट–कूटकर भरी हुई थी। लिखने का अभ्यास और पढ़े हुये पाठ को याद रखने की आदत उन्होंने सदा बरकरार रखी। वह खेलने के समय खेलते भी थे। एक से लेकर दो घंटे तक प्रतिदिन वे खेलने में बिताते थे, परन्तु जब पढ़ने बैठ जाते तो कोई उन्हें विचलित नहीं कर सकता था। पढ़ाई के अतिरिक्त जीवन और समाज से सम्बन्धित हर बात को गहराई से सोचना और उसकी तह तक पहुँचना उनका स्वभाव था। इससे उनके "कैरियर" पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। यही नहीं उनके पढ़ने के ढंग और संस्कार ने उनकी जीवन पद्धति का निर्माण किया।

राजेन्द्र प्रसाद के बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद कलकत्ता में एम. ए. और बी. एल. में पढ़ा करते थे। इसलिये राजेन्द्र प्रसाद को कलकत्ता में ही पढ़ाई शुरू करनी थी। कलकत्ता में नाम लिखाने गये उस समय की बात उन्होंने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार लिखी है – "जब मैं क्लास में गया तो वहाँ भी दूसरी ही समा थी। मैंने इतने सिर खुले बंगाली लड़के एक साथ कभी देखे ही नहीं थे। उनमें कुछ कोट–पतलून हैट पहनने वाले थे। वे ऐसे ही लोगों के लड़के थे जिनके पिता बिलायत से लौटकर बैरिस्टरी या डाक्टरी वगैरह कर रहे थे। मैंने किसी हिन्दुस्तानी लड़के को उस दिन तक हैट कोट पहनते देखा ही नहीं था। इससे मेरे दिल में शक हुआ कि ये लोग एंग्लो–इंडियन या क्रिस्तान होंगे, पर नाम पुकारा गया तो मालूम हुआ कि ये हिन्दू ही हैं। उन दिनों यह प्रथा थी कि मुसलमान लड़के नाम के लिये तो मदरसा के छात्र समझते जाते थे, पर एफ. ए. क्लास में पढ़ते थे प्रेसिडेंसी कालेज में ही।"[1]

एफ. ए. की परीक्षा का नतीजा आया तो राजेन्द्र बाबू ने प्रथम स्थान प्राप्त किया। उन्हें लॉजिक में सबसे अधिक अंक मिले थे। अंग्रेजी में भी उन्होंने सबसे अधिक अंक प्राप्त किये थे परन्तु गणित व विज्ञान के अंक दूसरे विषयों की तुलना में कम रहे। गणित व विज्ञान के अंक देखकर राजेन्द्र बाबू ने फैसला किया कि वे उच्च शिक्षा में इन

1. 'आत्मकथा' लेखक डा. राजेन्द्र प्रसाद

विषयों का शामिल नहीं करेंगे। तब तक महेन्द्र प्रसाद ने हिस्ट्री से एम. ए. पास कर लिया था और कानून की पढ़ाई जारी थी।

एफ. ए. में सबसे अधिक अंक पाने के कारण उन्हें दो वर्ष के लिये 25 रुपया मासिक छात्रवृत्ति मिली, अंग्रेजी में सर्वाधिक अंकों के लिये 10 रुपया प्रतिमाह तथा अन्य भाषाओं में प्रथम आने के लिये 25 रुपया मासिक की छात्रवृत्ति मिली। लाजिक में सबसे अधिक अंकों के लिये पुस्तकें दी गई।

1904 में राजेन्द्र बाबू ने बी. ए. में दाखिला ले लिया। उनके पुराने साथी रामानुग्रह ने भी इसी वर्ष प्रेसीडेंसी कालेज में ही दाखिला लिया था। बी. ए. में उन्होंने विषयों में आनर्स ले लिया – अंग्रेजी इतिहास और अर्थशास्त्र। रामानुग्रह ने भी तीन विषयों में आनर्स लिया। पूरे प्रेसीडेंसी कालेज में दो ही छात्र ऐसे थे जिन्होंने तीन विषयों में आनर्स लिया था – राजेन्द्र बाबू और रामानुग्रह। बी. ए. की परीक्षा में अच्छे अंक पाने पर दो छात्रवृत्तियां मिलती थी – एक पचास रुपया मासिक तथा दूसरी चालीस रुपया मासिक। दोनों छात्रवृत्तियां आनर्स के कुल प्राप्तांकों के आधार पर दी जाती थीं। बी. ए. पास करने के बाद राजेन्द्र प्रसाद ने एम. ए. में प्रवेश लिया। उन्हें 90 रुपया मासिक छात्रवृत्ति मिलती थी। एम. ए. के साथ–साथ वे कानून की पढ़ाई भी शुरू कर चुके थे।

कलकत्ता उन दिनों भारत का महान शिक्षा केन्द्र था तथा राजनैतिक गतिविधियों का अड्डा था। बंगाल ने अंग्रेजी शासन की क्रूरता झेली थी। अतः इस जमीन पर सबसे अधिक क्रांतिकारी पैदा हुये। विद्यार्थी वर्ग भी संवेदनशील हुआ। बंग–भंग की घोषणा होते ही कलकत्ता नगर में जो राजनैतिक प्रतिक्रिया हुई उसका सबसे अधिक प्रभाव छात्र वर्ग पर पड़ा। तिलक की तर्ज पर स्वदेशी की स्थापना और विदेशी माल के बहिष्कार का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। राजेन्द्र बाबू और उनके बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद स्वदेशी आन्दोलन में कूद पड़े। महेन्द्र प्रसाद बहुत पहले स्वदेशी अपना चुके थे। राजेन्द्र बाबू ने भी स्वदेशी अपनाने का निश्चय कर लिया।

राजेन्द्र प्रसाद के प्रस्ताव पर 1906 में छात्र संगठन की स्थापना बिहार में हुई। 1906 में ही राजेन्द्र प्रसाद ने बी. ए. परीक्षा पास की। इस परीक्षा में वे विश्वविद्यालय में प्रथम आये। 90 रुपया मासिक छात्रवृत्ति के साथ उन्होंने एम. ए. में दाखिला लेने के साथ बी. एल. में भी दाखिला ले लिया था। एम. ए., बी. एल. का अध्ययन करते समय राजेन्द्र प्रसाद छात्र संगठन में भी सक्रिय रहे। डा. सच्चिदानन्द सिन्हा के सुझाव पर राजेन्द्र प्रसाद ने आई. सी. एस. की तैयारी के लिये विदेश जाने का मन भी बनाया लेकिन पारिवारिक मोह और परिस्थितियोंवश उन्होंने विदेश जाने का इरादा त्याग दिया और निश्चित होकर एम. ए. बी. एल. की पढ़ाई में लग गये।

मार्च 1907 में उनके पिता की मृत्यु हो गई। राजेन्द्र प्रसाद के जीवन पर यह क्रूर प्रहार था। अंग्रेजी से एम. ए. की परीक्षा राजेन्द्र प्रसाद ने सन 1908 में उत्तीर्ण की। इस बार वे सबसे अधिक अंक नहीं ला पाये थे। पिछले दो सालों से हुई मानसिक तथा पारिवारिक उथल–पुथल के कारण वे जमकर पढ़ाई नही कर सके थे। 1908 में उन्होंने मुजफ्फरनगर कालेज में अंग्रेजी के प्रोफेसर के रूप में नियुक्ति ले ली। बड़े भाई नहीं चाहते थे कि वे नौकरी करें, परन्तु बड़े भाई के निरंतर दबाव और बदली परिस्थितियों के कारण राजेन्द्र बाबू ने नौकरी छोड़ दी और मार्च 1909 में बी. एल. की पढ़ाई पूरी करने कलकत्ता चले गये। उन दिनों बी. एल. की डिग्री लेने के लिये दो परीक्षायें देने पड़ती थी। पहली परीक्षा तो कालेज की कक्षाओं के आधार पर होती थी। दूसरी परीक्षा देने के लिये किसी वकील के सहयोगी के रूप में दो वर्ष तक काम करना पड़ता था। कालेज के पाठ्यक्रम पर आधारित परीक्षा तो राजेन्द्र बाबू ने पास कर ली, परन्तु किसी वकील के साथ काम करने के लिये अपना खर्च चलाना मुश्किल हो गया। घर की आर्थिक स्थिति अब ऐसी नहीं रही थी कि घर से पैसा लिया जाये। राजेन्द्र प्रसाद अपने बड़े भाई पर और अधिक बोझ नहीं बनना चाहते थे, अतः उन्होंने चुपचाप कलकत्ता के सिटी कालेज में अध्यापन का काम ले लिया। कुछ छात्रों को वे घर पर बुलाकर भी पढ़ाने लगे। जस्टिस दिगम्बर चौधरी का लड़का उनसे पढ़ने आने लगा।

जस्टिस चौधरी ने राजेन्द्र बाबू को नगर के नामी वकील शम्सुलहुदा के पास भेज दिया। एडवोकेट शम्सुलहुदा बहुत अच्छे इंसान थे। यहाँ पूरे मनोयोग से राजेन्द्र बाबू वकालत सीखने लगे। इसी बीच सन 1910 में गोपाल कृष्ण गोखले कलकत्ता आये। उन्होंने बिहार के प्रतिभाशाली छात्रों से सम्पर्क किया। राजेन्द्र प्रसाद और गोपाल कृष्ण गोखले की मुलाकात हुई। राजेन्द्र बाबू ने गोखले जी की "सर्वेट्स आफ इंडिया सोसाइटी" में शामिल हो जाने का मन बनाया किन्तु पारिवारिक परिस्थितियों के कारण वह ऐसा न कर सके। उन्होंने "सर्वेट्स आफ इंडिया सोयाइटी" की सदस्यता ले ली, परन्तु घर नहीं छोड़ सके। कुछ दिनों बाद माँ की मृत्यु हो गई। पिता के बाद माँ का स्वर्गवास हो जाना राजेन्द्र प्रसाद को गहरी चोट दे गया। माँ की मृत्यु के बाद राजेन्द्र प्रसाद वकालत और एम. एल. का कोर्स करने में लग गये।

वकालत के दौरान सर आशुतोष मुखर्जी जो मुख्य न्यायाधीश होने के साथ–साथ देश के एक प्रसिद्ध वकील थे ने राजेन्द्र प्रसाद को लॉ कालेज में पढ़ाने के लिये कहा। भाई महेन्द्र प्रसाद ने उन्हें लॉ कालेज में पढ़ाने की स्वीकृति दे दी और राजेन्द्र प्रसाद ने लॉ कालेज में पढ़ाना शुरू कर दिया।

व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान

इस प्रकार राजेन्द्र प्रसाद एक साथ चार कामों में जुट गये – एम. एल. की पढ़ाई, वकालत का काम, लॉ कालेज में प्रोफेसर तथा सामाजिक व राजनैतिक मंचों से जुड़े कार्य। यहाँ से उनके व्यक्तित्व में निखार आने लगा। उनका आत्मविश्वास पहले से कई गुना बढ़ गया। चारों कामों में उन्हें भारी सफलता मिलने लगी। अध्ययन काल की उनकी लगनशीलता, एकाग्रता, गुरूजनों का सम्मान, पारिवारिक जुड़ाव, मित्रजन व आमजन से सदभावना और प्रेम का सम्बन्ध, देश के प्रति समर्थन ने उनको एक उच्चकोटि का व्यक्तित्व प्रदान किया। उन्होंने अपनी आन्तरिक और बाह्य प्रवृत्तियों एवं कर्म–धर्म के अभेद आचरण से मर्म–धर्म की मर्यादाओं का पालन कर उस पर अपनी छाप लगा दी। उनकी असाधारण प्रतिभा, उनके स्वभाव का माधुर्य, चरित्र की विशालता

और आत्म त्याग के उनके महान गुणों ने उन्हें हमारे सभी नेताओं से अधिक व्यापक और प्रिय बना दिया है। राजेन्द्र प्रसाद के व्यक्तित्व से सीख लेकर आज भारत का जन–जन देश के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्ण एवं ईमानदारी से निर्वहन कर सकता है।

परतन्त्रता काल की शिक्षा के प्रति असंतोष

महान नेताओं में देश के स्वाधीनता आन्दोलन के बीच परतन्त्रता काल की शिक्षा के प्रति घोर असंतोष था। स्वामी विवेकानन्द, आचार्य विनोबा भावे, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा गाँधी, राजेन्द्र प्रसाद आदि उन प्रमुख नेताओं में थे जिन्हें परतन्त्रता काल की शिक्षा व्यवस्था कतई स्वीकार नहीं थी। इसी श्रेणी में राजेन्द्र प्रसाद थे। उन्होंने भावी भारतीय शिक्षा के लिये जो मार्ग प्रशस्त किया वह अत्यन्त उपयोगी ग्राह्य तथा देश की परिस्थितियों के अनुकूल है। उन्हीं के शब्दों में जो उन्होंने "शिक्षा का सांस्कृतिक आधार" विषय पर व्यक्त किये है को उद्धरित करना आवश्यक है। हमारी शिक्षा के केन्द्र जनता और शिक्षितों के बीच खाई खोदने वाले यंत्र अब न रहे जैसे कि वे विदेशी भाषा के कारण आज तक रहे हैं। .... किन्तु जीवन की सफलता प्राप्त करने के लिये विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों में आज तक जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती है उसमें आवश्यक सुधार करने की आवश्यकता है। अंग्रेजी सल्तनत ने भारत में विश्वविद्यालयों का प्रारम्भ और संगठन मुख्यतः अपने राज्य के संचालन की दृष्टि से किया था। अंग्रेजी शासन चलाने के लिये उन्हें ऐसे पढ़े लिखे नवयुवकों की जरूरत थी जो अंग्रेजी भाषा की मार्फत उनके दफ्तरों का कार्य योग्यतापूर्वक कर सकें और साथ ही अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव भी हिन्दुस्तान में मदद दें। एक विदेशी सत्ता के लिये ऐसा करना स्वाभाविक ही था। हमारी शिक्षा–पद्धति का सम्बन्ध राष्ट्रीय जीवन से नही के बराबर था।"

उन्होंने आगे कहा है – "एक और विषय है जिसको मैं बहुत महत्व का समझता हूँ। वह है नैतिक या आध्यात्मिक शिक्षा। दुर्भाग्यवश अंग्रेजी राज्य के जमाने

में इस ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया। फलतः आज विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों का ध्यान नैतिक व आध्यात्मिकता की ओर जाता ही नहीं, और एक प्रकार से उनमें उसका अभाव सा होता है। नैतिक शिक्षण से मेरा अर्थ किसी धर्म–विशेष का शिक्षण नहीं है। किन्तु यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को सभी धर्मों के मूल सिद्धान्त की सामान्य जानकारी हो और सर्व–धर्म समभाव का आदर्श उनके सामने उपस्थित किया जाये। विभिन्न देशों के महापुरुषों का जीवन और उनके आध्यात्मिक विचारों का अध्ययन हमारा आवश्यक अंग माना जाना चाहिये। बिना नैतिक शिक्षण के कोई भी शिक्षा–पद्धति पूर्ण नहीं की जा सकती .... स्वतन्त्र भारत की शिक्षा हमारे देश की प्राचीन संस्कृति के अनुरूप होनी चाहिये। उसकी जड़ इस भूमि में हो, न कि विदेशों की संस्कृति में। .... हमें फिर से यह आत्मिक सम्बन्ध कायम करना है ताकि नवयुवकों में चरित्र–बल उत्पन्न हो सके और आजाद भारत के भविष्य की पक्की नींव पड़ सके। हम यह न भूलें कि चरित्र–गठन के बिना हमारे शिक्षण की इमारत रेती की नींव पर ही खड़ी रहेगी और जरा सा तूफान आने पर वह गिरकर मिट्टी में मिल जायेगी।''

डा. राजेन्द्र प्रसाद के उक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि उन्हें परतन्त्रताकालीन शिक्षा पूर्णरूप से अस्वीकार थी चाहे उसमें भाषा का सवाल हो या पाठ्यक्रम का। उनके अनुसार शिक्षा में राष्ट्रभाषा तथा प्रादेशिक भाषाओं का उपयोग, राष्ट्र भाषा का समृद्धीकरण, जन उपयोग में आने वाले शब्दों को भाषा में समाहित करना, विदेशी भाषा के शब्द जो जन उपयोग में है राष्ट्रभाषा में सम्मिलित करना तथा उर्दू एवं स्थानीय भाषाओं के शब्द जो आम चलन में है राष्ट्रभाषा में सम्मिलित कर उसे धनी बनाना है इसी प्रकार तकनीकी शब्दों – मेडीकल, इन्जीनियरिंग आदि से सम्बन्धित शब्दों को भी शामिल करना आवश्यक है। तभी हम राष्ट्रभाषा (हिन्दुस्तानी) को शिक्षा का माध्यम बना सकते है।

अध्यापन कार्य का अनुभव

जुलाई 1908 में उन्होंने मुजफ्फरनगर कालेज में अंग्रेजी के प्रोफेसर के रूप में नियुक्ति ले ली। बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद नहीं चाहते थे कि वे नौकरी करें, परन्तु बड़े भाई की आमदनी से घर का खर्च चलता मुश्किल हो रहा था। यह बात राजेन्द्र प्रसाद से छुपी न थी, इसलिये उन्होंने बी. एल. की पढ़ाई अधूरी छोड़कर घर की जिम्मेदारी में बड़े भाई का हाथ बंटाने के उद्देश्य से कालेज की नौकरी स्वीकार कर ली थी। राजेन्द्र प्रसाद की अध्यापन शैली इतनी सटीक और सरल थी कि छात्र उनकी उपस्थिति से हर्षित हो उठते थे। राजेन्द्र प्रसाद के रूप में मानो कालेज में नया उल्लास और नया जोश आ गया हो।

कुछ समय बाद भाई के निरंतर दबाव और कालेज की बदली परिस्थितियों के कारण राजेन्द्र बाबू ने यह नौकरी छोड़ दी और वह फिर बी. एल. की पढ़ाई पूरी करने में लग गये। बी. एल. की पढ़ाई के दौरान घर की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि घर से पैसा लिया जाये। अतः उन्होंने चुपचाप कलकत्ता के सिटी कालेज में अध्यापन का काम ले लिया। कुछ छात्रों को वह घर पर बुलाकर पढ़ाने लगे।

वकालत करने के दौरान कलकत्ता हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश सर आशुतोष मुखर्जी की सलाह पर और अपने बड़े भाई महेन्द्र प्रसाद से स्वीकृत लेकर राजेन्द्र प्रसाद ने कलकत्ता कालेज में पढ़ाना शुरू कर दिया था।

कांग्रेज के पहले अधिवेशन में यह फैसला लिया जा चुका था कि सरकारी शिक्षण संस्थाओं का बहिष्कार किया जाये और स्वदेशी स्कूल खोले जाये। राजेन्द्र प्रसाद इस समस्या से चिन्तित थे। पटना में एक राष्ट्रीय महाविद्यालय की स्थापना करने में उन्हें सफलता मिल गई। उन्होंने अपना पटना स्थित आवास त्याग दिया और इसी महाविद्यालय में रहने लगे। राष्ट्रीय महाविद्यालय के प्रधानाचार्य का दायित्व शीघ्र ही राजेन्द्र बाबू को सौंप दिया गया। मौलाना मजरूलहक अपनी समस्त सम्पत्ति, जमीन और बाग आदि को बिहार के राष्ट्रीय महाविद्यालय (बिहार विद्यापीठ) के नाम कर

साधारण आदमी की जीवन–शैली स्वीकार कर चुके थे। हिन्दू–मुस्लिम एकता के उद्देश्य से महाविद्यालय स्थल का नाम सदाकत आश्रम रखा गया।

बिहार में साम्प्रदायिक एकता बनाये रखने का दायित्व मौलावा मजरूलहक और राजेन्द्र को सौंपा गया। मौलाना मजरूलहक और राजेन्द्र प्रसाद के प्रयासों से बिहार में साम्प्रदायिक तनाव कभी नहीं बढ़ा। ऐसे दंगों से बिहार प्रायः मुक्त ही रहा।

राजेन्द्र बाबू को राजनैतिक हस्ती से ज्यादा समाजसेवी, कानूनविद् और शिक्षाविद् माना जाता था।

राजेन्द्र बाबू ने हिन्दी भाषा और साहित्य की व्यापक सेवा अपने विद्यार्थी जीवनकाल से ही की। हिन्दी जगत में उन्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। शिक्षा में आमूल–चूल परिवर्तन लाने में राजेन्द्र प्रसाद ने विशेष भूमिका अदा की।

डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन

डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन

पारिवारिक स्थिति एवं प्रारम्भिक शिक्षा

मद्रास से उत्तर पश्चिम 60 किमी. दूर तिरुत्तनी गाँव में एक तेलगू ब्राह्मण परिवार में 5 सितम्बर 1888 को सर्वपल्ली राधाकृष्णन का जन्म हुआ था। इसी के पास सर्वपल्ली गाँव है जहाँ से उनके परदादा तिरुतनी आ गये थे। राधाकृष्णन के पिता वीरस्वामी पुरोहिताई करते थे। धर्म, अनुराग, धर्म प्रसार की भावना और ईश्वर भक्ति राधाकृष्णन को विरासत में मिली थी। राधाकृष्णन पाँच भाई थे। आपकी बहिन श्रीमती कृष्णमूर्ति का परिवार तिरुत्तनी में ही रहता रहा है।

डा. राधाकृष्णन बचपन से दुबले पतले थे। राधाकृष्णन के माता–पिता सम्पन्न और धनाडय तो नहीं थे लेकिन सर्वथा अभावयुक्त भी नहीं थे। राधाकृष्णन ने विश्व में जो स्थान पाया वह उनके पुरुषार्थ और अपने भागीरथ प्रयत्नों का ही फल है। उन्होंने अपना निर्माण स्वयं किया था।

बालक राधाकृष्णन संकोची और लचीले स्वभाव के थे। बचपन से ही उनका स्वभाव रहा कि वह देखी और पढ़ी चीजों पर एकांत में बैठकर विचार करें। इस स्वभाव ने ही उन्हें संयमी बनाया। प्रबल अनुभूतियों, रागद्वेष और क्रोध क्षोम पर विजय पाना संभव कर लिया, यही कारण था कि उनके मित्र कहते थे कि राधाकृष्णन तो क्रोध करना जानते ही नहीं। वास्तव में वह स्वभावगत क्रोध कर ही नहीं सकते थे। उन्होंने प्रारम्भ से ही कामादिरिपु को जीतने का प्रयास किया है। चिन्तन ने इसमें मदद की है। संगी साथियों की अपेक्षा पुस्तकें उनको सदा प्रिय रही है। पढ़ना और विद्याभास करने का आभाव उनको बचपन से ही था।

वह अपने माता–पिता की दूसरी संतान थे। परिवार में राधाकृष्णन के पुत्र डा. गोपाल पर राष्ट्र मंत्रालय में इतिहास विभाग के निर्देशक थे। आपके पाँच पुत्रियाँ हुई। डा. राधाकृष्णन का भरापूरा परिवार है। पर वे निरसंग ही रहे। डा. गोपाल ही यदाकदा उनके साथ रहते थे अन्यथा वे एकांकी ही रहते थे। उनके एक दामाद

जस्टिस शेषाचलय, दूसरे डा. के. एन. राव स्वास्थ्य विभाग के डाईरेक्टर, तीसरे डा. शाण्डिल्य पेराम्पुर कोंच फैक्ट्री के वित्तीय विभाग के डाईरेक्टर, चौथे शेषगिरी राव एडवोकेट और पाँचवें श्रीराम बम्बई में डाइरेक्टर आफ आडिट थे।

राधाकृष्णन की स्मरण–शक्ति बहुत प्रबल थी। छात्र जीवन में उनको गरीबी से कदम–कदम पर लड़ना पड़ा था। इस संघर्ष से पराजित नहीं हुये और न घबड़ाये। उनका कहना था कि इसमें क्या रखा है कि वह सोने का चम्मच मुँह में लेकर पैदा हुआ या लकड़ी का मुख्य बात यह है कि वह क्या वस्तु ग्रहण करता है।

राधाकृष्णन जिन दिनों विद्यार्थी थे अपनी कक्षा से दो तीन कक्षा नीचे के विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। राधाकृष्णन के जीवन के विषय में सर्वोत्तम जानकारी उनकी पुस्तक 'माई सर्च फार ट्रुथ' (सत्य के लिये मेरी खोज) के प्रारम्भिक उद्धरण से प्राप्त की जा सकती है।

"मेरा जन्म दक्षिण भारत में मद्रास से ४० मील उत्तर पश्चिम में एक छोटे से कस्बे तिरुत्तनी में 5 सितम्बर 1888 को हुआ था। मैं एक हिन्दू माँ बाप की दूसरी संतान था जिनकी सोच धार्मिक और पारम्परिक थी। जन्म और सम्पत्ति का मैंने कोई लाभ नहीं उठाया। मेरे जीवन के प्रारम्भिक 12 वर्ष तिरुत्तनी और तिरुपति में बीते और ये दोनों ही प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। मैं इस बात का आंकलन नहीं कर सकता कि यथासमय मुझे स्वयं (आत्म) का ज्ञान प्राप्त हुआ और घटना प्रवाह के पीछे एक अदृष्ट विश्व की वास्तविकता में मेरा दृढ़ विश्वास बना। इस अनदेखे विश्व को हम इन्द्रियों से नहीं, बल्कि मन से समझ सकते है और जब भी मुझे गम्भीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा मेरा यह विश्वास अटल रहा है।[1]

राधाकृष्णन के पिता सर्वपल्ली वीरा स्वामी पुरोहताई के अलावा स्थानीय जमींदार के कोर्ट में एक अधीनस्थ राजस्व अधिकारी थे। उन्हें एक बड़े परिवार का खर्च चलाना था किन्तु फिर भी उन्होंने अपने पूरे प्रयास से राधाकृष्णन को पहले

1. 'माई सर्च फार ट्रुथ' डा. राधाकृष्णन कृत अंग्रेजी संस्करण – हिन्द पाकेट बुक्स, पेज–71

तिरुतनी हाईस्कूल बोर्ड और बाद में तिरुपति के हमें संवर्ग इवेंजेलिकल लूथरन मिशन स्कूल में पढ़ाया। हिन्दू संस्कारों और परम्पराओं के बावजूद उनके माता पिता ने उन्हें 8 वर्ष की अवस्था में ही एक जर्मन मिशन स्कूल में भर्ती कराया। लूथरन मिशन स्कूल में पढ़ाया। मैट्रिक पास करने के बाद राधाकृष्णन ने वेल्लोर के बोरी कालेज में छात्रवृत्ति सहित दाखिला लिया। वह चार वर्ष तक वेल्लोर के कालेज में रहे।

उन्होंने अंग्रेजी भाषा में कम समय में ही विद्वता हासिल कर ली थी और इसके माध्यम से उन्होंने भारतीय पुर्नजागरण को तीव्र किया ऐसा लगा जैसे अतीत अपनी सारी भव्यता के साथ लौट आया हो और दुनिया उसे आश्चर्य से देखती रही। ऐसे थे संस्कृत और दर्शन के विद्यार्थी सर्वपल्ली राधाकृष्णन।

उस समय की प्रथा के अनुसार राधाकृष्णन का विवाह भी छोटी आयु में ही हो गया। (शायद 12 वर्ष की उम्र में)। इसको वह बुरा नहीं मानते थे। बाल विवाह के के वे विरोधी है यह नहीं कहा जा सकता है इसमें कुछ संशोधन अवश्य चाहते थे। राधाकृष्णन के सामाजिक दर्शन का आधार मानवता है। विवाह संस्था समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है। विषय–भोग या कामवासना की परितृप्ति इसका आवश्यक भाग है। डा. राधाकृष्णन एक दार्शनिक के समान कहते हैं "कामवासना को विवाह संस्था के द्वारा उच्चतर जीवन के निर्माण के लिये हमें कच्ची सामग्री के रूप में स्वीकार करना चाहिये। पूर्ण विवाह में काम तृप्ति पवित्र हो जाती है और यह आंतरिक सौन्दर्य का बाह्य चिन्ह होता है।"

रंग गोरा, शरीर ऊँचा–पूरा और तगड़ा आनन के सारे अवयव आकर्षक और ठीक ढंग की पोशाक। वे शेरवानी या अचकन नहीं पहनते पर उनका कोट शेरवानी और अचकन से भी अधिक लम्बा रहता है। देश के बाहर वे पतलून पहनते थे और देश में धोती। सिर पर सफेद मद्रासी ढंग की पगड़ी रहती। ऐसे थे सर्वपल्ली राधाकृष्णन।

1. डा. सर्वपल्ली गोपाल – संदर्भित "सर्वपल्ली राधाकृष्णन" – प्रेमानन्द कुमार रचित (हिन्दी अनुवाद जवाहर लाल द्विवेदी) पृष्ठ–12 साहित्य अकादमी

2. माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा का व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान

1904 में राधाकृष्णन ने विशेष योग्यता से प्रथम कला परीक्षा पास की। उन्हें मद्रास के क्रिश्चियन कालेज में बी. ए. करने के लिये छात्रवृत्ति प्रदान की गई। अध्ययन के लिये उन्होंने दर्शनशास्त्र इसलिये चुना क्योंकि उनके चचेरे भाई से दर्शनशास्त्र की किताबें मुफ्त मिल रही थी जिसने उसी वर्ष बी. ए. पास किया था। इस तरह उन्होंने ऐसा करके काफी पैसा बचाया। आश्चर्य है कि उस समय का यह आकस्मिक चुनाव उन्हें सफलता के सर्वोच्च शिखर पर ले गया और उनके निजी दर्शन का निर्माण किया। उनके पुत्र डा. सर्वपल्ली गोपाल कहते हैं –

"इस तथ्य ने कि इसमें वे धकेल दिये गये थे और इस प्रक्रिया में गहन ज्ञान तथा विश्वव्यापी ख्याति मिली उन्हें इस बात का कायल बना दिया कि उनका जीवन उनका अपना नही बल्कि उस शक्ति की दस्तकारी है, जिसे प्रकृति, भाग्य, विधाता, ईश्वर या और कुछ कहा जाता है। जिस तरह उनकी सफलता फली फूली उससे वह इस बात पर दृढ़ निश्चयी हो गये थे कि उनका जीवन किसी अदृष्य हाथ द्वारा निर्मित हो रहा है। अधिक से अधिक वे इसे विभिन्न पहलुओं के सांचे में ढालने की कोशिश कर सकते हैं और वे अधिकतम मात्रा में स्वयं को अपने निर्णयों को और अपने विवेक को अपने उसी नक्षत्र में प्रति प्रतिबद्ध मानते थे।"(1)

राधाकृष्णन दार्शनिक हुये यह एक दैव संयोग की बात है। वे अपनी इच्छा अन्तःकरण की प्रेरणा से दार्शनिक नहीं हुये। भाग्य ने उन्हें ऐतिहासिक से दार्शनिक बना दिया। बी. ए. में वह कौन कौन से विषय लें वह युवा छात्र राधाकृष्णन सोच रहा था। कोई निश्चय नहीं कर पा रहा था। उसी समय उनके चचेरे भाई ने दर्शन की अपनी सभी किताबें दी और कहा कि 'फिलासफी लो तर जाओगे।'

मद्रास क्रिश्चियन कालेज में राधाकृष्णन का जीवन भाग्यशाली रहा। अंग्रेजी

1. "सर्वपल्ली राधाकृष्णन" – प्रेमानन्द कुमार, हिन्दी अनुवाद जवाहर लाल द्विवेदी, प्रकाशक साहित्य अकादमी, पृ. 12

साहित्य के विख्यात शिक्षक विलियम मिलर तथा दर्शन के शिक्षक विलियम स्किनर और ए. जी. हांग उनके प्रेरणा–स्रोत थे। ये शिक्षक ईसाई मिशनरियों जैसे धर्मान्ध अथवा संकीर्ण विचारों के नहीं थे। राधाकृष्णन का इनसे गहरा लगाव हो गया था। इन शिक्षकों की विशाल विद्विता, विश्लेषणवादी सोच और अपने निजी के प्रति इनके निष्ठापूर्ण लगाव पर राधाकृष्णन मोहित थे। उन्हें लगा कि एक वृहत चेतना का अंग होकर भी धार्मिक दायरे में रहा जा सकता है। इस प्रकार इस भावी आचार्य का यह काल अत्यन्त फलप्रद रहा। सन 1906 में राधाकृष्णन ने प्रथम श्रेणी में बी. ए. पास किया। उन्होंने 25 रुपया प्रतिमाह की छात्रवृत्ति स्वीकार करते हुये एम. ए. में दाखिला ले लिया। संघर्ष भरे इन वर्षों के दौरान बाह्य कठिनाइयां उनके आंतरिक उद्देश्य में बाधक नहीं बन सकी थी जो कि वेदांत दर्शन की श्रेष्ठता को परिपुष्ट करने वाला था।

राधाकृष्णन में सोद्देश्यता की इस भावना का जन्म उनके विद्यार्थी–जीवन में ही हो गया था, जो कि ईसाई मिशनरी संस्थाओं में बीता। इन संस्थाओं में उन्हें बाइबिल तथा हिन्दू धर्म विषयक निन्दात्मक टिप्पणियों का सामना करना पड़ा। इन संस्थाओं में दी जा रही उच्चस्तरीय शिक्षा के प्रति राधाकृष्णन के हृदय में अत्यन्त सम्मान का भाव था किन्तु कक्षा में किये जा रहे हिन्दू धर्म के अपवित्रीकरण पर उन्हें गहरा दुख था। यहाँ तक कि हांग जैसे शिक्षक भी जिन्हें व्याख्यानों और लेखों में विचार का एक सीमित अनिश्चय, एक योग्य सयंम किसी मामले के सभी पहलुओं के प्रति एक कर्तव्यनिष्ठ सम्मान तथा किसी वक्तव्य के लिये सभी विशेषतायें सुनिश्चित करने की चिंता होती थी – 'गीता' की अपनी व्याख्याओं से वे युवा विद्यार्थियों को आहत करते थे। 'गीता' के विषय में कहा जा रहा था कि यह जीवन की तापस (तपस्या) वृत्ति को अस्वीकार करती है। राधाकृष्णन जो स्वामी विवेकानन्द के महान कार्य तथा वाक्पटुता से प्रभावित थे इस पवित्र ग्रन्थ पर ऐसे निष्कर्ष स्वीकार नहीं कर सके।''[1]

उन्होंने भारी जिज्ञासु भाव से पढ़ना शुरू किया तथा अपने कम्प्यूटर जैसे

1. ''सर्वपल्ली राधाकृष्णन'' – प्रेमानन्द कुमार कृत (हिन्दी अनुवाद) प्रकाशक साहित्य अकादमी, पृ. 13

मस्तिष्क में ढेरों सूचनायें इकट्ठी कर ली जो कि बाद के वर्षों में एक अद्भुत स्मृतिकोष के रूप में प्रशंसित होने लगा। जैसे–जैसे राधाकृष्णन अपने अध्ययन में आगे बढ़ते गये, हिन्दू धर्म उन्हें एक आश्चर्यजनक सृष्टि जैसा प्रतीत होने लगा। अपने प्रतिनिधियों की पण्डिताई के कारण हिन्दू धर्म किनारे होता जा रहा था। ऐसी स्थिति में समस्त भारतीय दर्शन के सामने शैक्षिक विनाश का खतरा था, इसका स्थान पश्चिमी दार्शनिक लेते जा रहे थे जो पाश्चात्य शिक्षा के साथ भारतीय मानस में घुस आये थे। राधाकृष्णन ने अन्तर्ज्ञात रूप से यह महसूस किया कि भारतीय दर्शन कांच या तापग्रह का कोई पौधा नहीं है जिसे मनचाहा रूप दिया जा सके और न आधुनिक विश्व की सभी कृत्रिमतायें उन्हें अन्यथा कायल कर सकती थी। जैसे कि उन्होंने कहा है –

"यहाँ तक कि बिचारे गरीब अशिक्षित ग्रामीण, जो कि अपनी पारिवारिक परम्पराओं तथा धार्मिक क्रियाकलापों से बंधे हैं, जीवन और साहसिक कार्य के प्रति ज्यादा उत्सुक उन आरामतलब, उन्मुक्त बुद्धिजीवियों की अपेक्षा विश्व के आध्यात्मिक रहस्य से ज्यादा परिचित है। वे उन प्राचीन तथ्यों और सत्यों के बारे में जानते है जिन पर मानव मस्तिष्क आदिकाल से सोचता रहा है।"

इस तरह की सोच से उन्हें 'द एथिक्स आफ द वेदांत : एण्ड इट्स मेटाफ़िजिकल प्रिजम्पसंश (वेदांत का आचार–शस्त्र एवं इसकी तात्विक पूर्वधारायें) एक शोध प्रबन्ध लिखने का प्रोत्साहन मिला। यह प्रबन्ध लेखन एम. ए. की परीक्षा के लिये एक आंशिक शर्त की पूर्ति करता था। सौभाग्य से उन्हें हॉग से प्रोत्साहन मिला। हॉग ने उन्हें एक आकर्षक प्रमाण पत्र दिया जिसमें उन्होंने वेदांत के आचार शास्त्र (द एथीक्स आफ द वेदांत) का संदर्भ दिया। यह लघु शोध प्रबन्ध जिसे राधाकृष्णन ने इस डिग्री के लिये अपने अध्ययन के दूसरे साल में तैयार किया था, दार्शनिक समस्या के मुख्य पहलुओं की एक विलक्षण समझ प्रस्तुत करता है, एक जटिल पहलू को सरलतम ढंग से समझने की क्षमता रखता है जो कि अच्छी अंग्रेजी के औसत पाण्डित्व से बहुत अधिक बढ़कर है।

डा. ए. जी. हॉग ने सर्वपल्ली राधाकृष्णन को प्रेरित किया था कि वे हिन्दू धर्म के यथार्थ रूप को पश्चिम के सम्मुख ऐसी भाषा में रखें जो पश्चिमी जगत की समझ में आ जाये। उन्होंने यह जीवनवृत उसी समय लिया।

एम. ए. की पढ़ाई पूरी करने के बाद राधाकृष्णन उच्च शिक्षा के लिये विदेश जा सकते थे लेकिन अर्थाभाव के कारण यह सम्भव न हुआ। आपने सभी परीक्षायें, विशिष्ट योग्यता के साथ उत्तीर्ण की थी परन्तु फिर भी अपने और दो साल डाक्टरेट लेने के लिये नहीं लगाये। यह आज एक विचित्र बात प्रतीत होगी परन्तु इसका कारण भी उनमें अध्ययन प्रियता का अभाव नही गरीबी है। उन्हीं के शब्दों में "एक विद्यार्थी सुखद जीवन नही बिता सकता" सुखार्थिन कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम। "सुखार्थी ज्ञान अर्जित नहीं कर सकता। अगर कोई व्यक्ति सच्चा विद्यार्थी बनना चाहता है तो उसे उत्कट कर्मी बनना होगा और कठोर एवं अनुशासित जीवन बिताना होगा।"

डा. हॉग ने भविष्यवाणी की थी "यह विद्यार्थी दर्शनशास्त्र को बहुत अच्छी तरह समझता है और दार्शनिक समस्याओं में गहरी सूझ–बूझ से काम लेता है। किसी उलझन पैदा करने वाले तर्कों को सुलझाने में विद्यार्थी की प्रतिभा प्रशंसनीय है। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी को अंग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान है।"

इस प्रकार से पारिवारिक विरासत में प्राप्त धर्म, अनुराग, धर्म प्रसार की भावना और ईश्वर भक्ति ने राधाकृष्णन का बाल्यकाल से ही दार्शनिक का व्यक्तित्व गठन करना शुरू कर दिया था। उच्च शिक्षाकाल में मिशनरियों द्वारा हिन्दू धर्म विषयक टिप्पणियों से उत्पन्न क्षोम के कारण उन्होंने जिज्ञासु भाव से अध्ययन शुरू किया जिसने उन्हें दार्शनिक समस्या के मुख्य पहलुओं को समझने की एक विलक्षण बुद्धि प्रदान की और विश्व के एक महान दार्शनिक बनकर उभरे।

उपरोक्त प्रकार से डा. राधाकृष्णन की माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा में लगनपूर्ण अध्ययनशीलता, तार्किक विवेचना एवं तुलनात्मक अध्ययन और निष्कर्ष व्यक्तित्व निर्माण के आधार बिन्दु प्रदर्शित करते हैं।

3. देश के परतंत्रता काल की शिक्षा के प्रति असंतोष

सर्वपल्ली राधाकृष्णन तत्कालीन शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते थे। उनके अनुसार "शिक्षा का उद्देश्य केवल परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाना अथवा पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर लेना ही नहीं होता अपितु शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य मस्तिष्क की आंतरिक शक्तियों को विकसित, प्रशिक्षित एवं अनुशासित करने के साथ–साथ बालकों को स्वतन्त्रता प्रदान कर रूढ़िवादिता के अंत तथा प्रकृति से निकटता प्राप्त करना होता है। आज की शिक्षा अमानवीय और कृत्रिम हो गई है। वास्तविक रूप में आज की शिक्षा अपने तथ्य की पूर्ति करने में असफल है। इसका लक्ष्य और उद्देश्य ही दूसरा है। वह मानव को उसके वास्तविक गुण एवं उच्च मर्यादा से परिचित नहीं करा पाते क्योंकि इसका ढांचा ही शिक्षा के वास्तविक स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। वर्तमान शिक्षा में मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की अवहेलना की जाती है। राधाकृष्णन विचार से हमारे समाज का नवनिर्माण आध्यात्मवाद द्वारा ही संभव है, परन्तु इसके ठीक उल्टा हमारे यहाँ भौतिकवाद को प्रश्रय मिलता है। अतः शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति के लिये हमे अपनी शिक्षण संस्थाओं में आध्यात्मिक शिक्षा के प्रचलन की आवश्यकता है।" जिन लोगों में त्यागशीलता, निःस्वार्थ सेवा भावना तथा परमात्मा में आस्था है, उन्हें समाज को प्रगति पथ पर अग्रसारित करने के निमित्त शिक्षा के इस उद्देश्य में संलग्नशील होने की आवश्यकता है।

उस समय की शिक्षा का उद्देश्य अंग्रेजी शासन की तर्ज पर लोगों को पढ़ा लिखाकर सरकारी सेवकों की भर्ती करना मात्र था तथा पूर्व रोपित आंग्लभाषा का भारत में उच्चतर विकास करना है। इससे पढ़े लिखे लोगों की साधारण सरकारी सेवाओं में भर्ती तथा अंग्रेजी भाषा एवं सभ्यता का समृद्धीकरण ही शिक्षा का उद्देश्य रह गया था। इस शिक्षा पद्धति से राधाकृष्णन सहमत नही थे।

डा. राधाकृष्णन ने अपनी चिन्तन श्रृंखला में "रचनात्मक जीवन" विषय पर अपने विचार प्रकट किये है –

"वही व्यक्ति सच्चे अर्थों में शिक्षित कहा जा सकता है जो सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों और पूर्वधारणाओं से युक्त हो और जो सबको अपना बंधु मानता हो। शिक्षा का उद्देश्य क्या है ? इसे दूसरा जन्म माना गया है। इसका अर्थ है अपने वर्तमान स्वरूप से भिन्न दूसरा स्वरूप प्राप्त करना अर्थात एक ऐसा स्वरूप प्राप्त करना जो पहले विद्यमान न हो। "माता सावित्री पिता आचार्य।" गुरू शिष्य के मन में एक ऐसी चिनकारी जमाता है जिसके प्रभाव से शिष्य के जीवन में एक नई दृष्टि और एक नया स्वरूप उभरता है।"

आगे उन्होंने लिखा है –

"शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य मात्र जानकारी एकत्रित करना नही है, भले ही वे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो ? आधुनिक समाज में तकनीकी कौशल की अत्यन्त आवश्यकता है लेकिन शिक्षा का अंतिम उद्देश्य इस प्रकार का कौशल प्राप्त करना भी नही है। हमें एक ऐसी दृष्टि प्राप्त करनी होगी जो जानकारी और तकनीकी कौशल के आगे भी देख सके।"

"विद्यार्थियों को काव्यों का अध्ययन अवश्य करना चाहिये। प्रत्येक विद्यार्थी को सिर्फ पाठ्य पुस्तकों या अध्यापक द्वारा परीक्षा पास करने के लिये दिये गये नोट्स के रूप में ही नहीं, पूर्णरूप में ही प्राचीन काव्यों का अध्ययन करना चाहिये, भले ही वे पूर्व के विद्वानों की रचनायें हो या पश्चिम के विद्वानों की, इससे कोई अन्तर नही पड़ता।"[1]

एक जगह उन्होंने शिक्षा के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुये लिखा है – "हमें पक्षियों सदृश हवा में उड़ना सिखाया जाता है, मछलियों के सदृश हमें पानी में तैरना सिखाया जाता है, परन्तु हम जमीन पर किस तरह रहें यह हम नहीं जानते।"

एक बार जबलपुर में उन्होंने महाभारत के विष्णु सहस्त्रनाम स्रोत के ध्यान सम्बन्धी एक श्लोक का एक चररा कहा था "शाताकारं भुजंगशयनम।" जीवन को किस

1. 'रचनात्मक जीवन' डा. राधाकृष्णन कृत प्रकाशक हिन्द पाकेट बुक्स, पृ. 21-22

प्रकार चलाया जावे इस सम्बन्ध में हमारे धर्मशास्त्र भरे पड़े है। इस विषय की बड़ी–बड़ी व्याख्यायें है। परन्तु शायद 'शान्ताकारं भुजंगशयनम' से अधिक सुन्दर और संक्षिप्त सूत्र के समान अन्य व्याख्या मिलना कठिन है। इस व्याख्या का अर्थ होता है कि 'जीवन विषधर भुजंग के सदृश है पर ऐसे भुजंग पर भी शांत मुद्रा से शयन करना चाहिये।

शिक्षा का रूप कैसा हो ? राधाकृष्णन के अनुसार कोई ऐसा व्यक्ति आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता है यदि वह भूखा हो अथवा दूसरों का गुलाम हो अथवा गदंगी या रोग से घिरा हो और उसे जीवन की आवश्यक चीजें भी उपलब्ध न हों। उनका कहना था कि विज्ञान और टेक्नोलॉजी ने मानव–जाति को बहुत सी अच्छी चीजें दी है और उसे इनका उपयोग करना चाहिये। इनसे जीवन की स्थितियों में सुधार लाया जा सकता है। यदि हम मनुष्य की चरित्रहीनता, वहशीपन तथा हठीलेपन को दूर करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम मानव–जाति के आध्यात्मिक साधनों को काम में लायें, आत्मा के सत्य को पहचानें और जीवन को सत्य के साँचे में ढ़ालें। उदारता विवेक तथा युक्ति आत्मा के सत्य है। स्वतन्त्रता के नाम पर जो स्वतन्त्रता से वंचित रखते है वे उन लोगों से कम खतरनाक नहीं है जो अनुशासन और सत्ता के नाम पर स्वतन्त्रता से वंचित रखते है। इसलिये विश्व में घृणा नहीं प्रेम, भय नही स्वतन्त्रता, संशय नहीं आस्था होनी चाहिये और तभी मानव–जाति का कल्याण होगा।

शिक्षा के उद्देश्य सम्बन्धी विचार उनकी "सर्च फार ट्रुथ" नामक पुस्तक तथा उनकी अध्यक्षता में सम्पादित विश्वविद्यालय कमीशन रिपोर्ट से स्पष्ट होते है।

राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक "फ्रीडम एण्ड कल्वर" (स्वतन्त्रता और संस्कृति) में शिक्षा के लक्ष्य के सम्बन्ध में लिखा है "शिक्षा का लक्ष्य हमें उच्च जीवन की प्राप्ति करना है। लोगों ने उसकी अनेक प्रकार की परिभाषायें दी है। कुछ लोगों ने उसे व्यक्ति का परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने का साधन बनना, व्यक्ति को आर्थिक व्यवस्था में यथोचित स्थान दिलाना अथवा व्यक्ति को श्रेष्ठ नागरिक बनने के लिये

तैयार करना बताया है। यह सब अपना महत्व रखते हैं पर शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य तो दूसरे लोक का दर्शन कराना है जो अदृश्य तथा अस्पृश्य है जो देश तथा काल के परे हैं। हम स्वर्ग के नागरिक है। देश एवं काल के भौतिक जगत में हमने जन्य ग्रहण किया है। हमें यह योग्यता प्रदान की जानी चाहिये जिससे हम स्वर्ग के राज्य में बेटे का अधिकार प्राप्त कर सके। शिक्षकों को चाहिये कि हमें दूसरा जन्म दे। ऐसा करना हमारी प्रकृति के प्रतिकूल किसी विजातीय इल्म को हमारे ऊपर जबरदस्ती लादना नहीं है। वह सिर्फ उसी को प्राप्त करने में हमारी सहायता करना है जो पहले से ही हमारे भीतर मौजूद है।

"अमरता तथा मृत्यु दोनों का ही निवास मनुष्य के हृदय में है। सांसारिक तड़क भड़क एवं कामोन्माद में पकड़र हम मृत्यु कीओर चले जाते हैं। सत्य की सेवा करके हम अमर जीवन प्राप्त कर लेते है। उसी सत्य की ओर बढ़ने में हमारी सहायता करना वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य है।"

वह मूलरूप से उस समय चल रही शिक्षा प्रणाली के विरोधी थे जो अंग्रेजियत एवं नौकरी के लिये अवसर प्रदान करती थी। स्वतन्त्र भारत में भी उसी प्रणाली से शिक्षा दी जा रही थी। राधाकृष्णन शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन के हिमायती थे। वह अंग्रेजी के विरोधी नहीं थे क्योंकि अंग्रेजी माध्यम से ही हमने शिक्षा के विभिन्न तकनीकित वैज्ञानिक क्षेत्रों में ज्ञान हासिल किया है। उनके सामाजिक दर्शन की विशेषता आध्यात्मवाद, सार्वभौमवाद और मानवतावाद है। मूलतः यह आध्यात्मिक है क्योंकि राधाकृष्णन का विश्वास है कि सम्पूर्ण विश्व और उसके सम्पूर्ण विस्तार में बृम्ह की आत्मा व्याप्त है। मानव समाज के कल्याण और मंगल के लिये यह दार्शनिक व्याकुल है किन्तु इस मानवतावाद का आधार आध्यात्म है, आत्मा की एकता है। यह आध्यात्मिक मानवतावाद है।

4. अध्यापन कार्य अनुभव

1909 में डा. राधाकृष्णन ने मद्रास प्रेसीडेंसी कालेज के दर्शन विभाग में

कार्य आरम्भ किया। 1910 में एल. टी. डिग्री के लिये उन्होंने सैदापेट के प्रशिक्षण कालेज में दाखिला लिया। उस आयु में भी दार्शनिक अवधारणाओं के व्याख्याता के रूप में उनकी प्रतिभा एकदम स्पष्ट थी। उनके प्रोफेसर ने अपने विद्यार्थियों के लिये राधाकृष्णन को 12 व्याख्यान देने के लिये राजी कर लिया।

मद्रास प्रेसीडेंसी कालेज में राधाकृष्णन 1911 में लौटे। यह एक शुभारम्भ था। जैसा कि डा. बालकृष्ण जोशी ने कहा है – "यहाँ वे शिक्षकों के बीच एक गुरू थे" मनोविज्ञान यूरोपीय चिन्तन तथा राजनीति दर्शन विषयक उनका पाठन इतना लोकप्रिय था कि अन्य कालेजों के विद्यार्थी भी उनकी कक्षाओं में उपस्थित होने लगे।

डा. सी. आर. रेडडी जो कि एक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे राधाकृष्णन को उनकी मद्रास शैक्षिक सेवा की स्थायी सेवा से बाहर विश्वविद्यालय के वातावरण में लाने वाले प्रेरणास्रोत रहे। 1918 में राधाकृष्णन मैसूर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर बन गये।

सन 1920 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में जब मानसिक तथा नैतिक विज्ञान के प्रोफेसर किंग जार्ज का पद रिक्त हुआ तो वाइस–चासंलर आशुतोष मुखर्जी ने उक्त पद के लिये राधाकृष्णन को आमंत्रित किया। इस पद पर उनकी नियुक्ति को भारी प्रशंसा मिली। साथ ही एक हजार रुपया मासिक वेतनमान ने उन्हें वित्तीय चिन्ताओं से भी मुक्त कर दिया।

1927 में लन्दन में विश्वविद्यालय कांग्रेस के समापन के बाद राधाकृष्णन ने संयुक्त राज्य अमेरिका की यात्रा की। राधाकृष्णन जब भारत लौटे तो स्वयं को उन्होंने यूनीवर्सिटी की राजनीति के पाश में जकड़ा पाया। वे विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में चुने गये थे तथा विश्वविद्यालयी संगठन समिति के एक महत्वपूर्ण सदस्य थे।

1931 में आन्ध्र विश्वविद्यालय वाल्टेयर में उप कुलपति बने। वाल्टेयर के रमणीय गाँव ने आश्रम सदृश्य वातावरण प्रस्तुत किया। वहाँ उनका पहला कार्य आनर्स तथा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों को निर्धारित करना था। राधाकृष्णन ने विज्ञान तथा कला

संकायों के कुछ उत्कृष्ट अध्यापकों को इकट्ठा किया तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी का पाठ्यक्रम तैय्यार करने में मदद के लिये सी. बी. रमन तथा एम. वैश्वेश्वरैया जैसे प्राख्यात व्यक्तियों को जोड़ दिया। उन्होंने शोध को प्रोत्साहित किया और आवासीय विश्वविद्यालय बनाने के लिये आक्सफोर्ड प्रारूप का इस्तेमाल किया तथा यूनीवर्सिटी प्रवेश द्वार के बाहर स्नातक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये एक रोजगार ब्यूरो की स्थापना भी की। 1936 में तीन वर्ष के लिये इग्लैण्ड आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी में पढ़ाने गये।

1939 में वे दक्षिण अफ्रीका गये तथा भारत के प्राचीन विवेक का संदेश प्रसारित किया। विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने के कारण वे वापस भारत चले आये। उन्हें बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का उप कुलपति नियुक्त किया गया। उन्होंने संस्था के नाम में जुड़े 'हिन्दू' शब्द को एक विस्त्रित परिभाषा दी। राधाकृष्णन ने विश्वविद्यालय में उत्कृष्ट प्राध्यापकों का चयन किया तथा विश्वविद्यालय प्रशासन की प्रबन्ध–व्यवस्था सुनिश्चित करके बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी का शैक्षिक स्तर ऊँचा उठाया।

विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने जाकिर हुसैन मेघनाद साहा तथा लक्ष्मण स्वामी मुदलियार सहित दस शैक्षिक विद्वानों की टोली का नेतृत्व किया, जिसने भारत में 25 विश्वविद्यालयों का दौरा किया और एक रिपोर्ट तैय्यार की जो आज भी आधुनिक भारतीय शिक्षा के स्तम्भों में से एक है। इसमें इन उच्च शैक्षिक संस्थाओं की समस्याओं तथा शैक्षिक स्तर को सुधारने का प्रस्ताव बेजोड़ और श्रेष्ठ था।

1949 में राधाकृष्णन सोवियत रूस में भारत के राजदूत बनाये गये। परन्तु उन्होंने आक्सफोर्ड में पढ़ाना और विद्वतापूर्ण शैली में लिखना लगातार जारी रखा। जैसा कि आर. के. वेंकटरमण ने कहा है, "क्रेमिलिन हो या काशी, राधाकृष्णन की विद्वता का द्वीप समान रूप से अनवरत जलता रहा। सन 1953 में वे दिल्ली विश्वविद्यालय के चांसलर थे। जून 18, 1956 ई. को इन्हें मास्को विश्वविद्यालय का

सम्मानित प्रोफेसर पद दिया गया। भारत के राष्ट्रपति पद से अवकाश के बाद राधाकृष्णन ने मद्रास में आराम करने के लिये अवकाश ग्रहण किया तथा प्रख्यात इकाइयों जैसे साहित्य अकादमी, पैन, अखिल भारतीय केन्द्र को लगातार बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करते रहे। 1968 में उन्हें अकादमी फेलोशिप से विभूषित किया गया तथा 1975 में धर्म–दर्शन की प्रगति में योगदान के लिये टेम्पलटन पुरस्कार से सम्मानित किया गया। लेकिन इसी वर्ष 17 अप्रैल 1975 को उनका निधन हो गया।

डा. जाकिर हुसैन

डा. जाकिर हुसैन

परिवेशीय संदर्भ में बाल्यकाल एवं शिक्षा-दीक्षा

फरूखाबाद जनपद में कायमगंज एक कस्बा है जो फरूखाबाद में उत्तर पश्चिम दिशा में फरूखाबाद कासगंज मीटर गेज लाइन में 30 किमी. की दूरी पर स्थित है यह स्टेशन उत्तर पूर्वी रेलवे मण्डल के अधीन है। कायमगंज से डेढ़ मील के फासले पर स्थित गाँव 'पतौरा' के डा. जाकिर हुसैन रहने वाले थे किन्तु उनका जन्म हैदराबाद में हुआ था। उनका जन्म हैदराबाद के (वर्तमान आंध्र प्रदेश) बेगम बाजार में 8 फरवरी 1897 में हुआ था। उनके पिता हैदराबाद में ही वकालत करते थे। जाकिर साहब की माँ का नाम नाजनीन बेगम था। जाकिर साहब जब 9 वर्ष के ही थे उनके पिता की मृत्यु हो गई थी। उनके पिता फिदा हुसैन खाँ थे जिनकी मृत्यु अल्प आयु में 39 वर्ष में बीमारी के कारण हो गई थी।

जाकिर हुसैन के सबसे बड़े भाई का नाम मुजफ्फर हुसैन खाँ था उनसे छोटे भाई का नाम आबिद हुसैन खाँ, आबिद हुसैन से छोटे जाकिर हुसैन थे। जाकिर हुसैन से छोटे जाहिद हुसैन, जाहिद से छोटे यूसिफ हुसैन खाँ तथा उनसे छोटे जाफर हुसैन खाँ थे और उनसे छोटे महमूद हुसैन खाँ थे।

जाहिद और आबिद दोनों छात्र जीवन में तपेदिक हो जाने से मृत्यु को प्राप्त हुये। सबसे छोटे महमूद हुसैन खाँ बटंवारा के बाद पाकिस्तान चले गये। कराची विश्वविद्यालय में कुलपति और पाकिस्तान के मंत्री बने। महमूद हुसैन से बड़े जाफर हुसैन कायमगंज में प्लेग फैलने से 6 वर्ष की आयु में ही मर गये थे।

पारिवारिक स्थिति एवं प्रारम्भिक शिक्षा

उन दिनों मुस्लिम घरानों में भाषा और धार्मिक शिक्षा देने के लिये शिक्षक उनके घरों में पढ़ाने के लिये आया करते थे। जाकिर हुसैन की शिक्षा का प्रारम्भ इसी प्रकार हुआ। पिता ने जाकिर हुसैन की शिक्षा का प्रबन्ध एक अंग्रेज शिक्षक द्वारा घर

पर ही किया था। जाकिर साहब को कुरान शरीफ, फारसी तथा उर्दू सिखाने के लिये घर पर ही मौलवी का इन्तजाम किया गया था। अब्दुल गनी भी उन्हें अंग्रेजी पढ़ाने आते थे। 10 वर्ष की आयु तक उन्होंने घर पर ही शिक्षा प्राप्त की। पिता फिदा हुसैन खाँ को तपेदिक हो जाने के कारण वह परिवार सहित कायमगंज आ गये थे और यहीं पर मात्र 39 वर्ष की आयु में उनका देहांत हो गया था। जाकिर हुसैन की विधवा माँ और अनाथ बच्चों को जाकिर हुसैन के चाचा अता हुसैन खाँ ने सहारा दिया।

जाकिर हुसैन की माँ ने उन्हें अपने तीन भाइयों के साथ 1907 में इटावा भेज दिया था। इटावा में आपको इस्लामिया हाईस्कूल में पाँचवी कक्षा में प्रवेश दिया गया। इस्लामिया हाईस्कूल में मुस्लिम बच्चों को इस्लामी सभ्यता और संस्कृति पढ़ाई जाती थी। संस्कृत और अंग्रेजी भी पढ़ाई जाती थी। यहीं से आपने सन 1913 में हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। स्कूली शिक्षा के समय से ही उनके अन्दर राजनैतिक चेतना का उदय हो चुका था। वह नित्य स्टेशन जाकर समाचार पत्र ''पायनीयर'' लाकर राजनैतिक गतिविधियों का अध्ययन करते थे तथा अपने सहपाठियों के बीच उस पर चर्चा भी करते थे। अपने विद्यार्थी जीवन में जाकिर हुसैन एक अच्छे वक्ता भी थे तथा छात्रों में लोकप्रिय बन गये थे। वे बहुत ही शांत और विनम्र स्वभाव के थे। पढ़ने में वे इतने तेज थे कि प्रत्येक बार उन्होंने अपनी परीक्षा अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण की।

जाकिर हुसैन की पुत्री सैयदा खुर्शीद आलम ने अपनी पुस्तक ''जाकिर साहब की कहानी' में अपने परिवार के बारे में लिखा है जिसका उल्लेख यहाँ आवश्यक है –

''फरूखाबाद में एक कस्बा है कायमगंज हमारी कहानी यहीं से आरम्भ होती है। यही हमारे पूर्वजों का जन्म स्थान है।

यह पठानों की बस्ती है। इसका नाम इस प्रकार पड़ा कि प्राचीनकाल में भारत और अफगानिस्तान की सीमा से पठानों के कबीले समय–समय पर जीविका की खोज में भारत आये और उनमें से अधिकांश फरूखाबाद के आसपास बस गये। ....

उन कबीलों में "शुक्ल खेल" कबीले में दो भाई थे – हसन खाँ और हुसैन खाँ। हुसैन खाँ हमारे पूर्वज थे। यह मुहम्मद शाह के समय में सत्र 1719 में भारत आये।

मद्दाखुन (हुसैन खाँ) के पुत्र अहमद हुसैन खाँ और उनके पुत्र मुहम्मद हुसैन खाँ हुये। मुहम्मद हुसैन खाँ के पुत्र गुलाम हुसैन उर्फ झुम्मन खाँ थे जो मियां झुम्मन खाँ के दो बेटे थे – फिदा हुसैन खाँ और अता हुसैन खाँ .... फिदा हुसैन खाँ मियां के पिता थे। उनका विवाह पठानों के एक प्रतिष्ठित परिवार में नाजनीन बेगम से हुआ उनके सात लड़के हुये .... मियां अपने भाइयों में तीसरे नम्बर पर थे।"[1]

पिता की मृत्यु के बाद जाकिर हुसैन की माँ बालकों को लेकर कायमगंज आ गयी और जाकिर हुसैन के चाचा अता हुसैन खाँ के अभिभावकाल में रहने लगी लेकिन दो वर्ष बाद उनका भी देहान्त हो गया। जाकिर हुसैन की माँ ने अपने चार बेटे इस्लामियां हाईस्कूल में दाखिल करा दिये थे। उसी समय कायमगंज में प्लेग की महामारी फैली। इस महामारी में जाकिर हुसैन के छोटे भाई जाफर हुसैन खाँ और बाद में माँ भी समाप्त हो गई। माता ने बच्चों की परेशानी तथा महामारी से बचाव के विचार से इटावा अपनी बीमारी की सूचना बच्चों के पास नहीं भेजी थी। माता पिता जैसा अनमोल धन छिन जाने से परिस्थितियों ने उन्हें दृढ़संकल्पी, साहसी और संवेदनशील बना दिया इन कठिन और अभावग्रस्त दिनों में उन्हें परिस्थितियों से लड़ने और उन्हें अनुकूल बनाने की क्षमता और योग्यता प्रदान की है।

सन 1907 में 9 वर्ष की आयु में जाकिर साहब इटावा के इस्लामिया हाईस्कूल में दाखिल हुये थे। सौभाग्य से यहाँ भी निःस्वार्थ और कृपालु अध्यापक मिले। इटावा स्कूल के प्रधानाध्यापक सैयद अल्ताफ हुसैन और स्कूल के संस्थापक मौलवी बशीरूद्दीन की उन पर बड़ी कृपा थी। उन दोनों महानुभावों का जाकिर हुसैन पर गहरा प्रभाव था। जाकिर साहब उनको बड़ा आदर सम्मान के साथ स्मरण करते थे। प्रारम्भिक शिक्षा के समय की यह अमिट छाप सदा उनके जीवन में रही। अपने 71वें

1. "जाकिर साहब की कहानी" लेखिका सैयदा खुर्शीद आलम–अनुवादक निजामुद्दीन प्रकाशक नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, पृ. 2-3

जन्मदिन के अवसर पर दिये भाषण में उन्होंने कहा था कि मुझ पर सर्वाधिक अहसान मेरी माँ का है और इसके बाद मेरे अध्यापक सैयद अल्ताफ हुसैन खाँ का। एक बार सैयद अल्ताफ हुसैन के बारे में उन्होंने कहा था "ऐसा इंसान मुझे आज तक नहीं मिला। उनसे योग्य अध्यापक मैंने नहीं देखा। मैं सोचता हूँ कि ऐसे इंसान अब क्यों नहीं जन्म लेते। यह संसार ऐसे इन्सानों से खाली होता जा रहा है।" वह छात्रावास के नियमों का कड़ाई से पालन करते थे। नमाज बड़ी पाबन्दी से पढ़ते थे।

प्रकृति ने बचपन से ही उन्हें लेखन और भाषण पर अधिकार प्रदान किया था। उन्हीं दिनों तुर्की और इटली का युद्ध चल रहा था। हिन्दुस्तानी मुसलमान तुर्की के पक्ष में थे। इस सम्बन्ध में वह जगह–जगह भाषण करते थे और चन्दा इकट्ठा करते थे। एक बार चन्दा जमा करते समय उन्होंने कहा था "लाइए हजरात। जो तांबे के पैसे आप इस टोपी में डालेंगे वे सीसे की गोलियों में तब्दील होकर शत्रु की छाती के पार होंगे।" उनका ऐसा ही एक भाषण उनके विवाह का कारण बना था। कायमगंज में एक भाषण में जाकिर साहब की पत्नी के दादा भी सम्मिलित थे। उन पर भाषण का बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपना बटुआ जाकिर साहब की टोपी में पलट दिया था और इसी समय यह संकल्प लिया था कि अपनी लाड़ली पोती शाहजहां बेगम (पुतली प्यार का नाम) से करेंगे।

इटावा स्कूल में उन्होंने एक लेख लिखा था तब उनकी आयु 13-14 वर्ष होगी। शीर्षक था "विद्यार्थी जीवन" उन्होंने लिखा है –

"विद्यार्थी का अभिप्राय वह व्यक्ति है जो अपनी प्रकृति को वर्तमान दशा में उत्तम बनाना चाहता है जो अपनी सामर्थ्य को जहाँ तक बढ़ने की उसमें शक्ति है वहाँ तक बढ़ा सकता है। जो इस बात का इच्छुक है कि जहाँ से ज्ञान की बातें मिले, जहाँ से अच्छी–अच्छी बातें उसे मालूम हो, जहाँ से ज्ञान और उच्च विचार उसे उपलब्ध हो सकें, जहाँ से उसे संसार के विषय में तथा अपने विषय में ऐसी बातें ज्ञात हो जो उसे ज्ञात नही और जिन्हें ज्ञात करने से उसे संसार में सहायता मिलेगी वहाँ से उन सबको

प्राप्त करे। विद्यार्थी होने के लिये कम से कम इतनी वृद्धि अवश्य होनी चाहिये कि वह सद–असद में और लाभ–हानि में प्रिय और अप्रिय बातों में अन्तर कर सके।"

"विद्यार्थी जीवन का उद्देश्य यह होना चाहिये कि जो अंधविश्वास, संकीर्णता और पक्षपात उसमें हो उन पर विजय पाये, और उसे चाहिये कि नीच प्रकृति को छोड़ दे। उसे चाहिये और उसका कर्त्तव्य है कि वह अशिक्षित भाइयों में शिक्षा का प्रचार करें और शिक्षा के प्रचार–प्रसार को अपनी शिक्षा का एक अंग समझे। उसे विद्या, विद्या के लिये पढ़नी चाहिये और साथ ही उसे जीवन की आवश्यकताओं से भी विमुख नहीं होना चाहिये अगर सांसारिक आवश्यकताओं से विमुख होगा तो वह अपने परिवार को नहीं संभाल सकता और मानव जाति के लिये लाभदायक नहीं हो सकता।"

उस उम्र में जाकिर साहब के दूर के सम्बन्धी हसन शाह जो सूफी थे ने जाकिर हुसैन में अध्यात्मिकता का दीप जलाया और साधु संत जैसे गुण उत्पन्न किये।

अपनी प्रारम्भिक शिक्षा का स्मरण करते हुये डा. जाकिर हुसैन जब वे भारत के उप राष्ट्रपति थे 1963 में इस्लामिया स्कूल इटावा जिसके वह छात्र रहे थे की डायमंड जुबली के अवसर पर अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा था "मैं इस स्कूल को कभी नही भुला सकता। मुझे वे दिन अब भी याद हैं जब मैं यहाँ कक्षा 6 में पढ़ा करता था। मेरी माँ की मृत्यु हो चुकी थी और मेरे पिता भी इस दुनिया से चले गये थे। उस समय में स्कूल में ही था जब मुझे अपनी माता की मृत्यु का समाचार मिला। हेड मास्टर भागते हुये आये और उन्होंने मुझे अपनी गोद में उठा लिया। स्कूल के सारे अध्यापक उनके साथ थे।

हेडमास्टर ने मुझे अपने गले से लगाते हुये कहा – 'ये स्कूल तुम्हारी दूसरी माँ है इसमें मुझे इतना बल मिला था कि मैंने फिर अपने आपको कभी अनाथ नहीं समझा। जिस स्कूल में मुझे इतना प्यार मिला हो, जिस स्कूल ने मेरी भावनाओं को आधार दिया हो, जिस स्कूल ने मेरी तरक्की की जमीन तैयार की उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ।"

इस्लामिया कालेज इटावा के तत्कालीन प्रधानाचार्य उमान उल्ला खाँ शेरवानी ने इस घटना का उल्लेख करते हुये कहा था –

"जब डा. जाकिर हुसैन यह शब्द कह रहे थे तब उनकी आँखों से आँसू बह निकले थे। उन्होंने चश्मा उतारकर आँसू पोंछे, इसके बाद आगे बोलना प्रारम्भ किया।"

2. माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा का व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान

वर्ष 1913 में जाकिर साहब ने हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की। 1913 में इटावा से हाईस्कूल पास करने के बाद उन्होंने एम. ए. ओ. कालेज अलीगढ़ में दाखिला लिया उन्होंने इस कालेज में विज्ञान के साथ इण्टरमीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण की और डाक्टरी पढ़ाई करने के लिये लखनऊ में क्रिश्चियन कालेज में दाखिला ले लिया। शायद नियति उन्हें डाक्टर नहीं बनाना चाहती थी। दाखिला लेते ही वे ऐसे बीमार पड़े कि तब तक ठीक ही नहीं हुये जब तक उन्होंने डाक्टरी की पढ़ाई त्याग करने का फैसला नहीं कर लिया। बड़े भाई ने अपने पूर्व फैसले पर पुनः विचार किया और उन्हें डाक्टर बनाने पर विचार छोड़ दिया। वे फिर से अलीगढ़ लौट आये और अंग्रेजी, दर्शन व अर्थशास्त्र विषय लेकर बी. ए. की पढ़ाई करने लगे।

1918 में उन्होंने बी. ए. प्रथम श्रेणी में पास कर लिया और एम. ए. अर्थशास्त्र तथा एल. एल. बी. में एक साथ दाखिला ले लिया। बी. ए. की परीक्षा का परिणाम इतना अच्छा था कि उन्हें इसके आधार पर विश्वविद्यालय ने 'इकबाल पदक' से सम्मानित किया। उन्होंने 1920 में एम. ए. एवं कानून की परीक्षा पास की।

लेखन और भाषण का शौक उन्हें पहले से ही था। विश्वविद्यालय की वाद–प्रतिवाद प्रतियोगिताओं में आगे बढ़कर हिस्सा लेने के कारण उनकी प्रतिभाओं में निखार आता गया, भाषण और लेखन के क्षेत्र में स्कूल के दिनों में उन्होंने अपना सिक्का जमा रखा था। कालेज में उस पर और चमक आ गई। अंग्रेजी और उर्दू दोनों भाषाओं में लिखते थे। RIP नाम से कालेज पत्रिका में जो लेख लिखते थे वे उत्तम शैली में होते और उनके साथी बड़ी आतुरता से उनके लेखों की प्रतीक्षा करते रहते थे।

उनके भाषण भी बड़ी रूचि से सुने जाते थे। रसीद साहब के कथानुसार "उनके भाषण का एक वाक्य भी अनावश्यक न होता। आरम्भ से अंत तक समान और सरल।" उन्हें कालेज की सभी गतिविधियों में गहरी रूचि थी। रसीद साहब के अनुसार "वह सभी मनोरंजक तथा स्वस्थ्य गतिविधियों में तन्मयता से भाग लेते थे – जैसे वह उनका प्रिय कार्य हो। क्रिकेट, हाकी, फुटबाल, टेनिस कालेज के जीवन से ही उन्हें बड़े प्रिय थे। वह उनमें सक्रिय भाग तो नहीं लेते थे लेकिन उनसे आनन्द लेने में और उन पर मनोविनोद की बातें करने में किसी से पीछे न रहते थे। कोई मैच या समारोह कालेज में कहीं आयोजित हो उसके दर्शकों में जाकिर साहब अवश्य होते।"

अलीगढ़ के विद्यार्थी जीवन का समय मियां के व्यक्तित्व एवं चरित्र के निर्माण में बहुत महत्व रखता है। वह अपनी बुद्धि, योग्यता और नैतिकता की श्रेष्ठता के कारण सभी छात्रों और अध्यापकों की आँखों का तारा बन गये। उनके साथी उन्हें "मुर्शिद" (धर्मगुरू) कहते थे। उनकी बुद्धि की विलक्षणता ऐसे थी कि एक बार पुस्तक पढ़ी और उसकी मुख्य–मुख्य बातें कठंस्थ हो गई। उन्हें परीक्षा के लिये बहुत कम परिश्रम करना पड़ता। वह वर्ष भर कालेज की अन्य गतिविधियों में लीन रहते और परीक्षा के निकट थोड़ा पढ़ लेते और जब परीक्षाफल आता तो वर्ष भर पढ़ने वाले लड़के पीछे रह जाते और वह कक्षा में प्रथम आते।

उन्होंने प्लेटो के प्रसिद्ध ग्रंथ 'राज्य' का उर्दू में अनुवाद किया। यह अनुवाद शिक्षा क्षेत्र में बहुत सराहा गया। शिक्षा की समस्याओं को इतनी सरल और सुबोध भाषा में प्रस्तुत करना उन्हीं का काम था। पाठक के लिये यह अनुमान लगाना कठिन है कि यह अनुवाद है या मौलिक रचना। मौलाना इकबाल सुहैल ने इसके विषय में लिखा है – "प्लेटो को उर्दू आती तो वह इसी भाषा को अपनाता।

यद्यपि जाकिर साहब का विषय अर्थशास्त्र था लेकिन उन्हें आरम्भ में ही शिक्षा के प्रति गहरी रूचि रही। वह जर्मनी में भी बराबर उसकी धुन में लगे रहे और शैक्षिक प्रयोगों तथा शिक्षा–पद्धति के विषय में ज्ञान अर्जित करते रहे। इस विषय में वह

स्वयं लिखते हैं "मेरा विषय अर्थशास्त्र रहा है जिससे परिस्थितियों ने मुझे दूर ही रखा है। मैं उस अनिश्चित अस्तित्व में परिवर्तित हो गया हूँ जिसे शिक्षाविद कहा जाता है।"

वर्लिन के प्रवास के समय उन्होंने दयानी प्रेस में कम्पोजिंग का काम भी सीखा दीवाने–ए–गालिब स्वयं अपने हाथों कम्पोज किया। फरवरी 1926 में वह जर्मनी से वापस आये। वह परिवार बल्कि बस्ती के प्रथम व्यक्ति थे जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने विदेश गये थे। जब कायमगंज पहुँचे उनका बहुत भव्य स्वागत किया गया।

शिक्षाकाल से ही उनके व्यक्तित्व निर्माण में उनकी पत्नी शाहजहाँ बेगम (पुतली बेगम) का बड़ा योगदान रहा। उनका जाकिर साहब के व्यक्तित्व और भविष्य निर्माण में बड़ा भाग रहा। अपनी माँ के बारे में सैयदा खुर्शीद आलम लिखती है "उन्होंने संसार की चमक–धमक पद और उपाधि को बहुत निस्पृह रूप में देखा है और अपने को प्रत्येक वस्तु से इस प्रकार पृथक रखा है जैसे ये सब वस्तुयें देखने के लिये हैं अपनाने के लिये नहीं। .... शिक्षा और बुद्धि की दृष्टि से अम्मा की मियां से कोई तुलना न थी लेकिन उनके प्रेम और सेवा ने मियां को जो कुछ प्रदान किया अन्य कोई नारी प्रदान नहीं कर सकती थी। मियां को इस बात का पूरा अहसास था। तभी वह अकसर हम लोगों से उनकी प्रशंसा करते तथा कहते – "तुम्हारी माँ तो अल्लाह की महान आत्मा है।"[1]

3. देश की परितन्त्रताकाल की शिक्षा के प्रति असंतोष

गांधी जी दक्षिण अफ्रीका छोड़कर वापस आ गये थे और उन्होंने 1920 में असहयोग आन्दोलन छेड़ दिया। अलीगढ़ मुस्लिम विद्यालय बुद्धिजीवी मुसलमानों का गढ़ था। उन दिनों जाकिर हुसैन विश्वविद्यालय छात्र यूनियन के उपाध्यक्ष थे। उसी समय अंग्रेजों की तुर्की विरोधी नीति के खिलाफ भारत के मुसलमानों में तीव्र असंतोष था।

1. "जाकिर साहब की कहानी" लेखिका सैयदा खुर्शीद आलम–अनुवादक निजामुद्दीन प्रकाशक नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, पृ. 13

जाकिर हुसैन ने अपने साथियों के साथ अलीगढ़ विश्वविद्यालय छोड़ दिया और खिलाफत आन्दोलन में कूद पड़े। उन्हें डिप्टी कलेक्टर के पद का लालच दिया गया था परन्तु जाकिर साहब ने साफ इन्कार कर दिया और कहा 'मेरे लिये अपनी कौम और अपने देश से बढ़कर अपना निजी जीवन नहीं है। मैं कौम के साथ जाऊँगा।'

सर सैयद अहमद खाँ के प्रयासों से अलीगढ़ में मुसलमानों की शिक्षा के लिये कालेज खुल गया था जो अंग्रेजी सरकार की सहायता से एम. ए. ओ. कालेज बनकर रह गया। एक स्वतंत्र विश्वविद्यालय न बन पाने का मुस्लिम समुदाय को मलाल था।

जाकिर हुसैन ने "इटर्निटी फार टॉप" नामक अंग्रेजी में एक लेख लिखा था जो बहुत चर्चित हुआ। उन्होंने इस लेख में अलीगढ़ मुस्लिम कालेज के संस्थापक सर सैयद अहमद खाँ की इस बात के लिये कटु आलोचना की थी कि उन्होंने शिक्षा को राजनीति से अलग रखा और अवसर का पूरा फायदा उठाते हुये मुसलमानों के लिये एक स्वतंत्र विश्वविद्यालय स्थापित नहीं कर पाये। अंग्रेजी सरकार की शिक्षा नीति को मुसलमान एक धोखा ही मानते थे। वे अपने बच्चों और युवाओं को पश्चिमी संस्कृति से बचाकर रखते हुये अपने अनुसार आधुनिक शिक्षा का ढांचा तैयार करना चाहते थे।

सर सैयद खाँ की मृत्यु के बाद मुस्लिम विश्वविद्यालय आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था परन्तु सरकार ने संकेत दे दिये थे कि वह ऐसा कोई विश्वविद्यालय स्थापित नहीं करेंगे। अतः देश के मुसलमानों ने यह फैसला कर लिया कि अपनी कौम के लिये एक मुस्लिम विश्वविद्यालय वे अलीगढ़ में स्वयं स्थापित करेंगे। एम. ए. ओ. कालेज को विश्वविद्यालय में बदलने के लिये मुहिम तेज हो गई। 1920 में छात्रों ने खिलाफत आन्दोलन में खुलकर भाग लेने के संकल्प के साथ अलीगढ़ में जामिया मिलया की नींव डालने के लिये तैयारियां करना शुरू किया।

जाकिर हुसैन तथा उनके साथियों ने इस योजना को अपने हाथों में ले लिया। 29 अक्टूबर 1920 को अलीगढ़ में एक आजाद राष्ट्रीय संस्था 'जामिया मिलिया

इस्लामिया' की स्थापना हुई। अलीगढ़ कालेज की बड़ी मस्जिद में इसकी बुनियाद रखी गई तथा देवबन्द से आये मौलाना अब्दुल हसन साहब के शिष्य शव्वारी उस्मानी ने हसन साहब की ओर से खुत्वा (भाषण) पढ़ा। जामिया में दाखिला के लिये एम. ए. ओ. की इमारत के कुछ कमरों में दाखिला शुरू कर दिया गया, परन्तु अंग्रेजी सरकार ने एम. ए. ओ. को जामिया मिलिया में बदलने के मंसूबे पर पानी फेर दिया। जामिया मिलिया के संस्थापकों को कालेज अहाते से बाहर जाना पड़ा।

जामिया मिलिया के लिये जाकिर साहब पूरी तरह समर्पित हो गये। खिलाफत आन्दोलन से जुड़े सभी नेताओं ने उनकी पूरी मदद की। मुहम्मद अली ने स्वयं विश्वविद्यालय की स्थापना का दायित्व अपने कन्धों पर लिया गाँधी जी तथा जवाहर लाल नेहरू ने भी बीच–बीच में अलीगढ़ पहुँचकर यहाँ की जनता से विश्वविद्यालय को सहयोग देने की अपील की। नवम्बर में जामिया की विधिवत स्थापना हो गई। हकीम अजमल खाँ कुलाधिपति चुने गये, मौलाना मुहम्मद अली ने कुलपति का दायित्व संभाला। जामिया का पहला दीक्षांत समारोह 8 दिसम्बर 1921 को हुआ जिसकी अध्यक्षता हकीम अजमल खाँ ने की। दूसरा दीक्षांत समारोह प्रसिद्ध वैज्ञानिक पी. सी. राय की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ।

1924 के आते–आते जामिया मिलिया की हालत खराब होने लगी। जामिया फाउंडेशन कमेटी के जर्मन में जाकिर साहब के नाम एक तार भेजकर उनसे राय ली कि क्यों न जामिया को बन्द कर दिया जाये, स्थितियां बदल चुकी है, आर्थिक स्रोत सूख गये है, ज़ाकिर साहब ने समिति को धैर्य बरतने की सलाह दी वे चाहते थे कि उनके भारत वापस लौटने तक किसी प्रकार जामिया को जीवित रखा जावे। वापस लौटते ही वे जामिया को चलाने का दायित्व अपने कन्धों पर लेने को तैयार हैं।

11 मार्च 1925 को हकीम साहब ने फाउंडेशन कमेटी से यह प्रस्ताव पास करा लिया कि जामिया को अलीगढ़ से दिल्ली लाया जाये। दिल्ली में जामिया को चलाने के लिये दिल्ली से करोल बाग क्षेत्र में बने तिब्बिया कालेज से कुछ कोठारियां

किराये पर ले ली और 1925-26 का सत्र दिल्ली में इन्हीं कोठरियों में आरम्भ किया गया।

फरवरी 1926 में डाक्टर जाकिर हुसैन भारत आ गये। दिल्ली पहुँचते ही जामिया में उन्हें कार्यालय के निकट ही एक कमरा दे दिया गया। जाकिर साहब इसी कमरे में रहकर जामिया का काम देखने लगे। जब डाक्टर जाकिर हुसैन जर्मनी से दिल्ली आ गये तो हकीम साहब ने जामिया मिलिया दिल्ली को चलाने का दायित्व धीरे–धीरे डा. जाकिर हुसैन की ओर खिसकाना शुरू कर दिया।

29 दिसम्बर 1927 को हकीम अजमल खाँ की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के बाद डाक्टर मुख्तार अहमद अंसारी अमीर हल जामिया बना दिये गये और डाक्टर जाकिर हुसैन शैखुल जामिया बने। जाकिर के प्रयास से जामिया को ओखला में जमीन मिल गई और वहाँ विधिवत विश्वविद्यालय की स्थापना हुई।

1952 तक जाकिर हुसैन शेखुल जामिया के पद पर रहे। 10 नवम्बर 1952 को जाकिर साहब ने यह पद छोड़ा तो उन्हें नायब अमीर जामिया के नये पद पर दायित्व सौंपकर जामिया से अलग होने से रोक लिया। 1962 में वे अमीरे जामिया चुने गये और आजीवन इस पद पर रहे।

30 नवम्बर 1948 को जाकिर हुसैन अलीगढ़ विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त किये गये। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय पर साम्प्रदायिकता का लांछन लग चुका था। उन्होंने अत्यन्त विवादास्पद हालात में इस विश्वविद्यालय को इस लांछन से उबारा अपने विश्वास का सहारा दिया और यह संकट टल गया। उनके कार्यकाल में अनन्य विषयों पर शोध के लिये विश्वविद्यालय देश भर में मशहूर हो गया। 1957 में जाकिर साहब ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय छोड़ दिया और वे दिल्ली आ गये।

विश्वविद्यालय की प्रमुख पत्रिका "अलीग' ने 10 सितम्बर 1956 को जाकिर साहब द्वारा दी गई सराहनीय सेवाओं के लिये उनके बहुआयामी उद्देश्यों की भूरि–भूरि प्रशंसा की है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि परितन्त्रताकालीन शिक्षा के प्रति जाकिर साहब के मन में तीव्र असंतोष था। स्वतन्त्र भारत में शिक्षा की उपनिवेशवादी व्यवस्था को वह तोड़ देना चाहते थे। उनका मानना था कि अपने देश के अनुरूप शिक्षा व्यवस्था हो। शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का मूलभूति मानवीय अधिकार है। इसमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं हो सकता और जहाँ भी यह हो रहा अस्वीकार्य है। शिक्षा के प्रसार तथा सभी तक उसे पहुँचाने की आवश्यकता विकासशील देशों के सामने एक बड़ी चुनौती के रूप में उभरी थी। शिक्षा की विकास यात्रा में उसकी विषय वस्तु उसकी गतिशीलता उपयोगिता, स्वीकार्यता, गुणवत्ता तथा प्रतिष्ठा जैसे पक्षों पर हरतरफ चर्चा और विचार मंथन होते रहे है। महात्मा गाँधी ने शिक्षा की समझ स्वयं स्कूल चलाकर प्राप्त की थी। जाकिर साहब गाँधी जी के शिक्षा के प्रति विचारों पर पूर्णरूप से सहमति थे। जैसे–जैसे उनके अनुभव परिपक्व हुये उन्होंने स्वतन्त्र भारत के लिये अपनी शिक्षा व्यवस्था की संकल्पना को व्यावहारिक रूप में क्रियान्वित कर उसका प्रारूप देश के सामने रखा।

इसके बावजूद वर्तमान में स्वतन्त्र भारत ने शिक्षा की उपनिवेशवादी व्यवस्था को बनाये रखा है। कुलीन वर्ग में अंग्रेजी के प्रति मोह और सम्मान आज भी वर्चस्व कायम किये है।

देखना यह है कि पीढ़ियों से मानस अपेक्षाओं, आकांक्षाओं और मानव मूल्यों को लेकर क्या कुछ बदल गया है और इस बदलाव को शिक्षा व्यवस्था कितना आत्मसात कर पाई है या उसमें वह कितना पीछे छूट गई है। मौजूदा समय परिवर्तन का नहीं तीव्र गति परिवर्तन का है। शिक्षित–अशिक्षित, गरीब–अमीर, शहरी–ग्रामीण और कितने ही अन्य प्रकार के भेद न केवल अधिक उभरे है लगातार बढ़ते ही जा रहे है।

आज सारा विश्व मानता है कि प्रत्येक देश की शिक्षा व्यवस्था उसकी अपनी संस्कृति से जुड़ी होनी चाहिये और उसकी जड़े जितनी गहराई तक जायेगी, आगे के समय में वह उतनी पुष्पित, पल्लवित तथा घनी छाया देने वाली होगी। यही असंतोष

था जिसके कारण डा. जाकिर हुसैन ने बुनियादी शिक्षा को मूर्तरूप दिया है। आपने यह प्रत्यक्ष अनुभव किया था कि राजनीति के तंग रास्ते से राष्ट्रीय पुनर्जागरण नहीं लाया जा सकता है। यह शिक्षा, संस्कृति और राष्ट्रीय चरित्र के नये ढांचे के माध्यम से लाया जा सकता है। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को पुराना और सारहीन समझा। जामिया मिलियां के माध्यम से उनका उद्देश्य था – शिक्षा को एक नये ढंग से विकसित करना जिसकी जड़े राष्ट्रीय संस्कृति में जम सके। जामिया मिलिया को उन्होंने एक ऐसी शैक्षिक संस्था का रूप दिया, जहाँ शिक्षा एवं रहन–सहन के क्षेत्र में सामूहिक विकास–प्रणाली को आरम्भ करने की चेष्टा के साथ–साथ छात्रों को नागरिकता की शिक्षा देने तथा कला के प्रति अभिरूचि जाग्रत करने का पूरा–पूरा प्रयास किया गया।

जामिया का उद्देश्य स्वयं जाकिर हुसैन के शब्दों में –

"जामिया का सबसे बड़ा उद्देश्य हिन्दुस्तानी मुसलमानों के भावी जीवन का ऐसा मानचित्र तैयार करना है जिसका केन्द्र इस्लाम धर्म है, और उसमें हिन्दुस्तानी संस्कृति का वह रंग भरे जो जनसाधारण की संस्कृति के रंग से एकाकार हो जाये। उसकी बुनियाद इस विश्वास पर है कि धर्म की सच्ची शिक्षा हिन्दुस्तानी मुसलमानों को देश–प्रेम व राष्ट्र–एकता का पाठ देगी, हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता और विकास में भाग लेने के लिये तैयार करेगी। हिन्दुस्तान अन्य देशों के साथ मिलकर संसार के क्रियाकलाप में भाग लेकर शांति और संस्कृति की लाभप्रद सेवा करेगा।"

4. अध्यापन कार्य अनुभव

12 अक्टूबर 1920 को महात्मा गाँधी ने एम. ए. ओ. कालेज अलीगढ़ में कालेज के विद्यार्थियों और अध्यापकों के समक्ष भाषण में ब्रिटिश सरकार के निमंत्रण में चल रही शिक्षा–संस्थाओं के बहिष्कार का आवाहन किया। राष्ट्रीय शिक्षा–संस्थाओं की स्थापना पर बल दिया।

अपने भविष्य की चिन्ता किये बगैर देश सेवा हितार्थ डा. जाकिर हुसैन ने कालेज छोड़ दिया। कालेज छोड़ते ही आपने अलीगढ़ में ही एक राष्ट्रीय शिक्षा संस्था

(जामिया मिलिया इस्लामिया) की स्थापना कर इसका जबरदस्त परिचय दिया कि वह एक प्रबुद्ध सफल शिक्षक है और आपमें पूरी संगठन–शक्ति है।

डा. जाकिर हुसैन ने अपना जीवन जामिया मिलिया में एक शिक्षक के रूप में प्रारम्भ किया।

1967 में जब वे भारत के राष्ट्रपति चुने गये अपने गुजरे जमाने का स्मरण करते हुये उन्होंने कहा था "वास्तव में राष्ट्र के साधारण अध्यापक को इतना बड़ा सम्मान दिया है जिसने आज से सैंतालीस वर्ष पहले अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ भाग को राष्ट्रीय शिक्षा के लिये अर्पित करने का निश्चय किया था।"

डा. जाकिर हुसैन ने अपना जीवन जामिया मिलिया में शिक्षक के रूप में प्रारम्भ किया। सन 1948 तक वे जामिया मिलिया के उप कुलपति बने रहे। 1948 में तत्कालीन शिक्षा मंत्री मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के आग्रह पर अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी का उप कुलपति बनना स्वीकार किया। 8 वर्ष 1956 तक अलीगढ़ विश्वविद्यालय के उप कुलपति के रूप में कार्य किया। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की स्थापना डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में की गई थी। डा. जाकिर हुसैन ने विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग में भी कार्य किया था। इसके अलावा वे प्रेस–आयोग से भी सम्बद्ध रहे। राजनैतिक पद संभालने के बाद भी उन्होंने भारत और विदेशों में शिक्षा तथा संस्कृति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये। अनेकों बार यूनेस्को में भारत का प्रतिनिधित्व किया और 1956 से 58 तक उसके कार्यकारी मंडल में भी रहे। शिक्षा और संस्कृति के प्रति उनकी सेवाओं के लिये उन्हें 1956 ई. में 'पद्म विभूषण' और 1963 में 'भारत रत्न' की उपाधि प्रदान की गई।

अध्यापक के लिये शिक्षा–सम्बन्धी उनके विचार महत्वपूर्ण है। कुछ विचार निम्नांकित है –

1. शिक्षा मस्तिष्क के पूरे–पूरे विकास का नाम है।
2. शिक्षा में 'टोटेलिटी का सिद्धान्त' – टोटेलिटी से मतलब बच्चों के मन, मस्तिष्क

और शरीर अर्थात उनके सर्वांगीण विकास से है।

3. बच्चा भी एक व्यक्तित्व है – उन्होंने शिक्षकों और अभिभावकों को सुझाया है कि बच्चा भी एक व्यक्तित्व है वह कोई बेजान चीज नहीं, खिलौना नहीं, गुड़िया नहीं।''

   (i) सभी बच्चों को एक लकड़ी से नहीं हांका जाता।

   (ii) बच्चे का स्वभाव परिवर्तनशील है।

   (iii) शिक्षा में स्वतन्त्रता – उन्होंने बच्चों पर अनुचित दबाव डालने और एक निर्धारित परम्परा पर जबरदस्ती चलने के प्रयास का विरोध किया है।

   (iv) अत्यधिक स्वतन्त्रता नहीं – डा. जाकिर हुसैन शिक्षा में स्वतन्त्रता के हिमायती थे लेकिन सीमा से अधिक स्वतन्त्रता का उन्होंने विरोध किया है।

शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में और बच्चों के विकास के सम्बन्ध में डा. जाकिर हुसैन के जो व्याख्यान आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित हुये शिक्षकों के लिये उपयोगी हैं –

1. बच्चों का विकास – 10 मार्च 1936 ई. को आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित किया गया।

2. बच्चों का विकास – 8 अप्रैल 1936 को आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित किया गया।

3. बच्चों का विकास – 26 अप्रैल 1936 को आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित किया गया।

4. नन्हा मदरसे चला – 31 मई सन 1942 को आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित किया गया।

डा. जाकिर हुसैन ने क्रियाशीलता के सिद्धान्त पर कहा है ''ठीक शिक्षा के

लिये यह आवश्यक है कि बच्चे को उसकी दिलचस्पियों, उसके कार्यों और उसके शौक के सहारे शिक्षा दी जाये। वही पचती है, बाकी सब ऊपर की लीपपोत है।''

उक्त विषयों पर डा. साहब के विचार अध्यापकों और बच्चों के अभिभावकों के लिये महत्वपूर्ण एवं अनुकरणीय हैं। बच्चों के व्यक्तित्व उठाने के लिये उन्हें सम्मान और आदर दें। उनके साथ मनोवैज्ञानिक तरीके से व्यवहार करें।

'बुनियादी शिक्षा पद्धति' महात्मा गाँधी के शिक्षादर्शन को मूर्तरूप देने वालों में जाकिर हुसैन का नाम अग्रणी है। शिक्षा के पाठ्यक्रम की योजना प्रस्तुत करने के लिये डा. जाकिर हुसैन जामिया मिलिया दिल्ली के उप कुलपति के सामापतित्व में एक कमेटी बनाई गई थी। जाकिर हुसैन कमेटी ने 2 दिसम्बर 1937 को गाँधी जी के समक्ष अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसमें बुनियादी शिक्षा–पद्धति, उद्देश्य, शिक्षकों की तालीम, निरीक्षण और परीक्षण तथा प्रबन्ध आदि विषयों पर प्रकाश डाला और मूलोद्योग सम्बन्धी पाठ्यक्रम भी प्रस्तुत किया।

जर्मनी प्रवास के दिनों का शैक्षिक अनुभव भी डा. जाकिर हुसैन के बहुत काम आया। जामिया में बच्चों की शिक्षा के विषय में नये–नये प्रयोग प्रारम्भ किये। मुर्गी–पालन, बागवानी, बच्चों का बैंक आदि का स्कूल में परिचय कराया। उन्होंने पाठ्यक्रम में व्यवहारिक गतिविधियों का भाग बहुत अधिक कर दिया।
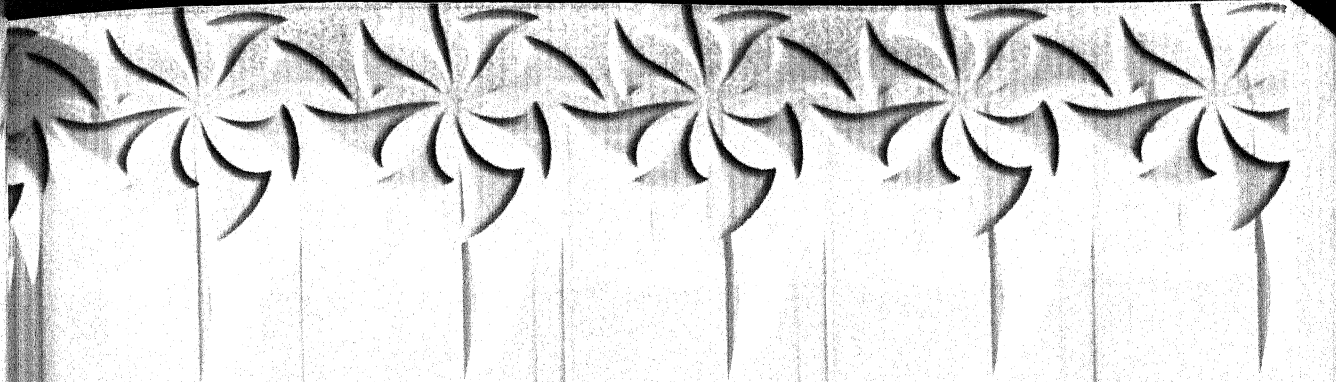
जाकिर साहब यद्यपि कुलपति थे लेकिन वह हर प्रकार का कार्य करते थे। वह प्राथमिक स्कूल की पहली कक्षा को पढ़ाते थे और कालेज के विद्यार्थियों को भी कार्यालय का काम भी करते थे और सफाई की देखभाल भी तथा भोजन का निरीक्षण भी।

प्रारम्भिक शिक्षा योजना को प्रारम्भ करने के लिये अध्यापकों को शिक्षा देने के लिये जामिया में टीचर्स ट्रेनिंग कालेज खोला गया। अपने लेखों में उन्होंने अध्यापक के चरित्र के महत्व को स्पष्ट किया। वास्तव में वह प्रकृति से शिक्षक थे 'अच्छा अध्यापक' शीर्षक से अपने भाषण जो 1936 में आकाशवाणी से प्रसारित हुआ कहा है

– "सच्चे अध्यापक के लिये आवश्यक है कि वह दूसरे मनुष्यों से प्रेम करता हो। उसके हृदय में मनुष्यों से मनुष्य के रूप में प्रेम हो। आप उन सच्चे शिक्षकों अच्छे अध्यापकों पर दृष्टि डालिये तो उनमें बहुत से बड़े धार्मिक व्यक्ति दिखाई पड़ेंगे। प्रेम और सौन्दर्य के प्रेमी कलाकार भी उनकी पंक्ति में मिलेंगे, लेकिन ये पंक्तियां उनकी मानसिक संरचना को बेल–बूटे है, तानाबाना नहीं, सेवा में रूचि तथा मानवता के प्रति प्रेमभाव है।"

मुस्लिम यूनीवर्सिटी से मुक्त होने पर विश्वविद्यालय की वार्षिक रिपोर्ट में उनकी सेवाओं को निम्न शब्दों में सराहा गया – "उन्होंने साहस के साथ परिस्थितियों का सामना किया। अपने विश्वास, अपने सहयोगियों तथा छात्रों के दृढ़ विश्वास के साथ उस नौका को भंवर से निकालने में सफल हुये। उद्देश्यप्रियता, शैक्षिक समस्याओं पर गहरी दृष्टि, अध्यापकों और छात्रों की कठिनाइयों पर सहानुभूतिपूर्वक चिन्तन–मनन और सभी समस्याओं में मानवीय दृष्टि रखकर विश्वविद्यालय के छात्रों और अध्यापकगण के लिये उत्साह एवं उमंग का साधन बने रहे .... विधानसभा (कौंसिल) बहुत ही प्रेम तथा कृतज्ञता से सदा डा. जाकिर हुसैन की असीम सेवाओं का स्मरण करेगी और उनके दृष्टिकोण के लिये अथक संघर्ष जारी रखेगी।"

उक्त प्रकार से शिक्षा क्षेत्र में अध्यापन, शैक्षिक संगठन, शैक्षिक योजना, शिक्षकों के उत्तरदायित्व, आदि क्षेत्र में उनका महती योगदान रहा है और यह देश उनका आभारी है उनके द्वारा प्रदत्त सांस्कृतिक विरासत को सदैव संजोकर रखेगा।

पंचम अध्याय

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

पंचम अध्याय

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

व्यक्तित्व

(1) साधारण भाषा में जिस प्रकार व्यक्तित्व को परिभाषित किया जाता है, मनोविज्ञान उसे स्वीकार नहीं करता है। शारीरिक बनावट तथा आकर्षण को ही व्यक्तित्व मान लिया जाता है।

'व्यक्तित्व' शब्द का अंग्रेजी शब्द 'परसनल्टी' है। 'परसनल्टी' शब्द की उत्पत्ति 'परसोना' शब्द से मानी जाती है। इसका अर्थ होता है 'नकाब' (मास्क)। यूनान निवासी नकाब पहनकर अभिनय करते थे जिससे दर्शक यह न जान सकें कि कौन व्यक्ति अभिनय कर रहा है।

'पर्सनल्टी' शब्द का उद्‌गम लैटिन भाषा 'परसोनार' शब्द से भी माना जाता है। इसका अर्थ होता है –ध्वनि करने के सादृश्य। यह उस व्यक्ति की आवाज को व्यक्त करता था जो भेष बदले हुए होता था। परसोना शब्द किसी व्यक्ति के कार्यों को स्पष्ट करने के लिये किया जाता था।

1. परिभाषा

व्यक्तित्व की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से की है। व्यक्तित्व की कुछ परिभाषायें निम्न प्रकार है –

''ड्रेवर'' के अनुसार व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों के सुसंगठित तथा गत्यात्मक संगठन के लिये किया जाता है जिसे वह अन्य व्यक्तियों के साथ अपने सामाजिक जीवन के आदान–प्रदान में प्रकट करता है।'

''ऑलपोर्ट'' के अनुसार ''व्यक्ति एक क्रियाशील संगठन है जो व्यक्ति के

मनो–शारीरिक ढांचे को निश्चित करता है जिन्हें वह वाहय परिवेश में अपने आपको समायोजित करने में अपूर्व रूप से अपनाता है।''

व्यक्तित्व के प्रकार

कुछ विद्वानों द्वारा किये गये वर्गीकरण पर प्रकाश डाला जा रहा है –

यंग द्वारा किया गया वर्गीकरण

1. वर्हिमुखी

वर्हिमुखी व्यक्ति सामाजिक होता है। उसकी सामाजिक कार्यों में विशेष रूचि होती है।

2. अर्न्तमुखी

अर्न्तमुखी व्यक्ति आत्मकेन्द्रित होता है। वह एकांतप्रिय होता है। दूसरों के समक्ष कम बोलता है।

''क्रेचमर'' के अनुसार निम्न प्रकार व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया गया है –

(1) मिलनसार (2) खिलाड़ी (3) एकांतप्रिय (4) असाधारण

स्प्रेंगर ने 6 प्रकार के व्यक्तित्व बताये हैं –

(1) वैचारिक (2) आर्थिक (3) सौन्दर्यात्मक (4) राजनैतिक (5) धार्मिक (6) सामाजिक

व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम तथा वातावरण का प्रभाव पड़ता है।

वंशानुक्रम व्यक्तिक्त को प्रभावित करने में नलकाविहीन ग्रन्थियां, शारीरिक बनावट (स्नायुविक) स्नायुविक रचना प्रमुख हैं।

शारीरिक बनावट का प्रभाव भी व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। बालक का वातावरण भी व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। भौतिक वातावरण, सामाजिक वातावरण, सांस्कृतिक वातावरण व्यक्तिक्त के विकास की संरचना करते हैं।

व्यक्तित्व का विकास वास्तव में उसके जन्म से पूर्व अर्थात गर्भावस्था से ही

प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु व्यक्तित्व विकास की गति जीवन भर एक सी नहीं रहती है। उसमें भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में विशिष्ट गुण उत्पन्न और विकसित होते है। कुछ अवस्थाओं में व्यक्तित्व विकास तीव्र गति से होता है उस अवस्था में व्यक्ति के व्यक्तित्व में एकदम परिवर्तन दिखाई देने लगते है किन्तु जब विकास धीमी गति से होता है उस समय व्यक्तित्व परिवर्तन की धीमी गति भी व्यक्ति की आयु के अनुसार स्पष्ट परिलक्षित होती है।

"सेठ गोविन्द दास के अनुसार व्यक्तित्व व्यक्ति का भावनात्मक शब्द है जिसमें व्यक्ति के गुण, धर्म कार्य और व्यापार का परिचय मिलता है। व्यक्ति का उसके गुणधर्म, कार्य एवं व्यापार के कारण समाज में जो स्वरूप बनता है, उसकी मुखिर एवं अन्त–प्रवृत्तियों का जो प्रभाव निर्मित होता है, यही पूंजीगत प्रभाव और स्वरूप व्यक्तित्व की संज्ञा में आता है। व्यक्तित्व के दो पक्ष है, एक व्यक्ति दूसरा समष्टि। व्यष्टि–हित किये जाने वाले मानवीय प्रयत्न एवं कार्य व्यष्टिमूलक व्यक्तित्व क्षेत्र में आते है। जबकि समाज और राष्ट्रहित के लिये किये जाने वाले प्रयत्न एवं कार्य समाज और राष्ट्रीय व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं। व्यक्तित्व की इन दो सीमाओं में बंधा मानव अपने प्रयत्न, पराक्रम और पुरुषोचित प्रवृत्ति के कारण आरम्भ से ही कर्त्तव्य–क्षेत्र में अग्रसर रहता है। कर्त्तव्य–क्षेत्र की इस परिधि में जहाँ एक ओर अगणित लोग ऐसे मिलते है जो अपने और अपने परिवारिकों के लिये कार्यरत रह अपने विचार और व्यक्तित्व का सृजन–सम्पादन करते है। तोइन अगणितों में एक ऐसा भी होता है जो अपनी निजता भुला एवं परिवार की परम्परागत निर्दिष्ट सीमाओं के संकोच से बाहर निकल अपने व्यष्टिरूप को समष्टि–हित अर्पित कर देता है। ऐसा मानव अपने गुण, धर्म, कार्य और व्यापार के कारण समाज के स्वत्वों की संपूर्ति का साधन बन जाता है और उसके प्रयत्न एवं कार्यों से समाज का जो स्वरूप बनता है वह है उसके व्यष्टि रूप की प्रतिच्छाया। अतीत काल में और आधुनिक काल में भी ऐसे अनेक महानुभाव हुये

हैं जिन्होंने अपने व्यष्टि रूप को समष्टि–हित में अर्पित कर उसका सांज–श्रंगार किया है और उनके इस अर्पण–समर्थन के कारण ही उनका समकालीन समाज उन्हीं के कारण ही उनका समकालीन समाज उन्हीं के रूप–स्वरूपों में प्रतिबिम्वित और प्रतिमासित हुआ है।"[1]

इसी परिप्रेक्ष्य में डा. राजेन्द्र प्रसाद के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने पर हम पाते है कि डा. राजेन्द्र प्रसाद ऐसे पुरुषों में महान थे तथा व्यक्तित्व की दृष्टि से भी प्रथमकोटि के जिन्होंने अपनी आन्तरिक और बाह्य प्रवृत्तियों एवं कर्म–धर्म को अभेद आचरण से अपने निजी हित को समाज एवं राष्ट्रहित में अर्पित कर दिया और व्यक्तित्व के मर्म–धर्म की मर्यादाओं का पालनकर उस पर अपनी छाप लगा दी।

बाह्य व्यक्तित्व

बाह्य व्यक्तित्व में उनका सांवला रंग, ऊँचा कद, कमी का दुबला पतला शरीर जो बाद में भर गया था और उसी के अनुरूप चेहरा भी राजेन्द्र बाबू के व्यक्तित्व का शारीरिक पक्ष था। वेशभूषा की दृष्टि से वह अपने राष्ट्रपतित्वकाल में विदेशी मेहमानों से मुलाकात के कारण तथा राष्ट्रपति की संविधान में निर्दिष्ट पोशाक की नियमपूर्ति के लिये शेरवानी और चूड़ीदार पाजामा पहनते रहे, किन्तु स्वभावतः उन्हें शायद अधिक आराम अपने कुरता, धोती और टोपी की उसी पोशाक में मिलता था जो वह कांग्रेस कार्यकर्ता की हैसियत से आरम्भ से पहनते रहे थे। कपड़ों के प्रति वह कभी सचेत नहीं रहे। सिर की टोपी से लेकर धोती तक सभी कुछ अव्यवस्थित रहता था। कुरता अथवा जाकेट का कभी कोई बटन खुला रहता, टोपी कभी एक ओर कभी दूसरी ओर झुकी हुई रहती। उनके पके बाल और हिलती डुलती छोटी सी चोटी टोपी उतारने पर नजर आती थी। बाल संभालने के प्रति वह कभी ध्यान नहीं देते थे। एक बार पंडित मोतीलाल नेहरू ने उनसे पूछा "आप कपड़े पहनते ही क्यों हैं।" इस पर राजेन्द्र बाबू

1. 'देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद' लेखक सेठ गोविन्ददास, राजपाल एण्ड सन्स, पृ. 55

ने उत्तर दिया "शरीर ढकने और बचाने के लिये।"

राजेन्द्र बाबू का तड़क–भड़क दिखावा से दूर का भी सम्बन्ध नहीं था। वह एक किसान के बेटा थे उनका सम्बन्ध तड़क–भड़क वाली वेशभूषा से नहीं था। मेक्सिको में स्वतन्त्र भारत के राजदूत की हैसियत से श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने जब राजेन्द्र प्रसाद का फोटू पेश किया तो मेक्सिको के राष्ट्रपति ने उसे गौर से देखकर कहा 'अरे यह तो मेक्सिको के किसान का चेहरा है। टोपी की जगह सोवेरारो को रखें तो यह हूबहू मेक्सिको के किसान लगते हैं।'

पराधीन भारत में एक बार लार्ड बेवेज ने राजेन्द्र बाबू से कहा कि यदि आपसे पूछा जावे कि आप कौन सा विभाग लेना पसंद करेंगे तो राजेन्द्र बाबू ने कहा खाद्य और कृषि क्योंकि ये मेरे लिये बिल्कुल अपने है। राजेन्द्र बाबू वेशभूषा तन और मन से सभी दृष्टियों से किसान थे। उन्होंने जीवनभर वेशभूषा या ठाठवाट पर कभी कोई ध्यान नहीं दिया था। यही हाल उनके सिर के बाल और मूछों का था। राष्ट्रपति भवन में उनकी मोटी–मोटी मूंछो की काट छांट होने लगी थी। वह नित्य दाढ़ी बनवाने के अभ्यस्त भी हो गये और पितृ–पक्ष आदि में दाढ़ी न बनवाने की परिपाटी का बन्धन भी जाता रहा। नीम की दातौन छोड़कर उन्होंने कभी टूथपेस्ट और ब्रुश का इस्तेमाल नहीं किया सदैव नीम का दातौन अपनाये रहे।

एक बार उनकी सेवा करने वाली नर्स ने उनके दाँतों के बारे में पूछा 'श्रीमान क्या यह नकली दाँत है।' मुस्कराते हुए राजेन्द्र बाबू ने कहा था –"मेरी कोई चीज नकली नही है।" उनके खान–पान में भी कोई बड़ा अन्तर नही आया। चपाती, दाल, भात, साग–सब्जी और साथ में 'संदेश' का टुकड़ा और अन्त में एक आम मिल जावे तो वही उनके लिये सर्वोत्कृष्ट भोजन होता। भुटठा भी उन्हे प्रिय था। चाय की आदत उन्होंने शिष्टाचार में अनिच्छापूर्वक डाली लेकिन उसके जायके से अनभिज्ञ ही रहे। उनके प्याले में कितनी चीनी डाली जावे जब कोई पूछता तो वह कहते 'आपकी

मर्जी'। वह जीवनभर शाकाहारी रहे उन्होंने **अंहिसा** का व्रत धारण कर लिया था। मासांहार उनके लिये दया और सहानुभूति में बड़ा बाधक है। विश्व शाकाहारी सम्मेलन के समय एक पत्र–प्रतिनिधि ने उससे पूँछा – अब भी राष्ट्रपति भवन में मांस क्यों परोसा जाता है तो उन्होंने सहज उत्तर दिया – "मैं तो शाकाहारी हूँ लेकिन मेरी सरकार नही।' वह अपने अनाकर्षक स्वरूप को वस्त्राभरणों से नहीं छिपाना चाहते थे वह अपने स्वरूप के प्रति सदा उदासीन रहे वे जीवन के स्वरूप के प्रति सतर्क और सचेष्ट बनने के पोषक थे। अपने अन्तरंग और अन्तःप्रेरित अपने आचार–धर्म के कारण वे इतने आकर्षक बने कि उनका अरूप और अनाकर्षक व्यक्तित्व एक आभाशील और आकर्षक दिव्य तेज में परिणत हो गया।

बाबू राजेन्द्र प्रसाद के व्यक्तित्व के पक्ष में श्रीमती सरोजनी नायडू ने कहा था : "बाबू राजेन्द्र प्रसाद के भव्य व्यक्तित्व के बारे में स्वर्ण–लेखनी को मधु में डुबोकर लिखना होगा। उनकी असाधारण प्रतिमा उनके स्वभाव का अनोखा आचरण, उनके चरित्र की विशालता और आत्म त्याग के उनके महानगुणों ने सम्भवतः हमारे सभी नेताओं से अधिक व्यापक और व्यक्तित्व रूप से प्रिय बना दिया है। सच्ची श्रद्धांजलि के रूप में इससे अधिक क्या कह सकती हूँ कि गाँधी जी के निकटतम शिष्यों में उनका वही स्थान है जो ईसामसीह के निकट सेंट जॉन का था।"

सर तेजबहादुर सप्रू ने राजेन्द्र बाबू के एक निष्ठ गाँधीवादी रूप के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुये कहा था – "गाँधी जी की अहिंसा 'एक्यावर्ड' यानी बुद्धि द्वारा निर्धारित है, जबकि राजेन्द्र बाबू की सर्वथा स्वाभाविक।" उदाहरणार्थ एक प्रमुख मौलाना फजुल रहमान जो बड़े ही उग्र स्वभाव के थे कुछ शिकायत लेकर राजेन्द्र बाबू के पास पहुँचे। राजेन्द्र बाबू सदाकत आश्रत में जमीन पर बैठे चर्खा कात रहे थे। मौलाना ने बगैर कुछ कहे सुने अनाप सनाप गालियाँ सुनाना शुरू की। राजेन्द्र बाबू पूर्ववत –

"बूद आघात सहे गिरि कैसे,

खलके वचन संत सह जैसे।"

वे अनुरूप चर्खा कातते रहे। मौलाना जब चुप हो गये राजेन्द्र बाबू ने कहा "क्यों मौलाना साहब। आपकी गालियाँ क्या खत्म हो गई।" मौलाना पर इसका बड़ा असर पड़ा उनकी आँखें भर आई और राजेन्द्र बाबू के पैर पकड़ लिये। अहिंसा के व्यावहारिक पक्ष का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है।

राजेन्द्र बाबू के राष्ट्रपतित्व–काल की एक ही घटना का उल्लेख करना आवश्यक है जो उनके स्वभाव की असाधारणता का प्रतीक है। राजेन्द्र बाबू का पुराना परिचारक तुलसी स्वभाव से लापरवाह था। एक दिन राष्ट्रपति भवन में राजेन्द्र बाबू की मेज साफ करते समय हाथी दाँत का बना कलश जो राजेन्द्र बाबू को बहुत प्रिय था कपड़ों की फटकार में नीचे गिरकर टूट गया स्याही कालीन पर फैल गई जिससे कालीन भी खराब हो गया। यह देख राजेन्द्र बाबू ने अपनी नाराजगी जाहिर कर उसे अपने पास से हटाकर राष्ट्रपति–भवन में ही दूसरी जगह स्थानान्तरित करने का हुक्म दे दिया। राजेन्द्र बाबू दफ्तर में आते है। विदेशी अतिथियों, आगन्तुको से मुलाकात करते रहे पर आज की घटना उन्हें भीतर ही भीतर कचोटती रही। मुलाकात की रस्म अदायेगी बड़े अन्यमनस्क भाव से करते रहे। मुलाकात समाप्त होने के बाद उन्होंने तुलसी को बुलाया और अपराधी भाव से उसके सामने हाथ जोड़ दीन भाव से कहा – "तुलसी तुम मुझे माफ कर दो।" राजेन्द्र बाबू के इस भाव, व्यवहार और मुद्रा से उसकी घिग्धी बन्ध गई। राजेन्द्र बाबू पूर्ववत मुद्रा में "तुलसी माफ कर दो" दोहराते रहो। तुलसी हतप्रभ था। आखिर तुलसी ने साहस बटोरकर सात्वनांत्मक शब्द राजेन्द्र बाबू से कहे तब राजेन्द्र बाबू को शांति मिली और उन्होंने तुलसी को पुनः अपनी जगह कार्य करने के लिये कहा। इस छोटी–सी घटना में राजेन्द्र बाबू के व्यक्तित्व के दर्शन किये जा सकते है।"

"बड़ा आदमी दूसरों को छोटा होने का आभास देता है जबकि महापुरुष दूसरों को महान होने का आभास दिलाता है" यह अंग्रेजी उक्ति राजेन्द्र बाबू के जीवन चरित्र पर पूर्णरूपेण लागू होती है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है :

डा. राजेन्द्र प्रसाद बहुत अच्छे साथी है, उनके साथ रहकर आप सदैव ईमानदारी से भरी सहायता और सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। उनके मुख पर कुछ ऐसी आध्यात्मिक क्रांति है, जो प्रेरणा और सहायता प्रदान करती है। वह कभी भी पदों के इच्छुक नहीं रहे, परन्तु ऊँचे पद उनके चरणों में गिरते हैं और वह कर्त्तव्य समझकर उनको संभालते हैं। वह अत्यन्त उदार हृदय और क्षमाशील है और विश्वास की ज्योति सदैव उनके हृदय में जलती रहती है। उन्होंने अपने गुरू महात्मा गाँधी का पूर्ण रूप से अनुसरण किया है और जब कभी उनसे मतभेद हुआ तब राजेन्द्र बाबू ने उनकी बात को ही स्वीकार किया, क्योंकि उनको यह विश्वास था कि बापू को गलती न करने की आदत है।"

साधन और साध्य की पवित्रता पर विश्वास और आचरण वाला आदर्श अपनी नजरों में अपने–आपका सम्मान बनाये रखने की प्रेरणा देता है और ऐसा व्यक्ति प्रशंसा, प्रशस्ति और पद प्रतिष्ठा से अनुप्राणित और परे रह सदा अपनी ही दृष्टि में अपने सम्मान वाले आदर्श के अनुसरण में दत्तचित्र रहता है। राजेन्द्र बाबू इस आदर्श के मूर्तिरूप थे।

'प्रभुता पाय काह मद नाही' तुलसीदास जी के इस कथन से जीवन भर अप्रभावित रहे। इस प्रसंग में एक घटना का उल्लेख करना उपयुक्त होगा। राजेन्द्र बाबू प्रथम राष्ट्रपति की हैसियत से जब राष्ट्रपति भवन में आये तो उन्होंने एक पलंग देखा जिस पर भारत के गर्वनर जनरल (वाइसराय) शयन करते थे। इस स्प्रिंगदार पलंग को राजेन्द्र बाबू ने नकार दिया। उन्होंने अपने लिये लकड़ी के तख्त की व्यवस्था करवाई।

राजेन्द्र बाबू एक साधारण हैसियत से भारत की सर्वोच्च सत्ता के अधिकारी बने उनकी छवि भरत के सदृश भगवानराम की चरण पादुकाओं रूपी प्रजातन्त्र की इस पादपीठ की पूजाभाव से ही की जा सकती है।

राजेन्द्र बाबू अकसर पिलानी जाया करते थे। पिलानी से अपने सेवक शकरिया कुम्हार को राष्ट्रपति भवन में बुला लिया था। कुछ समय बाद वह पिलानी वापस आ गया था। जब राष्ट्रपति जी गये तो उन्होंने शंकरिया कुम्हार को मिलने के लिये अपने पास बुलवाया। राष्ट्रपति के सेवकों ने सूचित किया कि वह अपने काम में लगा गधों से मिट्टी ढो रहा है और गधों की देखरेख में लगा है। जब शंकरिया उनसे मिलने आया तो उन्होंने उससे हंसकर कहा "अरे शंकरियां, तूने तो मेरी गधों के बराबर भी कदर नहीं की।' राजेन्द्र बाबू के हृदय में सहृदयता और महानता का जो सागर भरा रहता था वह जब–तब उनके विनोदी उलाहनों में भी झलक उठता था।

एक संस्मरण जब राजेन्द्र बाबू सरदार बल्लभ भाई पटेल के साथ वारडोली में थे उस समय भाई शंकर पडंया नामक एक सज्जन राजेन्द्र बाबू की सेवा–सुश्रषा में रहते थे। एक बार त्योहार का भोजन बर्तन मांगने वाला पत्तल में खा रहा था। वह पत्तल में परोसा भोजन एकटक देखते रहे फिर गरजकर भाई शंकर को बुलाया। शंकर ने राजेन्द्र बाबू का यह रौद्र रूप न कभी देखा था और न कभी कल्पना ही की थी। राजेन्द्र बाबू ने पत्तल स्वयं उठाकर पास खड़े कुत्तों को फेंक दिया था। भाई शंकर से बोले "खीर पूरी की पत्तल लाओ। किसने परोसी इसे रात के वासी चावल।" पत्तल आने के बाद वह बहुत खिन्न मन से बाहर निकल गये। इस वृत की जानकारी पर सरदार पटेल मुस्कराकर बोले थे" जरा इस पर नजर रखो, बापू स्वराज लेकर इसे ही सौपेंगे।"

एक बार वारडोली संग्राम के अपने लेफ्टीनेट श्री कुअंर जी भाई से सरदार ने व्यंग किया था – "जानते हो यह बुद्ध जैसा आदमी यहाँ क्यों है। बापू का खुफिया

है। हम सब पर नजर रखने के लिये उन्होंने इसे यहाँ तैनान किया है।'' इस पर कुंअर जी भाई ने संकेत क़िया – 'भाई जी, यह सीधी–सादी गाय क्या जासूसी करेगी।' सरदार व्यंग में फिर बोले ''गाय नहीं बापू की कामधेनु है यह। दूध पिलाकर हम सबको अहिंसक बना देगी।''

भावुक ह्रदय होते हुये भी वह ऐसे संयमी और धनी थे कि उनका प्रत्येक मत लोक कल्याण और लोकहित की दृष्टि से ही निकलता था। जवाहर लाल नेहरू कहा करते थे कि ''राजेन्द्र बाबू का अपनी जवान, दिल और कलम तीनों पर काबू है जब कि मेरा इन तीनों में से किसी पर भी नहीं।''

राजेन्द्र बाबू अपने जीवन के स्व्यं नायक और निर्माता थे। एक साधारण स्तर से अपनी प्रखर प्रतिमा, कर्मठता और त्यागबल से उनका जीवन मानव जीवन के एक बड़े आदर्शों का एक विनम्र साक्षी बना था जिस पर हर भारतीय गर्व करता रहेगा।

आन्तरिक व्यक्तित्व

डा. राजेन्द्र प्रसाद में किसान की सादगी और कर्मठता थी। उनका ह्रदय किसान के ह्रदय की तरह भोला और विश्वासी था। उनके व्यक्तित्व में विचित्र आकर्षण था, आँखों में शालीनता और चेहरे पर ऐसी नरमी थी जो प्रत्येक मिलने वाले के विश्वास को प्रेरित करती थी। अहंकार की छाया भी आपके व्यक्तित्व पर नहीं पड़ी। इतने सरल होते हुये भी आपके स्वभाव में ऐसी असीम गम्भीरता थी कि उसकी थाह ही नहीं मिलती। आपके ऊपर से गम्भीर और सदा शांत चेहरे के अन्दर अपार स्निग्धता, दया और वात्सल्य–भरी करूणा का श्रोत भरा हुआ था। पवित्रता और निर्दोषता के आप अवतार थे। आप किसी की अवस्था में किसी का अमगंक सोच ही नहीं सकते थे। सच्चे अर्थों में आपको अजातशत्रु कहा जा सकता था। बैर भावना ने कभी आपका स्पर्श भी नहीं किया। कल्पना में भी आपने किसी का अमंगल नहीं। चाहा इन दैवी गुणों की प्राप्ति के लिये आपको साधना नहीं करनी पड़ी बल्कि ये गुण स्वयं आपके व्यक्तित्व में

समा गये थे। बचपन में सुने भजनों और रामायण की कथाओं का वर्णन करते हुये आपने अपनी आत्मकथा में लिखा है – "सर्दियों की लम्बी रातों में जब बहुत सुबह ही मेरी नींद खुल जाती थी तो मैं माँ को भी नहीं सोने देता था। वे भी जागकर मुझे प्रभाती सुनाया करती थी। कभी–कभी रामायण–महाभारत की कथायें भी कहा करती। उन भजनों और कथाओं का प्रभाव मेरे दिल पर बहुत गहरा पड़ता था।" इनका प्रभाव जीवन में अंत तक रहा।

डा. राजेन्द्र प्रसाद स्मारक व्याख्यान माला के अन्तर्गत दिया गये व्याख्यान में पूर्व राष्ट्रपति डा. शंकर दयाल शर्मा ने कहा है कि "डा. राजेन्द्र प्रसाद के प्रति हमारे राष्ट्र का सम्मान केवल इसलिये नहीं है कि वह देश के प्रथम राष्ट्रपति थे। वह राष्ट्रपति नहीं भी होते तो भी देश की जनता की श्रद्धा के उतने ही पात्र होते, जिनके कि आज है। आजादी के बाद बापू किसी पद पर नहीं रहे, बिनोवा जी किसी पद पर नहीं रहे लेकिन उनका सम्मान किसी भी राजनेता से किसी भी तरह कम नही है। डा. राजेन्द्र प्रसाद इन्हीं महापुरुषों की श्रेणी के महापुरुष थे। उन व्यक्तियों में थे जो पद के आलोक से प्रतिभासित नहीं होते बल्कि जिनके स्वयं के आलोक से पद आलोकित होते हैं। कुछ पदों पर पहुँचकर महामहिम कहलाते है लेकिन राजेन्द्र बाबू के राष्ट्रपति बनने से मेरी मान्यता है, राष्ट्रपति पद स्वयं महामंडित हो गया।"[(1)]

डा. राजेन्द्र प्रसाद को अगले कदमों की स्पष्ट दिशा महात्मा गाँधी ने दी। उन्हीं के शब्दों में जो उन्होंने अपनी आत्मकथायें ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है "पहली युवाकाल में ही हम लोग अपनी इच्छा से गाँधी जी की फांस में फंस गये। ज्यों–ज्यों दिन बीतते गये, उनके साथ केवल प्रेम ही नहीं बढ़ा उनकी कार्य पद्धति पर विश्वास भी बढ़ता गया। चम्पारण का कांड समाप्त होते–होते हम सब उनके अनन्य भक्त और उनकी कार्यप्रणाली के पक्के हामी बन गये थे।"

1. "डा. राजेन्द्र प्रसाद' : व्यक्तित्व और जीवन–कार्य" लेखक पूर्व राष्ट्रपति शंकर दयाल शर्मा जो "भारतीय जनजीवन–चिन्तन के दर्पण में (खंड दो)" में लेख प्रकाशित हुआ प्रकाशक – प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, पृ. 175

राजनैतिक आन्दोलनों का नेतृत्व करने के साथ–साथ डा. राजेन्द्र प्रसाद गाँधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों के प्रचार–प्रसार में लगे रहे। वह जहाँ भी जाते हमेशा बापू के व्यक्तित्व के अनुकूल वह हमेशा आन्दोलन के अंहिसात्मक रूप को समझाने की कोशिश करते। 6 अप्रैल 1921 को जारी एक अपील में उन्होंने कहा था कि "हमें अभी अपने आपको अधिक भला और अधिक शुद्ध बनाना है। हम लोग अपने हृदय को टटोले। हमारे मन में क्षमाशीलता के अलावा दूसरे विचार न हो – यह क्षमाशीलता जो क्षमा करने की शक्ति को प्राप्त करने के दृढ़संकल्प से उपजी हो। हम लोग अपने जीवन को विचार वाणी और कार्य में सत्य और अहिंसा के साथ एकाकार करने का प्रयत्न करें।"

सत्य अहिंसा कर्तव्य पालन

सत्य, अहिंसा एवं कर्तव्यपालन में उन्होंने बापू के चिन्तन को अपने अन्दर उतारकर अपने आपको उसके अनुरूप ढाला।

1930 में नमक सत्याग्रह के दौरान जब देश के लोगों में बड़ा जोश खरोश था उन्होंने हमेशा अंहिसात्मक आन्दोलन को प्रचारित किया। अपनी ईमानदारी, कर्मठता, कार्यकुशलता, प्रखर स्मरण शक्ति, विनम्रता, तार्किक क्षमता तथा निस्वार्थ त्याग की भावना के कारण वह एक लोकप्रिय व्यक्ति बन गये थे। अपने जीवन में निर्भीकता का आचरण आत्मसात करते हुये उन्होंने गाँधी जी की नीतियों का सदैव समर्थन किया। उनके अनुसार हमारे सामने जो भी थोड़ा बहुत है हम उसे प्राप्त करने के लिये दृढ़ संकल्प है। वस्तुतः हमें जिस बात की जरूरत है वह है धैर्य अडिग संकल्प और अनंत बलिदान "गाँधी जी के प्रतिरूप होने के कारण उन्हें बिहार का गाँधी कहा जाने लगा था। अपनी मेहनत, कर्तव्यनिष्ठा, सेवाभाव, त्याग, ईमानदारी तथा लोगों से घुलमिल जाने की मानवोचित प्रवृत्तियों के कारण राजेन्द्र प्रसाद देश के लोगों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय हो गये थे राजेन्द्र बाबू के नेतृत्व के इन गुणों को कवि रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी कविता में तब लिखा था जब वह राष्ट्रपति नहीं थे बल्कि तब की है जब वे

स्वतन्त्रता आन्दोलन में पटना जेल में बंदी थे।

"एक मनुज, चालीस कोटि मनुजों को है प्यारा एक मनुज, भारत–रानी की आँखों का ध्रुवतारा एक मनुज जिसके इंगित पर कोटिलोग चलते है। आगे पीछे नहीं देखते, खुशी खुशी गलते है।" पंडित नेहरू उनके बारे में कहते है – "राजेन्द्र बाबू के अतिरिक्त ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति है जिनके बारे में यह कहा जाता है कि गाँधी जी के सन्देश को उन्होंने पूर्णरूप से अपनाया है।"

स्वयं गाँधी जी ने कहा है – "राजेन्द्र बाबू ने प्रेम से मुझे ऐसा अपंग बना दिया है कि मैं उनके बिना एक कदम भी आगे नहीं रख सकता मेरे साथ काम करने वालों में राजेन्द्र बाबू सबसे अच्छों में एक है। राजेन्द्र बाबू का त्याग हमारे देश के लिये गौरव की वस्तु है। नेतृत्व के लिये इन्हीं के समान आचरण चाहिये। राजेन्द्र बाबू का जैसा विनम्रतापूर्ण व्यवहार और स्वभाव है वैसा कहीं भी किसी भी नेता का नहीं है।" बापू आगे कहते हैं "कम–से–कम राजेन्द्र बाबू एक ऐसे व्यक्ति है जिन्हें मैं जहर का प्याला दूँ तो वह उसे निसंकोच पी जावेंगे।"

सर्वधर्म समभाव

राजेन्द्र बाबू में सभी धर्मों के प्रति समान भाव का। गाँधी जी के अनुरूप उनके मन में सभी धर्मों के प्रति आदर और धर्म विशेष की श्रेष्ठता को स्वीकार करने की अभिरूचि थी। अपने देश की बहुजातीय भिन्न सम्प्रदाय, बहुभाषीय व्यक्तियों के बीच देशहित में कार्य किया और उनमें एकरूपता के अतिरिक्त अन्यथा भाव नहीं आने दिया। लेकिन मोहम्मद अली जिन्ना ने अपने को मुसलमानों के लोकप्रिय नेता के रूप में स्थापित कर लिया था और यही कारण था कि साम्प्रदायिकता के जहर ने भारत माँ के हृदय का चीरकर दो टुकड़े कर दिये और 14 अगस्त 1947 को पाकिस्तान को आजाद देश घोषित कर दिया गया।

करूणा

उनका हृदय करूणा से परिपूर्ण था। इनके कुछ उदाहरण पूर्व पृष्ठों में दिये

गये है। राष्ट्रपति भवन में उनका परिचारक तुलसी से उनकी क्षमा याचना का वृतांत, पिलानी में शंकरिया कुम्हार का उदाहरण, बर्तन माँगने वाले को वासा परोसा गया भोजन आदि ऐसे संस्मरण हैं जिनसे हम उनके ह्रदय में परपूर्ण दया और करूणा का वृहत रूप देख पाते हैं।

स्वाध्याय

राजेन्द्र बाबू की समस्याओं का गहन अध्ययन चिंतन एवं विश्लेषण करना एक प्रमुखता थी। महात्मा गाँधी के दर्शन को पूरी तरह आत्मसात कर लिया था तथा उसके अनुसरण में सत्य अहिंसा, त्याग, सेवा–भावना, प्रेम, करूणा से प्रेरित अपना कार्य करते रहे। बापू के मूल्यों का इतना प्रभाव था कि उन्होंने करीब 20 पुस्तकें लिखी हैं जिनमें अधिकांश बापू के सम्बन्ध में है या बापू के विचारों के ऊपर एक पुस्तक का शीर्षक ही "बापू के चरणों में" है। अपनी पुस्तक 'असमंजस' में वर्तमान समाज की आपाधापी में उलझे हुये दुविधाग्रस्त मन के लिये गाँधीवादी रास्ते को राजेन्द्र प्रसाद की सबसे उपयुक्त बताते है। "असमंजस' के पृष्ठ 88 पर उन्होंने लिखा है कि "हमारे विचार में भारत के लिये और संसार के लिये सुख और शांति का एक ही रास्ता है और वह है अहिंसा और आत्मवाद का। अपनी दुर्बलता के कारण हम उसे भले ही गृहण न कर सकें, पर उनके सिद्धान्तों को तो हमें स्वीकार कर ही लेना चाहिये, और उसके प्रवर्तन का इंतजार करना चाहिये। यदि हम सिद्धान्त ही न मानेंगे तो उसके प्रवर्तन की आशा ही कैसे की जा सकती है। जहाँ तक मैंने महात्मा गाँधी के सिद्धान्तों को समझा है, वह उसी आत्मवाद और अहिंसा के, जिसे वह सत्य भी कहा करते, मानने वाले प्रवर्तक थे। हमें असमंजस की स्थित से बाहर निकलकर निश्चय कर लेना है कि हम अहिंसावाद, आत्मवाद और गाँधीवाद के अनुयायी और समर्थक है न कि भौतिकवाद के।"[1] डा. राजेन्द्र प्रसाद के स्वाध्याय और आत्मचिन्तन का साररूप अहिंसावाद आत्मवाद है जिसे हम गाँधीवाद भी कह सकते है। वह भौतिकवाद के स्थान पर

1. "असमंजय" राजेन्द्र प्रसाद कृत पृष्ठ–88

अध्यात्मकवाद के समर्थक थे और उनका अपना व्यक्तित्व और जीवन मूल्य इसी आध्यात्मवाद से बने हुये थे। उनका यह अध्यात्मकवाद किसी प्रकार के सम्प्रदायवाद या संकीर्णता से जुड़ा हुआ नही था "बल्कि स्वामी विवेकानन्द और बापू की तरह सभी धर्मों की एकता पर आधारित था। राष्ट्रपति भवन में सर्वधर्म सम्मेलन प्रबन्ध समिति के सामने 24 जून 1957 को अपने भाषण में उन्होंने कहा था कि "सभी धर्मों का खुलासा आदि पूछा जाये तो यही है कि मनुष्य को मनुष्य के साथ भाई–भाई के रिश्ते से बाधा जावे और सबका सबको पैदा करने वाले की ओर झुकाव रहे।" यह था डा. राजेन्द्र प्रसाद के चिन्तन का असल रूप।

देश प्रेम-भावनात्मक एकता

राष्ट्रपति पद से निवृत होने पर दिल्ली में निवास करने वाले मित्र बन्धुओं के पूछने पर कि फिलहाल सदाकत आश्रम में रहकर आप देश के लिये क्या करेंगे राजेन्द्र बाबू ने भाव भरे शब्दों में कहा था – 'वहाँ जाकर मैं कुछ कर सकूँगा या नहीं, यह मेरे स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। फिर भी थोड़े से दिन मेरे रह गये हैं, उन्हें में यथा साध्य देश सेवा में ही बिताऊंगा, यद्यपि मुझे अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं रहा। पर किसी काम को पूरा करना न करना इतना महत्वपूर्ण नहीं जितना कि इसकी पूर्ति के लिये दिल लगाकर जुट जाना है। मेरे इरादे और दृढ़ता में कभी–कभी नहीं रहेगी, यह मेरा विश्वास है। ईश्वर मुझे इस संकल्प को पूरा करने की शक्ति दे।

देश के प्रति प्रेम उनके जीवन की अंतिम सासों तक में उद्वेलित होता रहा। राष्ट्रवति भवन को त्यागकर सदाकत–आश्रम में पधारने के बाद उन्होंने देश की एकता की ओर संकेत करते हुये कहा था – "यद्यपि मैं सदाकत–आश्रम में पहुँच गया हूँ फिर भी मेरा दिमाग दिल्ली में ही पड़ा हुआ है। अभी भावी कार्यक्रम के विषय में मैंने कोई निश्चय नहीं किया है। एक बात मेरे दिमाग में स्पष्ट है कि देश में एकता और मिलजुलकर काम करने के विचार एवं परिस्थिति का भारी अभाव है। यही समस्या मुझे परेशान किये हुये है जो बेहद खटकती, चुभती रहती है। देश के सामने सबसे महत्वपूर्ण

प्रश्न दिमागों और दिल्ली सहयोग का है। हमारे बीच इतने मतभेद हैं कि अस्तित्व के लिये हम सभी मामलों में एकता कायम रखें। अतः राष्ट्रीय एकता को कमजोर बनाने वाले छोटे मोटे कारण दूर होने चाहिये। चाहे वह भाषा का प्रश्न हो चाहे राज्यों की सीमाओं का या पानी के वितरण का या धर्म का। .... यह कार्य .... सेवा–भाव और सभी के बीच एकात्मकता की भावना पैदा करने से ही हो सकता है।''

इसी बीच 9 दिसम्बर 1962 को राजेन्द्र बाबू की धर्मपत्नी श्रीमती राजवंशी देवी का देहावसान हो गया किन्तु उनके चेहरे पर उदासीनता की रेखायें नहीं उभरी। पत्नी वियोग की पीड़ा को भूलने के लिये उन्होंने छज्जूवाग स्थित अपने अस्थायी आवास में राष्ट्रीय एकता पर विचार करने के लिये एक गोष्ठी बुलाई, उसमें राष्ट्रीय एकता पर भाषण देते हुये उन्होंने कहा – ''स्वराज के पन्द्रह साल बाद भी हमें राष्ट्रीय एकता रखने की बात सोचनी पड़ती है, पर यह असलियत है कि हम अपने मुल्क के लंबे इतिहास में कई बार आपस की फूट से विदेशियों के शिकार बने। जिस स्वराज को सारे देश ने मिल–जुलकर हासिल किया उसे हम मिलजुलकर ही कायम रख सकते है।'' इस प्रकार उनकी बात को सुनकर सभी श्रोतागण विस्मित रह गये क्योंकि उस स्थिति प्रज्ञ राजर्षि के मुख से अपनी धर्मपत्नी के वियोग के सम्बन्ध में एक शब्द भी नहीं निकला।

चीनी आक्रमण के समय उन्हीं के आह्वान पर बुलाई गई पटना के गाँधी मैदान में एक विराट सभा को कर्तव्यबोध कराते हुये राजेन्द्र बाबू ने घोषणा की – 'हमने अहिंसा के द्वारा एक ऐसी ताकत से आजादी ली जो दुनिया की सबसे बड़ी ताकतों में गिनी जाती थी। आज दूसरा समय आया है और अहिंसा से महात्मा गाँधी ने जो आजादी प्राप्त की उसे आवश्यकतानुसार हिंसा और अहिंसा दोनों ही तरीकों से बचाना है। .... आज यह सोचने का समय नहीं है कि कौन रास्ता अच्छा है और कौन बुरा मूल बात यह है कि हमें हर स्थित में भारत को स्वतन्त्र रखना है। इस प्रकार नागरिकों ने महसूस किया कि राजेन्द्र बाबू बाहर से अस्वस्थ रहते हुये भी अन्दर से स्वस्थ थे,

उनके अन्दर प्रारम्भ से ही स्वदेश–प्रेम की अखंड ज्योति जल रही थी, वृद्धावस्था में भी वे देश की आजादी के रक्षा के लिये आत्म–बलिदान करने के लिये तत्पर थे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि जिस आजादी का अभिनन्दन शहीदों के खून से किया गया था, उसकी प्राण–रक्षा भी नवयुवकों के आत्म–बलिदान से ही सम्भव है।

राजेन्द्र बाबू भारत के राजेन्द्र थे। उनका शासन जनता के हृदय पर था। उनकी अप्रितम प्रतिभा जनता–जनार्दन के हृदय मैं अपना स्थान बना चुकी थी। अब वह हमारे बीच नहीं है। चकबस्त की निम्न पंक्तियां उनके प्रति सटीक है –

एक वे हैं जिन्हें भाई–बहिन रोते हैं।

मौत तेरी है, तुझे अहले–वतन रोते हैं।।

उनके व्यक्तित्व से हमें आत्म–कल्याण, राष्ट्र–कल्याण एवं विश्व–कल्याण की सीख मिलती है।

मेजर सी. एल. दत्ता ने अपनी पुस्तक अंग्रेजी संस्करण (विथ टू प्रेसीडेन्टस) "दो राष्ट्रपतियों के साथ" में प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद की भावनात्मक स्थित एवं अटटू देश प्रेम के आचारण तथा राष्ट्रपति भवन की भव्यता एवं शान सौकत के सम्बन्ध में कुछ इस प्रकार लिखा है – 'मुख्य बात यह थी कि राष्ट्रपति भवन के ज्ञान शौकत के उपकरण यदि स्मृति से न हटे तो भी आँखों के सामने न पड़े और इसी निमित्त सुन्दरीकरण मखमली पर्दे फ्रेंच अलंकरण के स्थान पर खादी एवं अन्य हस्त निर्मित वस्तुओं ने ले लिया।(1)

डा. राजेन्द्र प्रसाद के बारे में "राष्ट्रपति की हैसियत से भी प्रसाद का रहन सहन वैसा ही रहा जैसा कि वह गाँधी के सहकर्मों के रूप में सामान्य एवं साधारण। दैनिक कार्य में उनकी पोशाक में खादी कुर्ता, धोती और सफेद टोपी थी। वह हल्के जूते पहनते थे।" "प्रसाद ने साधारण जीवन जिया। उनकी जरूरतें बहुत कम थी। वह कम बोलते हल्की एवं भारी आवाज में।"

---

1. "विथ टू प्रेसीडेन्टस" लेखक मेजर सी.एल.दत्ता–विकास पब्लिकेसंस, पृष्ठ 33-34

"एक बार जब वह संविधान सभा के अध्यक्ष थे नई दिल्ली में अपने बंगला के सहन में एक पेड़ के नीचे आराम कर रहे थे। वह केवल धोती पहने थे और गर्मी के कारण कुर्ता उतार दिया था। संविधान सभा से एक चपरासी कुछ गोपनीय कागज लेकर आया जो केवल प्रसाद को ही देने थे। चपरासी उन्हें नंगे बदन में पहचान नहीं सका और कागज उन्हें सौंपने से मना कर दिया।" उनके सच्चे सरल भारतीय जीवन का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

"नेहरू और उनमें एक दूसरे के लिये बड़ा सम्मान था लेकिन नेहरू ने कभी–कभी उन्हें वह सम्मान नहीं दिया जो कि राष्ट्र के प्रथम व्यक्ति को मिलना चाहिये था वह अक्सर प्रसाद को मिलने के लिये इन्तजार कराते – सम्भवतः यह कार्य की अधिकता के कारण भी हो सकता है।"[1]

लेखक ने लिखा है कि राष्ट्रपति अपने स्टाफ के प्रति बेहद अपनत्व रखते थे और किसी के अस्वस्थ होने पर अपना राजकीय प्रोग्राम भी केन्सिल करने का मन बना लेते थे।

'अपनी अस्वस्थता की हालत में भी वह अपनी दिनचर्या का नियमित पालन करते थे। वह सुबह 4.45 उठते, एक कप चाय लेते, प्रार्थना करते और 5.45 पर राष्ट्रपति भवन के मैदान में घूमने निकलते।'

'वह अक्सर अपने परिवार के साथ दूसरी मंजिल के कमरा में दोपहर का भोजन करते। उनके खाना में पूड़ी और कभी–कभी चावल के साथ दाल, बैगन, दही, रहता। बाजरा का सततू उनको प्रिय था।'

"सत्य के प्रति आस्था, साधारण रहन सहन एवं उदारता उनके मुख्य गुण थे। शोषित एवं पीड़ित लोगों ने के प्रति उनमें बड़ी दया थी।"

अपनी साठ की उम्र पार कर भी उनकी स्मरण शक्ति केमरा जैसी थी। किसी पुस्तक का एक पृष्ठ पढ़कर अपनी स्मृति से उसे दुहरा सकते थे, बिना कोई

---

1. "विथ टू प्रेसीडेन्टस" लेखक मेजर सी.एल.दत्ता–विकास पब्लिकेसंस, पृष्ठ 40

शब्द छोड़े या विराम चिन्ह को भूले।''

अपने राष्ट्रपतित्व काल में वह खुलेपन से साधुओं से मिलते उनके भजन और गीतापाठ सुनते। वह नियम के साथ उपास रखते और अन्य हिन्दू धार्मिक संस्कारों का पालन करते। अपने गिरते स्वास्थ्य पर भी उन्होंने बद्रीनाथ की यात्रा और दान–धर्म की सभी क्रियाओं का पालन किया।

''राष्ट्रपति पद से निवृत होते समय उन्होंने सरकार से एक व्यक्तिगत इस्तेमाल के लिये नई कार की चाहना की और चाहा कि उस पर एक्साइज डयूटी न ली जाये। मंत्रालय ने इसे स्वीकार नहीं किया और उन्हें अपने लिये सेकेन्ड हेतु सवारी से संतोष करना पड़ा।''

सन 1961 में भारत की स्वतन्त्रता के बाद बिट्रेन की महारानी इलजावेथ (द्वितीय) भारत में आने वाली प्रथम थी। उस समय राष्ट्रपति अपनी 'आत्मकथा' को लिख रहे थे। महारानी ने पूंछा कि इसके लिये आपको समय मिल जाता है। उन्होंने उत्तर दिया था कि 'मैं इसे बहुत पहले से लिख रहा था। यह न भूले कि आपके पिता द्वारा दी गई 16 वर्ष जेल में बिताये। उस समय जेल में लिखने के लिये बहुत समय था। इस प्रकार सहज और निष्कपट भाव से बोलने में उन्हें संकोच नहीं रहता था।

दक्षिण भारत के भ्रमण से ठीक पहले 19 जुलाई 1961 को प्रसाद को खून की उल्टी आई और परीक्षण में उनके पेट में अल्सर पाया गया। उप राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन ने 25 जुलाई 1961 को कार्यवाहक राष्ट्रपति के हैसियत से राष्ट्रपति का कार्यभार सम्हाला। अपनी इस अस्वस्थता के समय भी वह साधु संगत भजन पूजन एवं अन्य धार्मिक क्रिया–कलापों में व्यस्त रहे। उन्हें अपने पौत्र पौत्रियों से बेहद स्नेह था। वे उनसे प्रेम से मिलते और बाबा कहकर सम्बोधित करते। उनके करीब 11 पौत्र और पौत्रियां थी जिनकी आयु 14 से 21 वर्ष के बीच थी।[1]

डा. प्रसाद जब वह राष्ट्रपति में अमेरिका जाने को तीव्र इच्छुक थे लेकिन

1. ''विथ टू प्रेसीडेन्टस'' लेखक मेजर सी.एल.दत्ता–विकास पब्लिकेसंस

उनकी यह मंशा पूरी नही हुई कुछ तो उनकी बीमारी के कारण और कुछ राजनैतिक कारणों से सेवाकाल के बाद भी उन्होंने इसके लिये प्रयास भी किया लेकिन इसके पूर्व कि उन्हें इसके लिये विधिवत आमंत्रण मिलता मौत ने उन्हें उठा लिया।[1]

'उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान' लखनऊ द्वारा प्रकाशित और बाल्मीक चौधरी द्वारा संकलित उनकी ''डा. राजेन्द्र प्रसाद एक युग–स्मरण'' पुस्तक में राजेन्द्र प्रसाद की बहुमुखी प्रतिमा को इस तरह कहा है 'वह एक महामानव थे जिनको अजात शत्रु कहा जाता था। गाँधी जी के सच्चे अनुयायी थे। बिहार के गाँधी कहलाते थे। गाँधी जी के निकट कई रत्न इकट्ठे हुये थे, उनमें वे ही देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद कहलाये।

'सार्वजनिक जीवन में उनकी कार्य–कुशलता, सेवा–परायणता, बौद्धिक प्रखरता, सच्चाई, सहृदयता, सहज गम्भीर और सौजन्य सभी बेमिसाल थे।' कबीरदास की यह पंक्तियां उन पर सटीक बैठती थी ''सहज सहज सब कोई कहे, सहजन चीन्हे कोई। जिन्ह सहज विषयातजी, सहज कहे सो साई'' जिस किसी को उनकी निकटता का सुअवसर मिला है वह उनके सहज और अकृत्रिम व्यवहार से मुग्ध हुआ है।

उनके व्यक्तित्व की व्याख्या कितने ही शब्दों में की जाये कम हैं। राजेन्द्र प्रसाद धर्मात्मा और सांस्कृतिक पुरुष थे। मानवीयता उनमें कूट–कूट कर इतने सहज रूप से भरी हुई कि व्यवहार में उसे लाने के लिये उन्हें कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। उनके व्यक्तित्व में दार्शनिक जैसी तीक्ष्ण बुद्धि और बालक की सी नितांत सरलता समन्वित थी।

राजेन्द्र प्रसाद जनकवत थे। गीता में जनक के सम्बन्ध में कहा गया है –

कर्मणैव हि संसित्मा स्थिताजन कादयः।

लोक संग्रह मेवानि संपश्चन्कर्तुम मर्हसि।।

राजर्षि जनक आत्मज्ञानी थे। इसलिये लोक–शिक्षा के लिये उन्होंने सब नियम कर्मों का भलीभांति आचरण किया। जनता को जीवन–यापन तथा कर्म करने की

---

1. ''विथ टू प्रेसीडेन्टस'' लेखक मेजर सी.एल.दत्ता–विकास पब्लिकेसंस

शिक्षा देने के लिये वह कर्म करते थे। मर्मज्ञ अपने कार्य–कलाप के द्वारा ऐसा आदर्श स्थापित करता है, जिसका अन्य अनुसरण कर सके। यही राजेन्द्र प्रसाद के जीवन से शिक्षा ली जा सकती है।

कृतित्व

डा. राजेन्द्र प्रसाद के नाम के पहले डा. लगने का विशेष कारण यह है कि 1937 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने इन्हें डाक्ट्रेट की मानद उपाधि से विभूषित किया। इसके अतिरिक्त दिल्ली विश्वविद्यालय ने भी अपने एक विशेष दीक्षांत समारोह में प्रिंस सीलिक और डा. राजेन्द्र प्रसाद को डाक्ट्रेट की मानद उपाधि प्रदान की। उनके लेखकीय व्यक्तित्व में उन्होंने अंग्रेजी और हिन्दी में कई पुस्तकें लिखी इसमें निम्न प्रसिद्ध है –

हिस्ट्री आफ द चम्पारन सत्याग्रह

चम्पारन में महात्मा गाँधी 1917 सत्याग्रह और असहयोग के सम्बन्ध में जो कुछ महात्मा गाँधी ने किया। दक्षिण अफ्रीका से लौटकर महात्मा गाँधी ने महत्व जो पहला काम किया था वह चम्पारन में ही किया था। चम्पारन आन्दोलन में डा. राजेन्द्र प्रसाद महात्मा गाँधी के सहगामी थे और उनके निर्देशन में चलने वाले अग्रदूत। राजेन्द्र प्रसाद ने चम्पारन संघर्ष का क्रमवार वर्णन किया है। यह पुस्तक ऐतिहासिक महत्व से भी अति महत्वपूर्ण है। चम्पारन में गाँधी जी के साथ रहने व रैयतों की नीलवरों के अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के अपने पुरजोर प्रयत्नों के कारण वह बिहार के गाँधी बन चुके थे।

आत्मकथा-1947

आत्मकथा के प्राक्कथन में सरदार बल्लभ भाई पटेल ने लिखा है – "उनकी 'आत्मकथा' हमारे पिछले तीस वर्षों के सार्वजनिक जीवन का इतिहास बन जाती है।"(1)

"इस आत्मकथा में हमें राजेन्द्र बाबू को बाल्यकाल के बिहार के सामाजिक

1. "आत्म कथा" राजेन्द्र प्रसाद कृत–प्राक्कथन सरदार वल्लभ भाई पटेल

रीति–रिवाजों का, संकुचित प्रभावों से होने वाली हानियों का, उस समय के ग्राम जीवन का, धार्मिक व्रतों, उत्सवों और त्योहारों का, उस जमाने के बच्चों के जीवन का और उस समय की शिक्षा की स्थिति का हू–बहू चित्र देखने को मिलता है। उस चित्र में सादगी और खानदानियत के साथ विनोद और खेद उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का मिश्रण हुआ है। साथ ही आजकल हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भेद–भाव की जो खाई बढ़ी हुई नजर आती है उसके अभाव का और दोनों जातियों के बीच शुद्ध स्नेह का जो चित्र इस आत्मकथा में है वह आँखों को ठंडक पहुँचाने वाला होते हुये भी दुर्भाग्य से आज लुप्त होता जा रहा है।''

वियोगी हरि जी ने लिखा था – ''इस पुस्तक को यदि गाँधी जी आत्मकथा का'' जीवन भाष्य कहा जाये तो अनुचित न होगा। युग की इस सुन्दर अमर कृति को प्रकाश में लाने के लिये पटना के साहित्य–संसार का मैं बहुत–बहुत बधाई देता हूँ।''

बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन ने लिखा था – ''आत्मकथा'' को पढ़ते समय हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ रहा था। राजेन्द्र बाबू ने देश की बहुत ऊँची सेवायें की है। इस पुस्तक को लिखकर उन्होंने अपनी सेवाओं की मणिमाला को एक बहुत मूल्यवान दीप्तिमणि से कसा है। हिन्दी भाषा के लिये यह पुस्तक गौरव की वस्तु होगी। उसके साहित्य में इसका अनोखा स्थान होगा। पुस्तक की रचना में बिना प्रयास माधुर्य और नाप–तौल है। जान पड़ता है यह एक अनुभवी चितेरे का सहज उरेरा सौन्दर्य–भरत चित्र है।''

आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार – ''देशरत्न श्री राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्मकथा लिखकर देश का महान उपकार किया है, क्योंकि इसमें हमका उनका जीवन–चरित्र ही देखने को नहीं मिलता किन्तु साथ–साथ देश का वर्तमान इतिहास भी सजीव और प्रामाणिक रूप में पढ़ने को मिलता है।''

प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार द्वारा डा. राजेन्द्र प्रसाद स्मारक व्याख्यान, माला के अन्तर्गत दिये गये व्याख्यानों का प्रकाशन

"भारतीय जन–जीवन" चिन्तन के दर्पण में खण्ड दो में प्रकाशित व्याख्यानों में हरिवंश राय बच्चन का "राजेन्द्र बाबू, आत्म कथाकार के रूप में" व्याख्यान प्रकाशित है जिसमें श्री बच्चन ने कहा है "डा. राजेन्द्र पाठक की आत्मकथा मूलरूप से राजनैतिक कार्यक्षेत्र के क्रियान्वयन की कथा है।"

"आत्मकथा के अधिकांश में लेखक का तेवर आत्मकथा का अनोखा इतिहासकार का हो गया है, जहाँ अपेक्षित आत्मीय सत्य की जगह पर वस्तुगत सत्य प्रस्तुत किया गया है और आत्मकथाकार मानवीय पक्ष उभारने के बजाय दबाता गया है।"

"फिर भी आत्मकथा के पीछे एक देशभक्त त्यागी, दृढ़प्रतिज्ञ, अनुशासनप्रिय, निरमियानी, सर्व–सहिष्णु एवं अहं–संयमित व्यक्ति का चित्र उभरता है।"

राजेन्द्र बाबू के अन्तकरण में देश की एक राष्ट्रभाषा हिन्दी–उर्दू को मिलाकर बनाने का ध्येय था जिसके लिये 'हिन्दुस्तानी' शब्द का इस्तेमाल किया गया है। उनकी भाषा में हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी, फारसी शब्दों का मेल इस प्रकार किया गया है जो स्वाभाविक है और शब्दों को ढूढ़ने का प्रयत्न नहीं किया गया है। राष्ट्रभाषा की परिकल्पना में एक ऐसी आमजन वाणी हो जिसमें विजातीय शब्द भी सजातीय लगें जिनका प्रयोग आमजन द्वारा आमतौर से किया जा रहा है। आत्मकथा में कुछ इसी प्रकार की भाषा का इस्तेमाल राजेन्द्र बाबू ने किया है।

3. इण्डिया डिवाइडिड 1946

इण्डिया डिवाइडिड में राजेन्द्र प्रसाद ने तत्कालीन समय साम्प्रदायिक जहर से भारत के खण्डित होने की स्थितियों का उल्लेख किया है। मुस्लिम लीग की अव्याहिरिकता के कारण भारत का विभाजन करके दो स्वतन्त्र देश व राष्ट्र स्थापित विषय पर भावात्मक अध्ययन है।

4. एट द फीट आफ महात्मा गाँधी 1955

गाँधी जी के कार्य, उनकी कार्य पद्धति, विचार और उसका पक्ष और विपक्ष पर पड़ने वाला प्रभाव राजेन्द्र बाबू ने देखा था। उसमें उनके प्रति प्रेम तो बढ़ा ही,

उनकी कार्य–पद्धति और दूरगामी परिणामों पर भी पक्का भरोसा हो गया और राजेन्द्र बाबू ने अपने आपको पूर्णरूप से बापू के कदमों में समर्पित कर दिया था। गाँधी जी से अति निकटता का उल्लेख पुस्तक में है।

5. सिंस इंडिपेन्डेन्स

6. यूरोप-यात्रा

पानी के जहाज से की गई यूरोप की यात्रा का अत्यन्त रोचक, सूचनापरक और आकर्षक वर्णन इस पुस्तक में है।

अपनी आत्मकथा में डा. राजेन्द्र प्रसाद ने 1940 में अपनी जेल अवधि के दौरान अपने संस्मरण लिखे थे।

आत्मकथा में उल्लेख किया है कि गो सेवा सम्बन्धी विषय पर वर्धा के गो–सेवा सम्मेलन में अपना भाषण लिखा था।

7. पत्र सम्पादन

1918 में राजेन्द्र प्रसाद ने बिहार के प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक "सर्च लाइट" की स्थापना की। उन्होंने एक हिन्दी साप्ताहिक "देश" का प्रकाशन किया साथ ही बिहार विद्यापीठ की भी स्थापना की।

8. इकनामिक्स आफ खादी

खादी प्रचार का रामेन्द्र प्रसाद का कार्य बिहार तक ही सीमित नहीं था। उन्होंने कई खादी केन्द्रों की यात्रा की और वहाँ की उपयोगिता और उसके आर्थिक पक्ष के बारे में व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों का महत्व समझकर आंध्र के कांग्रेसजनों ने पुस्तक रूप में उनका संग्रह प्रकाशित करवाने का अनुरोध किया। वे व्याख्यान अंग्रेजी में "इकनामिक्स आफ खादी" के नाम से प्रकाशित हुये। बाद में उनका हिन्दी में अनुवाद हुआ।

1926 में कौंसिल प्रदेश के कांग्रेस चुनाव के लिये उन्होंने लम्बी–लम्बी

यात्रायें की और समय लगाया। उन्हें अफसोस हुआ कि हिन्दुओं में अनेक जातीय गुट है जो एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या रखते हैं और एक दूसरे को परेशान करते रहते है। "देश" में एक लेख लिखकर उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे।

राजेन्द्र प्रसाद अपने हिन्दी प्रेम के लिये प्रसिद्ध थे। नागपुर अधिवेशन के बाद सम्मेलन ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना की, जिसके सभापति राजेन्द्र प्रसाद निर्वाचित हुये। उनके सभापतित्व में और महात्मा गाँधी के नीति–निर्देशन में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने एक ओर राष्ट्रभाषा के प्रचार का और दूसरी ओर हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि पर बड़ा उपयोगी कार्य किया।

9. असमंजस

अपनी पुस्तक असमंजस में डा. राजेन्द्र प्रसाद वर्तमान समाज की आपाधापी में उलझे हुये दुविधाग्रस्त स्थिति के लिये गाँधीवादी रास्ता को सबसे उपयुक्त बताते है। उनके विचार से हमें असमंजस की स्थिति से बाहर निकलकर निश्चय कर लेना है कि हम अहिंसावाद, आत्मवाद और गाँधीवाद के अनुयायी और समर्थक हैं न कि भौतिकवाद के।"

10. भारतीय संस्कृति (तीस चालीस वर्ष पूर्व लिखी गई-1995)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दीक्षांत भाषण देते हुये राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था "भारतीय संस्कृति की विशेषता है उसकी समन्वय शक्ति उसकी विविधता में एकता, उसका सर्वधर्म समभाव उसकी विश्वमैत्री की भावना, उसकी विनम्रता, उसकी संयमशीलता और सारी वसुधा को एक कुटुम्ब समझने की उसकी क्षमता।"

पत्र सम्पादन

1918 में बिहार का प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक 'सूर्चलाइट' का प्रकाशन किया है। 1920 में हिन्दी साप्ताहिक देश का प्रकाशन किया।

संस्था खुलवाना

1921 में बिहार विद्यापीठ की स्थापना की। इसका मुख्य उद्देश्य था, भारतीय

विद्यार्थियों के मन में राष्ट्र प्रेम, स्वाभिमान तथा अपनी संस्कृति के प्रति गर्व की भावना भरना और उन्हें चारित्रिक दृष्टि से दृढ़ बनाना।

सदाकत आश्रम

उन्होंने गाँधी जी के दर्शन को मूर्त रूप देने तथा खादी के काम को आगे बढ़ाने के लिये पटना के निकट सदाकत आश्रम की स्थापना की थी। सदाकत का अर्थ होता है सच्चाई।

सहायता कार्य

स्वदेशी के लिये डा. राजेन्द्र प्रसाद की मूल्यवान सेवाओं का ध्यान रखते हुये, बेलगाम कांग्रेस में 23 दिसम्बर 1924 को अखिल भारतीय स्वदेशी प्रदर्शनी का उद्‌घाटन का सम्मान उन्हें ही दिया गया।

उन्होंने विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार कार्य को अनेक प्रकार से सुविधाजनक बनाने का प्रयास किया। राजेन्द्र प्रसाद ने शराब व विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के लिये स्वयंसेवकों की भर्ती के लिये भी अपील की।

14 अप्रैल 1931 को उन्होंने चम्पारन जिला का दौरा किया जहाँ से वगहरा, पिपरिया, वेतिया, सुझौली, ढाका और मोतीहारी गये। वहाँ के लोगों का उत्साह बढ़ाया और सरकार की दमन–नीति की जानकारी दी।

उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों की एकता बनाये रखने आपस में लड़ाई झगड़ा न करने के लिये प्रेरित किया।

1942 के आन्दोलन के कारण बंदियों को बहुत से कष्ट उठाने पड़े थे। उन पर समर्थन प्रकट में चल रहे थे। मुकदमों की पैरवी में खर्च करना पड़ता था। कैद हो जाने पर उनके परिवार को बहुत कष्ट उठाना पड़ता था। ऐसे लोगों की सहायतार्थ राजेन्द्र बाबू ने कुछ धन संग्रह करना चाहा। उन्होंने पिलानी में पैसा जमा करने का कार्य शुरू किया। पिलानी के अलावा शेखावाटी, चिड़ावा, सूर्यगढ़, फतहगढ़ कई स्थानों में बह गये। इस तरह 15-16 हजार रुपया उनके कोष में आ गये थे। उन्होंने

जगह–जगह पर पीड़ित कोष के लिये रुपये जमा किये। इस तरह से उन्होंने पीड़ित कोष में अच्छा धन संग्रह कर लिया था।

गाँधी जी के आदेश पर रचनात्मक काम में अपना पूर्ण योगदान किया और खादी प्रचार द्वारा विदेशी वस्त्र बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, अछूतोद्धार, हिन्दू–मुस्लिम एकता के कामों का अपनाया।

छपरा की भयंकर बाढ़ में राजेन्द्र बाबू सहायता कार्य में जुट गये थे। उन्होंने पैसा जमा करने में और दूसरी तरह की सहायता के काम में हिस्सा लिया। 1914 की बाढ़ में भी उन्होंने कलकत्ता से ही सहायता देने का काम संगठित रूप से प्रारम्भ किया था। जब कभी गाँव में बाढ़ आई तो कुछ न कुछ सहायता का प्रबन्ध उन्होंने किया। 1923 में शाहाबाद में सोन की भयंकर बाढ़, मधुबनी की भयंकर बाढ़ के लिये उन्होंने सहायता कार्य किये।

1914 में बंगाल और बिहार में बड़ी भयंकर बाढ़ आई। कलकत्ता के बाढ़ पीड़ितों के लिये रुपया जमा करने में सहयोग किया। अपने सहयोगियों के साथ गाँव–गाँव घूमकर भोजन बांटते। बिहार में सेवा समिति का पहला संगठन शायद यही था। सोनपुर के मेला में यात्रियों की मदद करने के लिये उसका संगठन कर दिया गया। सेवा समिति में उनके भाई बहुत दिलचस्पी लेते थे। बरसों वह उसके अध्यक्ष रहे।

नीलवर के अत्याचारों से चम्पारन के किसान त्रस्त थे। जहाँ नील की खेती हो ही नहीं सकती थी वहाँ पचासों प्रकार के टैक्स जो कानूनन मना थे लगातार वसूली किया करते थे। चम्पारन आन्दोलन में राजेन्द्र प्रसाद गाँधी जी के परम सहयोगी थे। गाँधी जी ने किसानों की तकलीफों की जाँच प्रारम्भ की। हजारों की संख्या में रैयत आये। सबके ब्यान लिखे गये। राजेन्द्र प्रकार तथा उनके अन्य सहयोगी कई दलों में बँटकर बहुत दिनों तक बयान लिखते रहे। इसमें सारे जिला में क्रांतिकारी परिवर्तन आया। राजेन्द्र प्रसाद ने सावधानी और संयम के साथ गाँधी जी के आदेशों का पालन

किया। एक कर्मठ समर्पित–अनुयायी राजेन्द्र प्रसाद गाँधी जी के लक्ष्य के साथ जुड़े रहे और अंत में रैयतों को सफलता प्राप्त हुई और नीलवरों के जुर्म से निजात मिली। इस आन्दोलन का विस्तृत विवरण उनके द्वारा लिखित "चम्पारन में महात्मा गांधी" पुस्तक में मिलता है।

चम्पारन से ही राजेन्द्र प्रसाद के जीवन पर बहुत बड़ा असर पड़ा। जातपांति का पूरा प्रभाव राजेन्द्र प्रसाद पर था लेकिन चम्पारन में सभी एक दूसरे की बनाई रसोई खाने लगे और उनकी जिन्दगी में सादगी भी और आई।

चम्पारन आन्दोलन में राजेन्द्र प्रसाद का अभूतपूर्व योगदान रहा था। स्वभावतः वह अति उदार सहज थे दूसरों के प्रति सदा दया एवं उपकार की भावना रखते थे। उनके अन्दर अपने अधीनस्थ एवं नौकरी के प्रति कोई भेदभाव नही था। उन्हें राजेन्द्र प्रसाद से सदैव उच्च सम्मान मिलता था।

उन्होंने बिहारी छात्रों को स्वदेशी आन्दोलन में जोड़ने का महत्वपूर्ण सहयोग किया था। छात्र प्रतिनिधि के रूप में राजेन्द्र बाबू बिहारी छात्रों से बातचीत करने पटना गये। पहला छात्र सम्मेलन पटना कालेज के बड़े हाल में हुआ। सम्मेलन के उद्देश्य का भार राजेन्द्र बाबू पर ही सौंपा गया था जिसे राजेन्द्र बाबू ने बड़ी युक्ति के साथ सम्भाला। वह सम्मेलन 1906 से 1920 तक निरन्तर कार्य करता रहा। असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ होने के बाद उसकी गति में शिथिलता आयी।

1906 में कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने अपनी पंडाल की डयूटी का बड़े चावपूर्ण ढंग से निर्वहन किया था।

आयोग एवं समितियों की अध्यक्षता/संचालन

राजेन्द्र प्रसाद जब एम. ए. और बी. एल. की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। स्वदेशी आन्दोलन में भाग लेने लगे। बिहार के छात्रों का पहला सम्मेलन जो राजेन्द्र प्रसाद के प्रयास से पटना में आयोजित किया गया था उसमें उन्होंने सम्मेलन के उद्देश्य पर वृहद प्रकाश डाला और कालेजों तथा स्कूलों में छात्र समितियां गठित करने का

फैसला किया गया। प्रायः सभी शहरों में इसकी शाखायें हो गई। यह सम्मेलन 1906 में कायम हुआ था और प्रतिवर्ष अपना सालाना जलसा करता रहा। जब असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ। असहयोग आन्दोलन में वे आगे बढ़े। वे इसी छात्र संगठन को उत्पादित सदस्य थे और उन्होंने प्रायः सूबे के नेतृत्व का भार ग्रहण किया।

डा. राजेन्द्र प्रसाद के नेतृत्व में बिहार के असंख्य कार्यकर्ता स्वतन्त्रता और असहयोग आन्दोलन में जुट गये और उसका संदेश गांव–गांव पहुँचाने लगे। राजेन्द्र बाबू ने सारे बिहार का तूफानी दौरा किया। सार्वजनिक समायें की ओर आन्दोलन का सफल संचालन किया।

स्वदेशी के लिये बाबू राजेन्द्र प्रसाद की मूल्यवान सेवाओं का ध्यान रखते हुये 23 दिसम्बर 1924 को अखिल भारतीय बेलगाम कांग्रेस में अखिल भारतीय स्वदेशी प्रदर्शन के उद्घाटन का सम्मान उन्हें ही दिया गया था।

राजेन्द्र प्रसाद अपने हिन्दी प्रेम के लिये प्रारम्भ से ही प्रसिद्ध थे। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनों में सन 1924 में अपने कोकोनाड़ अधिवेशन में उन्हें सभापति बनाया। 1926 में बिहार प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन दरभंगा के तथा 1927 में संयुक्त प्रांत हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कांगड़ी अधिवेशन के सभापति बने।

राजेन्द्र प्रसाद ने 25 और 26 अप्रैल 1931 को मानभूम जिला सम्मेलन की अध्यक्षता की। 1934 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन में (बम्बई में) राजेन्द्र बाबू इसके अध्यक्ष चुने गये। सभापति के रूप में राजेन्द्र बाबू का बम्बई की जनता ने हार्दिक स्वागत किया। राजेन्द्र बाबू के सभापतित्व काल में ही कांग्रेस की स्वर्ण जयंती मनाई गई।

लखनऊ कांग्रेस की समाप्ति पर राजेन्द्र प्रसाद ने अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन नागपुर में अधिवेशन की अध्यक्षता की। नागपुर अधिवेशन के बाद सम्मेलन ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना की। राजेन्द्र बाबू के सभापतित्व में हिन्दी भाषा श्री वृद्धि का बड़ा उपयोगी कार्य हुआ।

2 सितम्बर 1946 को भारत में अंतरिम सरकार की स्थापना हुई। डा. राजेन्द्र प्रसाद ने कृषि और खाद्य मंत्री के रूप में उन दिनों देश को अन्न संकट और दुर्भिक्ष से बड़ी कुशलता के साथ बचा लिया। अंतिरिम सरकार स्थापित होने पर विधान परिषद की स्थापना हुई और सर्वसम्मति से इसके राजेन्द्र बाबू अध्यक्ष चुने गये।

और अंत में वह प्रथम पुरुष भारत के अध्यक्ष पद पर आसीन हुये। राजेन्द्र बाबू 12 वर्ष तक भारत के राष्ट्रपति पद पर सुशोभित रहे। उन्होंने राष्ट्रपति–पद की गुण–गरिमा को भी बढ़ाया। यह संतों जैसे निर्लिप्त निर्दोष और निरमियानी व्यक्ति थे।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

'क' व्यक्तित्व

वाहय व्यक्तित्व

रंग मोरा शरीर ऊंचा पूरा और तगड़ा। आनन आकर्षक और ठीक ढंग की पोशाक। वे शेरवानी और अचकन नहीं पहनते पर उनका कोट शेरवानी और अचकन से भी अधिक लम्बा रहता था। देश के बाहर वे पतलून पहनते थे और देश में धोती सिर पर सफेद मद्रासी ढंग की पगड़ी रहती।

आन्तरिक व्यक्तित्व

राधाकृष्णन की स्मरण शक्ति बहुत प्रबल थी। उनका स्वभाव अत्यन्त सरल एवं अत्यन्त मित्र वत्सल था। वह संघर्ष से कभी घबड़ाये नहीं औ न कभी पराजित हुए।

धनाभाव के रहते राधाकृष्णन ने अपनी अध्ययनशीलता, विश्व की धार्मिक संस्थाओं का ज्ञान एवं भारतीय दर्शन का गहन अध्ययन कर अपने दार्शनिक व्यक्तित्व का निर्माण किया है। उन्होंने पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन कर उसके समन्वय की दिशा भी प्रदान की है।

शिक्षा में डॉ. राधाकृष्णन की गहरी अभिरूचि भी और मूलतः तथा प्रमुख रूप से वे शिक्षक ही थे। यही कारण है कि देश में उनका जन्म दिन (5 सितम्बर) शिक्षक दिवस के रूप में मनाया जाता है। वे तीक्ष्ण बुद्धि पैनी पकड़, विलक्षण स्मरण–शक्ति जटिल को सरल बनाने की प्रतिमा और अडिग आदर्शवाद के धनी थे।

राधाकृष्णन की विद्वता से सारा संसार प्रभावित था। उनके धर्म में जातीय वर्ण तथा रंगभेद का कोई स्थान नहीं था। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से पूर्व और पश्चिम के बीच एक सेतु का निर्माण किया। उन्होंने अपने ज्ञान और कर्त्तव्य परायणता से भारतवर्ष का गौरव बढ़ाया। वे न केवल भारतीय बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विद्वान थे।

सत्य अंहिसा

डॉ. राधाकृष्णन के जीवन पर स्वामी विवेकानन्द रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा महात्मा गांधी का गहरा असर पड़ा है।

वह विशुद्ध शाकाहारी थे। जीवन में कभी मांस अथवा शराब का सेवन नहीं किया।

कर्त्तव्य पालन

उनके पिता वीरा स्वामी एक छोटी–सी राशि पर एक जमींदारी में काम करते थे। उन्हें अपने पांच बेटों एवं एक पुत्री वाले बड़े परिवार का पालन–पोषण करने में काफी कठिनाई होती थी। परिवार की अल्प आमदनी में वृद्धि करना आवश्यक हो गया था। उन्होंने अपने छात्र–जीवन में टयूसन करके परिवार के बोझ को हलका कर अपने कर्त्तव्य का पालन किया। सन् 1909 में मद्रास प्रेसीडेन्सी कॉलेज में सहायक शिक्षक के रूप में अपने शिक्षक जीवन की शुरूआत की। राधाकृष्णन को जीविका के लिए प्रतिदिन संघर्ष करना पड़ता था। एक बड़े संयुक्त परिवार को चलाने के लिये उन्हें पैसों का सदा अभाव रहता था। पिता के अवकाश प्राप्त करने के बाद उन्हें अपने परिवार के साथ–साथ, भाई, बहनों का पालन–पोषण भी करना पड़ता था। अपने कर्त्तव्य पालन निहितार्थ पहले उन्होंने सोने के सारे पदक बेच डाले जो उन्हें परीक्षाओं में सर्वप्रथम आने के लिये मिले थे।

निर्भीकता

डॉ. राधाकृष्णन महान विद्वान और आध्यात्म से जुड़े व्यक्ति थे जीवन की विषम परिस्थितियों से कभी भयाक्रांत नहीं हुए। सर्वप्रथम जब उन्हें मद्रास अवर सेवा में सबसे नीचे दर्जे का पद मिला जिसका अल्पवेतन था। राधाकृष्णन इस अपमानजनक स्थिति को सहजता से नहीं ले सके। उन्होंने एक आन्दोलन की शुरूआत करके यह मांग की, कि अवर वेतनमान कर्मचारियों का स्तर राज्य एवं अखिल भारतीय शैक्षिक सेवा के उच्च वर्गीय कर्मचारियों के समक्ष किया जाय। यह वह समय था जब

अधिकारियों की आज्ञा को चुपचाप मान लेना और भेदभाव को स्वीकार कर लेना आम चलन था। राधाकृष्णन श्रमिक संगठनों के नेता की भांति इस मुद्दे को लेकर निर्भीकता से लड़े, क्योंकि वह समझते थे कि उनकी मांग न्यायोचित है।

उनका जीवन स्वच्छ, सरल एवं निर्भीकता पूर्ण था। उनका जीवन इस प्रकार के उदाहरणों से भरा है।

राधाकृष्णन ने एक अविस्मरणीय भेंट के बारे में बताया – ''स्तालिन का चेहरा फूला हुआ था। मैंने उनके गाल और उनकी पीठ थपथपाई और उनके सिर पर हाथ फेरा।'' स्तालिन ने कहा ''आप पहले व्यक्ति है जिसने मेरे साथ एक राक्षस समझकर नहीं बल्कि एक मनुष्य समझकर व्यवहार किया है। मैं आपके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ। मैं अब ज्यादा दिन नहीं जीऊंगा।''

इस प्रकार के एक नहीं कई विस्मरणीय उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है।

सर्वधर्म समभाव

उनकी सोच में रूढ़िवादीता का सम्पूर्ण अभाव था। यह गुण विदेशों में उनकी लोकप्रियता में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। ब्रम्ह सूत्र का टीकाकार धम्मपद का भी व्याख्याकार था। श्रीकृष्ण एवं बुद्ध दोनों पर उन्होंने समान श्रद्धा से लिखा। अपने श्राताओं को वे अक्सर कहा करते थे ''धर्म केवल कर्मकाण्डवाद या सम्प्रदायवाद नहीं है वरन् यह महत्ता की खोज के साथ–साथ सारे आध्यात्मिक गुणों का श्रोत है।''

''ईस्टर्न रिलीजन एंड वेस्टर्न थॉट'' नामक पुस्तक में आध्यात्मिक समस्याओं के प्रति ईसाई एवं यूरोपीय धारणा को सहानुभूति और समझदारी ढंग से देखने की कोशिश की है। उन्होंने पाश्चात्य दार्शनिकों एवं धर्म मुख्यतः हिन्दु एवं ईसाई तथा पूर्वी धर्म एवं दार्शनिकों, मुख्यतः हिन्दू एवं बौद्ध विचारधारा विभिन्न समय में परस्पर एक दूसरे की धारणा को प्रभावित करने की धारणा पर बल दिया है। उन्होंने सभी धर्मो की शिक्षाओं के 'सर्वव्यापक एवं अक्षय सत्य' पर भी बल दिया। उनके अनुसार सभी धर्मो की विशिष्ट एकता को एक सम्प्रदाय के रूप में नहीं वरन् एक सामान्य खोज के रूप

में देखना है।

करूणा

डॉ. राधाकृष्णन बहुत ही सरल और दयालु किस्म के थे। अध्यापन काल के समय उनका छात्रों से चाहे उनकी संख्या कितनी ही बड़ी क्यों न हो व्यक्तिगत परिचय रहता था। छात्रों के नाम व्यक्तिगत रूप से उन्हें स्मरण रहते थे। एक अंतराल के बाद मिलने पर भी वह पूर्व की घटनाओं की चर्चा इस प्रकार करते थे मानो यह कल की घटना हो। इसकी करूणामय व्यवहार से बाहरी छात्र भी उनकी कक्षा में अध्ययन करने का लोभ नहीं त्याग सके और राधाकृष्णन ने इस पर कभी आपत्ति भी नहीं की।

मैसूर से राधाकृष्णन की बिदाई मर्मस्पर्शी थी। सन् 1918 से 1921 तक उन्होंने वहां अध्यापन कार्य किया था, फिर भी छात्रों के साथ उनके वैयक्तिक सम्बन्ध ने उन्हें सबका प्रिय बना दिया था। उनमें हर छात्र को अलग–अलग याद रखने की अद्भुत शक्ति थी। राधाकृष्णन बड़े स्नेह से उनकी पीठ थपथपाते और उन्हें विशेष उपनामों से बुलाते थे। हार्दिक श्रद्धाभाव के कारण छात्रों ने राधाकृष्णन की ऐसी बिदाई की जैसी मैसूर में पहले कभी नहीं देखी गई थी। अत्यन्त आग्रह के साथ उन्होंने राधाकृष्णन को एक बग्घी में बिठाया और स्वयं उसे रेलवे स्टेशन खींचकर ले गए।

स्वाध्याय

उच्च शिक्षा के लिए विषयों के चयन के प्रति धनाभाव के कारण असमजंस मे थे लेकिन चचेरे भाई के सुझाव पर उन्होंने दर्शन शास्त्र एवं तर्कशास्त्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा था "इन्हीं पुस्तकों ने मेरे भविष्य की अभिरूचियों को निर्धारित किया था।"

आगे चलकर दर्शनशास्त्र के पांडित्व ने राधाकृष्णन को विश्वगुरू के स्थान पर स्थापित किया है।

स्वाध्याय की लगन से वे वाईविल के पूर्ण जानकार बन गये थे। अपने विद्वतापूर्ण शोध के माध्यम से राधाकृष्णन ने प्रबन्ध लेखन के लिए 'द एथिक्स ऑफ

वेदान्त' विषय को चुना था। राधाकृष्णन भारतीय चिन्तन पर लिखे गये प्रमुख ग्रंथो के अध्ययन में लग गये। उन्होंने उपनिषद्, भगवतगीता, जैन एवं बौद्ध धर्मो के मूल ग्रन्थ शंकर भाष्य रामानुजय एवं माधव की टीका ब्रम्ह सूत्र इत्यादि का अध्ययन किया।

इसके साथ–साथ उन्होंने पाश्चात्य दर्शन का भी गहन अध्ययन किया विशेषकर प्लेटो, प्लाटिनस, कांट, ब्रेड ली एवं वर्गसन पर उनका पूरा अधिकार था। अंग्रेजी साहित्य का उन्हें विशेष लगाव था लेकिन हिन्दी एवं संस्कृति का भी उन्होंने ज्ञान अर्जित किया। नयी–नयी विचार धाराओं को समझने के लिए हमेशा आतुर रहते थे।

उन्होंने अकेले ही भारतीय दर्शन को एक क्रमबद्ध एवं पाठनीय सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया है।

देश प्रेम भावनात्मक एकता

प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू का कहना था "राधाकृष्णन ने कई प्रकार से अपने देश की सेवा की किन्तु फिर भी, सर्वोपर वे एक महान शिक्षक रहे जिससे हम सब लोगों ने बहुत कुछ सीखा और सीखते रहेंगे।"

हिन्दू होने के नाते उनका धार्मिक स्वाभिमान और जाग उठा जब विवेकानन्द की प्रखर घोषणा ने भारतीय युवा वर्ग को आत्म–सम्मान बढ़ाने के लिये प्रेरित किया। यह भावना आगे चलकर और तीव्र हुई जब उन्होंने वीर सावरकर की पुस्तक 'द फर्स्ट वार आफ इंडिपेन्डेस' पढ़ी।

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में राधाकृष्णन को सम्पूर्ण सहयोग देने से कोई विमुख नहीं कर सका। राधाकृष्णन ने कई बार विशेषकर सन् १९१९ के जलिया–बाग हत्याकांड के बाद उन्होंने अपनी नौकरी छोड़ देने पर विचार किया। लेकिन परिवार का भरण–पोषण का दायित्व एक मात्र उन्ही पर होने के कारण वे भारतीय शैक्षिक सेवा की सरकारी नौकरी करते रहने को विवश थे।

सन् 1930 के बाद जब अमेरिका व इंग्लैण्ड में उन्हें उच्च सम्मान मिला तो

भारतीय स्वतन्त्रता के पक्ष में निर्भीकता से अपने विचार व्यक्त करने का कोई अवसर उन्होंने हाथ से न जाने दिया। वे गरजकर कहते थे "भारत कोई गुलाम नहीं जिस पर शासन किया जाए, बल्कि अपनी आत्मा की खोज में लगा एक राष्ट्र है।"

एक अवसर पर एक प्रमुख ब्रिटिश राजनीतिज्ञ ने बड़ी गम्भीरता से राधाकृष्णन से पूछा कि किसी उपयोगी वैज्ञानिक कार्य के लिए भारतीय सक्षम हो सकता है या नहीं। राधाकृष्णन ने गुस्से में करारा जबाव दिया कि हजारों वर्षों से अधिक समय तक भारतीय वैज्ञानिक खगोल विज्ञान एवं गणित जैसी गतिविधियों में अग्रणी रहे हैं। जब भारत का राजनैतिक भविष्य आक्रांत होने लगा उसी समय से उसके गैर राजनैतिक गुण भी नष्ट होने लगे थे।

राधाकृष्णन का दृढ़ विश्वास था कि स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेना कोई शोक की चीज नहीं वरन कर्त्तव्य था, वे स्वयं भारत छोड़ो आन्दोलन की घोषणा के बाद व्यक्तिगत रूप से सक्रिय हो गये। वे भारतीय ब्रिटिश वायसराय एवं इंग्लैण्ड की ब्रिटिश सरकार से बार–बार यह चेतावनी देने में आगे रहे कि द्वितीय विश्व युद्ध के शीघ्र बाद भारत को स्वशासन का वचन दे।

वे देश की कौमी एवं भावात्मक एकता के प्रबल पक्षधर थे।

'ख' कृतित्व

(1) **रचनायें** - ग्रंन्थ रचना, पत्र सम्पादन, भाषण, विद्रतापूर्ण शोध के माध्यम के रूप में राधाकृष्णन ने स्नातकोत्तर डिग्री में प्रबन्ध लेखन के लिए 'द एथिक्स आफ वेदान्त' विषय को चुना। उन्ही के शब्दों में इसका उद्देश्य था "वेदान्त व्यवस्था में आचार नीति का कोई स्थान नहीं है इस आरोप का खंडन करना।" दर्शन शास्त्र के स्काटिश प्राध्यापक डॉ. ए.जी. हाक ने राधाकृष्णन को एक विशेष प्रशंसा पत्र दिया जिसमें लिखा था "अपनी स्नातकोत्तर डिग्री के लिए राधाकृष्णन ने जो प्रबन्ध तैयार किया है उसमें दार्शनिक समस्याओं के प्रमुख पक्षों की अदभुद समझ दिखाई देती है। साथ ही जटिल तर्क को चतुराई से प्रतिपादित करने की क्षमता एवं अंग्रेजी भाषा पर उसका पूर्व

अधिकार भी है।''

साथ ही इस प्रबन्ध को इतना सुन्दर माना गया कि उसे एक किताब के रूप में प्रकाशित किया गया।

राधाकृष्णन की पुस्तकों में दांते, गोएथ एवं अन्य प्रमुख उच्चकोटि के लेखको के साथ–साथ सेक्सपियर, वर्ड्सवर्थ, मैथ्यू आरनाल्ड, वाल्ट व्हिटमान कोलिरिज एवं ब्राउनिंग आदि के अनेक उदाहरण मिलते है।

अपने बाद के वर्षों में वे मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद पद्य लेखन में समकालीन विधाएं एवं कला इत्यादि का अध्ययन करने की ओर भी उन्मुख हुए।

उन्होंने अपने मनोविज्ञान पर दिये अनेक व्याख्यानों को संग्रहीत कर उसे एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाया।

अन्तर्राष्ट्रीय पत्र–पत्रिकाओं में अपने अनेक विचारोंत्तेजक लेखन से राधाकृष्णन ने और भी अधिक ख्याति अर्जित की। इसमें कुछ प्रमुख इस प्रकार थे – 'द क्वेस्ट' जनरल आफ फिलासिफी' तथा 'द इंटरनेशनल जनरल आफ एथिक्स'। अपनी बहुमुखी प्रतिभा को प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने विभिन्न विषयों का चयन किया। जैसे–कर्म एंडफ्री विल, मार्टेलिटी एण्ड रिलीजन इन एजूकेशन, अव्यू आफ वार फ्राम इंडिया (फर्स्ट वर्ल्ड वार) आदि।

राधाकृष्णन की पुस्तक द फिलसिफी आफ रवीन्द्र नाथ टैगोर में उन्होने लिखा है–''सन् 1912 में मैं पहली बार टैगोर के लेखन से परिचित हुआ। उनकी गीतांजलि एवं साधना ने मुझ पर बहुत प्रभाव डाला। ' द क्वेस्ट' में लिखे गए मेरे लेख इस बात की व्याख्या करते है कि टैगोर का जीवन दर्शन भारतीय प्रवृत्ति का वास्तविक प्रतिरूपण है।'' राधाकृष्णन ने 'मेरा प्रबन्ध' को एक पुस्तक के रूप में' विकसित किया।

साहित्यिक शालीनता, गहन विचारों का स्पष्ट प्रतिपादन एवं दुरूह तकनीकी शब्दावलियों से मुक्त रहना–ये गुण राधाकृष्णन की पुस्तको एवं व्याख्यानों की प्रमाणिकता बन गए और इन्ही गुणों से शीघ्र ही उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति, प्रशंसा एवं विशिष्टता

अर्जित की।

1920 में राधाकृष्णन की पुस्तक "दरेन आफ रिलीजन इन केटेम्परेरी फिलासिफी" प्रकाशित हुई। यह उनकी पहली महत्वपूर्ण पुस्तक थी जिसमें पाश्चात्य चिंतन की विवेचना की गई थी। इसने उन्हें पाश्चात्य चिंतको के समकक्ष एवं अग्रणी प्रतिपादक के रूप में प्रतिष्ठापित किया।

उनकी पुस्तक 'इंडियन फिलसिफी' को सभी ओर से प्रशंसा प्राप्त हुई।

उन्होंने अकेले ही भारतीय दर्शन को एक क्रमबद्ध एवं पठनीय सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया। "एक उच्च कोटि के दार्शनिक ग्रन्थ एवं श्रेष्ठतम साहित्यिक कृति के रूप में इसकी सराहना की गई। एक टिप्पणीकार ने कहा था "यह विवरण प्रशंसनीय रूप से उन सभी दुरूह शब्दावलियों से मुक्त है जो दार्शनिक ग्रंथों के अनिवार्य अंग होते है। साथ ही प्राचीन ऋषियों की शिक्षाओं में निहित गूढ़ तत्व एवं सार को राध ाकृष्णन ने पूर्ण सरलता के साथ स्पष्ट किया है।"

राधाकृष्णन की पुस्तकों के कारण ही भारतीय दर्शन एक प्रमुख विधा के रूप में स्थापित हुआ। एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (चौदहवा संस्करण) के सम्पादक ने थोड़ी जगह बनाकर राधाकृष्णन से आग्रह किया कि वे भारतीय दर्शन पर इसमें एक लेख लिखें।

डॉ. राधाकृष्णन को इंग्लैण्ड के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में विशेष 'अपटन व्याख्यान' देने के लिए आमंत्रित किया गया। इस व्याख्यान का विषय था "जीवन के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण बाद में इसे पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया गया। समय आने पर ऑक्सफोर्ड के 'ऑल सोल्स कॉलेज' के फेलो के रूप में उनका सम्मान किया गया।

राधाकृष्णन की महान क्षमता इस बात में थी कि वे सदियों पुराने ज्ञान की व्याख्या आधुनिक पुरूषों तथा महिलाओं के लिए आधुनिक शब्दावलियों में इस प्रकार करते थे ताकि इसका प्रयोग वे अपने आधुनिक अनिभूतियों के रूप में कर सकें।

प्रसिद्ध मैकमिलन प्रकाशन कम्पनी के मालिक हैराल्ड मैकमिलन इंग्लैण्ड में

राधाकृष्णन के व्याख्यानों में सदैव उपस्थित रहते थे।

विश्व प्रसिद्ध उपान्यासकार एवं निबंधकार एल्डस हक्सले ने कहा था "राधाकृष्णन के व्याख्यानों ने भारतीय व यूरोपीय दो भिन्न संस्कृतियों को समझने के लिए एक सेतु बनाने का काम किया।"

यूरोप में 'वर्ल्ड कांग्रेस ऑफ फेथ' के संस्थापक सर फ्रांसिस यंगहसवेंड ने ब्रिटिश अकादमी में 'मास्टर मांइड' व्याख्यान माला में राधाकृष्णन का गौतम बुद्ध पर व्याख्यान सुनने के बाद यह कहा कि "यह एक महान आत्मा के ऊपर एक महान विद्वान का व्याख्यान था।" और कहा था कि "इंग्लैण्ड के चिंतको एवं विशिष्ट व्यक्तियों में भी प्रमुख विशिष्ट वर्ग के श्राताओं के समक्ष राधाकृष्णन ने बिना किसी सहायक आलेख के तथा बिन अटके अपना व्याख्यान दिया जिसमें वहां इकटठे हुए सभी लोग चकित थे। उन्होंने बुद्ध विचारधारा के साथ–साथ हिन्दू विचार धारा को यहीं इंग्लैण्ड में हमारे घरों तक पहुंचाया है।"

'इर्स्टन रिलीजन एण्ड बेस्टर्न थाट'' नामक पुस्तक में राधाकृष्णन ने आध्यात्मिक समस्याओं के प्रति ईसाई एवं यूरोपीय धारणा को सहानुभूति और समझदारी ढंग से देखने की कोशिश की है।

"राष्ट्र संघ की बौद्धिक सहयोग समिति" में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए भी उन्होंने समय निकाला।

ब्रिटिश गर्वनर के मतानुसार 'यह वह आदमी था जिसने न केवल प्राचीन वेदों पर अग्नि पुर्नप्रज्वलित कर दी थी वरन कवि टैगोर और महात्मा गांधी के विचारों को एक नवीन परिप्रेक्ष्य में एक नये दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया।"

दिसम्बर सन् 1947 में राधाकृष्णन अपनी नयी पुस्तक 'भगवत माता की टीका' गांधी जी को समर्पित करने के पूर्व उनकी अनुमति चाहते थे और गांधी जी ने उनका अनुरोध मान लिया। प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने उनसे विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग का अध्यक्ष पद संभालने के लिए कहा जिसका गठन विशिष्ट शिक्षाविदों

को मिलाकर 1948 में हुआ था।

सन् 1949 में राधाकृष्णन को सोवियत संघ में भारत के प्रथम राजदूत के रूप में चुना गया।

सन् 1955 में प्रधानमंत्री नेहरू ने अप्रत्याशित रूप से राधाकृष्णन को उपराष्ट्रपति पद के लिये चुना। उन्होंने राज्य सभा के अधिवेशनों की कुशलतापूर्वक अध्यक्षता की। दो बार लगातार पूर्ण अवधि तक उप राष्ट्रपति के पद पर रहे।

वर्ष 1962 में सर्वपल्ली राधाकृष्णन भारतीय गणतन्त्र के दूसरे राष्ट्रपति निर्वाचित हुए।

मद्रास से मैसूर, वहां से कलकत्ता एवं आक्स फोर्ड तथा वहां से आन्ध्र एवं बनारस विश्वविद्यालय के कुलपति पद तक, अपनी योग्यता से ख्याति की सीढ़ियां चढ़ते हुए राधाकृष्णन अपनी विशिष्टता के चरमोत्कर्ष पर अपनी योग्यता की बदौलत पहुंचे।

दूसरों की सहायता करने में भी वे अग्रणी थे। एक विद्यार्थी जिसका नाम मोहम्मद उस्मान था इससे सबसे अधिक फायदा उठाया, "सिर्फ बी.ए. पास करने में मेरी सहायता कर दें फिर इसके बाद मैं कहां तक पहुचूंगा इसकी कोई सीमा नहीं है।" उसने गर्व से कहा था और ऐसा ही उसने कर दिखाया। मोहम्मद उस्मान मद्रास विश्वविद्यालय का उप कुलपति, मद्रास स्टेट का कार्यकारी गर्वनर बन गया। वायसराय की कार्यकारणी परिषद की सदस्यता भी उसे मिली। यद्यपि यह उसे कांग्रेस के स्वतन्त्रता आंदोलन का विरोध करने के पुरस्कार स्वरूप मिला था।

डा. जाकिर हुसैन
व्यक्तित्व एवं कृतित्व

व्यक्तित्व

आलपोर्ट के अनुसार "व्यक्ति एक क्रियाशील संगठन है जो व्यक्ति के मनो–शारीरिक ढंगों को निश्चित करता है, जिन्हें वह बाह्य परिवेश में अपने आपको समायोजित करने में अपूर्व–रूप से अपनाता है।" यह परिभाषा व्यक्तित्व के सम्बन्ध में काफी पूर्णता लिये हुये है।

डा. जाकिर हुसैन का बाह्य व्यक्तित्व

व्यक्तित्व के सम्बन्ध में डा. जाकिर साहब ने लिखा है – "बच्चा भी एक व्यक्तित्व है, वह कोई बेजान चीज नहीं खिलौना नहीं गुड़िया नहीं।"

"सारा भारत मेरा घर है और उसमें रहने वाले मेरा परिवार" यह मीठे बोल बोलने वाला भारत का सपूत और सचमुच 'भारत रत्न' था।

विद्यार्थी जीवन में एक ओर व्यक्तित्व जिसने डा. साहब में आध्यात्मिकता का दीप जलाया और साधु संत जैसे गुण उत्पन्न किये वह थे हसन शाह साहब। वह एक सूफी थे और शाह तालिब फरूक्खावादी के शिष्य थे। डा. साहब को सूफियों और संतों के प्रति जो श्रद्धा हसन शाह द्वारा प्राप्त हुई वह जीवन भर बनी रही। उन्होंने संतों की शिक्षा और जीवन की परिस्थितियों से जो पाठ सीखा वह मानव प्रेम था जिसमें धर्म–जाति का भेद न था, न रंग–व–नस्ल का लिहाज था।

अलीगढ़ के विद्यार्थी जीवन का समय डा. साहब के व्यक्तित्व एवं चरित्र–निर्माण में बहुत महत्व रखता है। उनकी बुद्धि योग्यता और नैतिकता की छाप सभी पर छा गई।

उनके ही शब्दों में "मैंने अति सक्रिय जीवन व्यतीत किया है लेकिन सब का सब बिना सोचा समझा। लेकिन असहयोग आन्दोलन में अलीगढ़ छोड़ना जीवन का प्रथम सोचा–समझा निर्णय रहा। सम्भवतः जीवन का अकेला निर्णय, शेष जीवन केवल उसका प्रवाह रहा है।"

उनकी कार्यशैली अनोखी थी। वह अपने साथियों के साथ इस प्रकार कार्य करते थे कि अफसर–मातहती का प्रश्न ही नहीं उठता था। डा. साहब यद्यपि जामिया के कुलपति थे लेकिन वह हर प्रकार का कार्य करते थे। वह प्राथमिक स्कूल की पहली कक्षा को पढ़ाते थे और कालेज के विद्यार्थियों को भी। कार्यालय का काम भी करते थे और सफाई की देखभाल भी तथा भोजन का निरीक्षण भी। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी था।

रसीद साहब ने अपनी पुस्तक 'जाकिर साहब' में लिखा है "जामिया का प्रत्येक छोटा–बड़ा हर समय यह देखता था कि वह स्वयं क्या है और क्या कर रहा है और जाकिर साहब क्या हैं और क्या कर रहे हैं। सारा झगड़ा इस तराजू में तुलकर समाप्त हो जाता था। बौद्धिक दृष्टि से जो व्यक्ति अपने आपको बड़ा समझता जाकिर साहब की बौद्धिक योग्यता के सामने नतमस्तक हो जाता था। अपने त्याग–बलिदान का, नैतिक श्रेष्ठता का किसी को ख्याल आता तो वह समझ जाता कि उनकी श्रेष्ठताओं में भी तराजू का पलड़ा जाकिर साहब की ओर झुकता है। कुलीनता वंश की प्रतिष्ठा अथवा सामाजिक या सरकारी सम्बन्ध या पहुँच पर किसी को अभिमान होता तो वह जान जाता कि उनका सरदार खानदानी दृष्टि से भी खरा कंचन है, और इस रूप में भी अधिक श्रेष्ठ तथा दृढ़ एवं अधिक विशाल है। श्रम करने तथा कर्त्तव्य–पालन को देखता तो ज्ञात होता कि जाकिर जैसा कर्मठ, श्रमशील और अपने सुख–चैन का परित्याग करने वाला क्षेत्र में उनके समान अन्य कोई नहीं था। किसी को भी अपनी प्रतिभा, मेघाशक्ति का स्मरण आता तो वह देखता कि इस घाटी में भी अगुआ जाकिर साहब ही हैं। क्लर्क यह देखता कि जाकिर साहब उससे अधिक क्लर्की करते है। चपरासी यह समझता कि जाकिर साहब उससे अधिक दौड़ धूप करते हैं और छोटे से छोटा काम भी अपने हाथ से करने में सबसे आगे रहते हैं। बच्चा यह देखता कि जाकिर साहब जैसा कोई बच्चा नहीं। युवक यह अनुभव करता कि जाकिर साहब उससे अधिक युवा हैं और बूढ़ा यह देखता कि बुढ़ापा जाकिर साहब के निकट आने से डरता है तो

फिर वह बुढ़ापे को क्या समझे। इसके अतिरिक्त भी प्रत्येक व्यक्ति का यह विश्वास था कि वह दूसरों के लाभार्थ जान खपाते हैं। उसके दुख–दर्द और आदर–समृद्धि को अपना आदर और समृद्धि समझते है तो फिर कौन ऐसा होगा जो जाकिर साहब को छोड़कर अपनी अतरांत्मा की भर्तसना करता"[1] जाकिर साहब के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में इस प्रकार की टिप्पणी उनके विशामल बाह्य व्यक्तित्व पर कुछ प्रकाश डालती है यद्यपि वह इससे कहीं अधिक बढ़कर व्यक्तित्व के धनी थे।

डा. साहब के जीवन की सफलता का रहस्य सर्वप्रथम उनका व्यक्तित्व था दूसरे उनकी कार्यशैली रसीद सिद्दीकी ने एक स्थान पर लिखा है "जाकिर साहब की कार्यशैली का बड़ा सुन्दर पहलू यह है कि उन्होंने काम करने या काम लेने में पद की शक्ति का राजनीति के रूप में प्रयुक्त नही किया। उन्हें जितना विश्वास अपनी भलाई और दूसरे की अच्छाई पर है उतना पद पर नहीं। जीतने का इससे बड़ा हथियार अब तक अविष्कृत नहीं हो सका। इस हथियार का प्रयोग सरल नहीं जरा सी असावधानी या प्रभाद हुआ और व्यक्ति उसका स्वयं शिकार हो जाता है।"[2]

उन्होंने अपना दृष्टिकोण 'अच्छा अध्यापक' शीर्षक में अपने भाषणों जो 1936 में आकाशवाणी से प्रसारित किये गये थे कहा है –

"सच्चे अध्यापक के लिये यह आवश्यक है कि वह दूसरे मनुष्यों से प्रेम करता हो। उसके हृदय में मनुष्यों से मनुष्य के रूप में प्रेम हो। आप उन सच्चे शिक्षकों, अच्छे अध्यापकों पर दृष्टि डालिये तो उनमें बहुत से बड़े धार्मिक व्यक्ति दिखाई पड़ेगे। प्रेम और सौन्दर्य के प्रेमी कलाकार भी उनकी पंक्ति में मिलेंगे, लेकिन ये पंक्तियां उनकी मानसिक संरचना ये बेलबूटे है तानाबाना वही सेवा में रूचि तथा मानवता के प्रति प्रेमभाव है। "इस प्रकार के डा. साहब के व्यक्तित्व में प्रेम, सेवा, धार्मिकता, मानवता मूल आधार थे जो कि उनके उक्त विचार में व्यक्त किये गये है।

1. "जाकिर साहब की कहानी" लेखिका सैयदा खुर्शीद आलम पृष्ठ 24 पर संदर्भित प्रकाशक नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया
2. " " " " " पृ. 25 पर संदर्भित

अंग्रेजों द्वारा फैलाये गये साम्प्रदायिकता के जहर से दुखी जाकिर साहब के दयामय हृदय में इसकी तीव्र अनुभूति और पीड़ा थी। जामिया की रजत जयंती समारोह पर उन्होंने कहा है "आज देश में पारस्परिक वैमनस्य की जो आग भड़क रही है उसमें आग लगाने का काम पागलपन प्रतीत होता है। यह आग सज्जनता तथा मानवता की धरती को भस्म कर देती है इसमें पुण्यात्मा और संतुलित व्यक्तित्व के सुमन कैसे उत्पन्न होंगे" उनके इस कथन में साम्प्रदायिक सदभाव और मानवता के अति अटूट विश्वास उनके व्यक्तित्व की प्रमुखता को दर्शाता है।

बच्चों से प्रेम

जाकिर साहब को बच्चे बहुत पसंद थे वह दूसरे बच्चों को भी उतना ही प्यार करते जितना अपने बच्चों को। वे कहा करते थे कि "बच्चों की इज्जत करो। कौन जानता है इनमें से कौन बच्चा क्या बनेगा। न जाने इन बच्चों में कितने विद्वान, सूफी संत और कितने बड़े आदमी छुपे हुये है। जाकिर हुसैन अपने पास बच्चों की पसंद चीजे पेन्सिल, कागज, चाक, टाफी आदि रखते थे बच्चे जब उनके पास जाते तो दे देते। डा. साहब ने बच्चों के लिये बहुत सी कहानियां लिखी उनके द्वारा लिखा गया बाल–साहित्य बहुत उपयोगी है। उनका एक उल्लेखनीय लेख "नन्हा मदरसे चला" महत्वपूर्ण है। इसमें शिक्षक को जताया है कि आप कक्षाओं को भेड़ो का गल्ला न समझे। आप इस पर नजर नहीं रखेंगे तो सहारे की जगह वहाँ धक्का लगेगा। अगर बच्चे का सम्मान आदर आपके नजदीक सही होगा। तो आप अपने बच्चों की मानसिक कठिनाइयों को समझ सकेंगे और समाधान सोच लेंगे। बच्चों के माता पिता से कहा कि आप बच्चे को सहारा दीजिये उनके रास्ते से कांटे हटा दीजिये। बच्चा सम्पत्ति नहीं वह प्रकृति की देन हैं। उस पर प्रकृति अधिकार अपने अधिकार से ज्यादा है। डा. साहब बच्चों के साथ बच्चा बन जाते। बच्चों के समारोह में बच्चों को ही अध्यक्ष बनाते और उनमें आत्मविश्वास पैदा करते।

डा. साहब की बाह्य प्रकृति में उनकी कुछ रूचियां निम्न प्रकार रही है –

चित्रों और हस्तलेखों से लगाव

जाकिर साहब को अच्छे चित्रकारों के चित्र खरीदने का बड़ा शौक था। उन्हें चित्रकला का पूरा ज्ञान था। चित्र विशेष के इतिहास एवं पृष्ठभूमि की जानकारी रखते थे। चित्रकार के जीवन की भी जानकारी लेते। उनके ड्राइंगरूम में चित्रकला के दुर्लभ नमूने नजर आते थे। चित्रों के साथ जाकिर साहब को प्रसिद्ध सुलेख के नमूने नये और पुराने अभिलेख इकट्ठा करने का शौक था।

पत्थर

जाकिर साहब को पत्थर जमा करने का शौक था। देश विदेश जहाँ भी जाते पत्थरों की तलाश करते। उन्हें उपहार में पत्थर भेंट होने लगे थे। बागवानी का जाकिर साहब को बहुत शौक था। पौधों, पेड़ों और फूलों, बीजों के सम्बन्ध में बहुत जानकारी थी।

बागवानी

गुलाब के फूलों से उन्हें अगाध प्रेम था। जाकिर साहब ने पश्चिमी जर्मनी से एक अजीबोगरीब गुलाब मंगवाकर लगवाया था। उनके शौक को देखकर गुलाब विशेषज्ञों ने एक नये सुन्दर किस्म के गुलाब का नाम 'जाकिर हुसैन' रखा है।

अलीगढ़ में बोगनवेलिया के प्रचलन में जाकिर साहब के समय में जोर पकड़ा। उनके नाम पर एक बोगनवेलिया का नाम "जाकिरयाना" रखा गया। जामिया में जाकिर साहब ने बहुत बड़ी संख्या में बोगनवेलिया लगवाये।

आम - जाकिर साहब को आम बेहद पसंद थे आम की किस्में और बाग की देखभाल के सम्बन्ध में उन्हें बहुत ज्ञान था।

दावतें - जाकिर साहब को दावतें देने का बहुत शौक था। उनकी पत्नी शाहजहां बेगम दावतों का खाना स्वयं पकाती। उन्हें तरह–तरह के खाने पसंद थे

विशेषकर कबाव, मछली आदि। पर विशेषता यह भी थी कि बहुत साधारण खाना भी वह मजे से खाते।

शेरोशायरी व साहित्य - उनके प्रिय विषय थे। उर्दू, फारसी, अंग्रेजी तथा जर्मन उनकी प्रिय भाषायें थी। फारसी शायरी उन्हें बहुत पसंद थी। जाकिर साहब की लिखी हुई बहुत सी कहानियां तथा लेख मिलते हैं। अनुवाद भी उन्होंने किये। जाकिर साहब स्वयं भी कविता लिखते थे।

उनका उन्नत मस्तक, संवेदनशील और अभिजात्य को प्रकट करने वाली नासिका तथा अच्छी प्रकार छंटी हुई दाढ़ी जिसमें कोई–कोई सफेद बाल भी थे अच्छा कद और आकर्षक डीलडाल, उनकी सादगी, अच्छे शौक और सुघरपन मिसाल रही है। जब वह आर्थिक तंगी में थे तब भी हमेशा साफ–सुथरे कपड़े पहनते।

उनकी विनम्रता और शालीनता में विशेष आकर्षण था। हर व्यक्ति उनके निकट खिंचा चला आता आम आदमी से वह बड़ी आत्मीयता और अपनेपन से मिलते थे। उप राष्ट्रपति और राष्ट्रपति होने के बाद भी उनकी विनम्रता और शालीनता उसी तरह बनी रही। कार्यक्रम या उत्सव में वह स्वयं आगे बढ़कर सबसे मिलते कुशल समाचार पूंछते। शालीनता व विनम्रता उनके चरित्र की विशेषता थी उनसे मिलने वाले को कभी यह अहसास नहीं होता था कि वह किसी बड़े आदमी से मिल रहे है।

सर्वधर्मसमभाव

वह सच्चे धार्मिक व्यक्ति थे। उन्होंने दुनियादारी में पड़कर धर्म को कभी नहीं छोड़ा। कुरआन शरीफ वह बहुत पढ़ते थे। खुदा पर उन्हें पूरा भरोसा था। दुनियादारी की सारी जिम्मेदारियां निभाते हुये हजरत अमीर खुसरो की तरह अपनी रातें उस प्रभुसत्ता (माबूद हकीकी) की बन्दगी में गुजार देते। किसी को इस बात का अनुमान भी नहीं हो सकता था कि इतने उच्च पदों को अलंकृत करने वाला आदमी आध्यापिकता में भी इतना ऊँचा है।

दया, सहानुभूति और सेवा उनके जीवन के अभिन्न अंग थे। जाकिर साहब

इस बात से बहुत डरते थे कि उनसे किसी को दुख पहुँचे। जानवरों और पक्षियों का भी वह बहुत ख्याल रखते थे। विद्यार्थियों को कभी इस तरह नही समझाते कि उनका दिल दुखे।

बच्चों का सम्मान उनके चरित्र में सर्वोपरि था। दरियागंज के यतीमखाना का नाम बदलकर उन्होंने "बच्चों का घर" रखा था। उनका मानना था इसमें बच्चे अपनापन का अहसास करेंगे। उन्होंने शिक्षक को सदा महान माना और सम्मान दिया। जाकिर साहब जैसा व्यक्ति शताब्दियों में ही पैदा होता है।

हजारो साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोता है।

बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा।।

सूक्ष्य में उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कहा जा सकता है –

कि डा. जाकिर हुसैन प्रभुत्व जमाने की भावना से घृणा करते थे। वे किसी बात को आदेश के रूप में नहीं कहते थे। किसी व्यक्ति से गलती होने पर वे उसके विरूद्ध तत्काल कार्यवाही नही करते परन्तु फिर भी उसमें सुधार की आशा करते है। व्यक्तियों के विचारों तथा परिस्थितियों के प्रति स्वस्थ्य प्रतिक्रिया की आशा के पीछे उनका आत्म शिक्षा का सिद्धान्त रहता है।

वो सदैव ऐसे व्यक्तियों की खोज में रहते थे जो उत्कृष्टता प्राप्त करने में इच्छुक हो जिनमें आत्मसुधार की तीव्र लालसा हो।

समस्त कार्य वह अपनी देखरेख से करवाते प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म बात की पहले से योजना बना लेते परन्तु कार्य समाप्त होने तक उनके मन में भय और संदेह बना रहता इसी कारण वह अपनी जिम्मेदारी किसी अन्य पर छोड़ने को तैयार नही होते थे। उन्हें संशय रहता कि कही वे असावधानी न कर दे।

वक्ता

उन्हें विचारों को सुन्दरतम ढंग से अभिव्यक्त करने की कला में असाधारण प्रवीणता थी। उनका कोई भी भाषण निम्न स्तर का उबाने वाला नहीं होता। उनकी उर्दू

और अंग्रेजी भाषा पर अधिकारिक योग्यता थी। हिन्दी ज्ञान में भी उनकी कुशलता थी।

उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर और हर परिस्थिति का सामना करने में समर्थ थी। अच्छा काम करने वालों के बीच में डा. साहब एक आदर्श नेता सिद्ध होते। डा. साहब में अपार धैर्य था जिसकी जड़े उनकी प्रकृति में इतनी दृढ़ और गहरी थी कि निराशा से कभी अधीर नही होते थे। अपनी व्यक्तित्व की शक्ति से कभी किसी भी परिस्थिति की चुनौती का सामना करने को तैयार रहते। मानसिक निष्क्रयता, स्वाभाविक तथा सुचिन्तित स्वार्थपरता, जिद या अभद्र व्यवहार से उन्हें पराजित नहीं किया जा सकता था। उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता यह रही कि वे दूसरों की भावनाओं को चोट पहुँचाने से घबराते थे और यही उनका सबसे बड़ा सराहनीय गुण है। उनकी बौद्धिक श्रेष्ठता भी अजेय थी।

डा. साहब की व्यक्तित्व की जड़े मुस्लिम संतों और कवियों के आध्यात्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तों और साहित्य में है विशेषतः जलालुद्दीन (रूमी) के ज्ञान सौरभ में। वे नियमतः प्रतिदिन कुरान भी पढ़ते थे जो शिक्षित मुसलमानों में बहुत कम पाया जाता है।

डा. जाकिर हुसैन का राष्ट्रवाद

गाँधी जी के राष्ट्रवाद के समान है जो कि सर्वोच्च नैतिक मूल्यों के प्रति उनकी निष्ठा का प्रतिबिम्ब है। मूलतः नैतिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति होने के कारण राष्ट्रवाद व्यक्ति के लिये उस स्वतन्त्रता की मांग करता है जो लोकतन्त्र का सार है।

1941 में दूसरी बुनियादी तालीमी कान्फ्रेस में उन्होंने कहा था "खुदा के लिये इस मुल्क की सियासत को सुधारिये और जल्द से जल्द सियासत की बुनियाद डालिये, जिसमें कौम कौम पर भरोसा कर सके, कमजोर को बराबर का डर न हो, गरीब अमीर से बचा रहे जहाँ हर एक वह बन सके जिसके बनने की उसमें योग्यता है। मैं जानता हूँ कि इन बातों का कह देना सरल है और करना किसी एक आदमी की

बस की बात नहीं। हमारी यह मुश्किल दूर कीजिये अब भी बहुत देर हो चुकी है और देर न जाने क्या दिन दिखाये।''

उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में अपना जीवन अर्पित किया। उनके विचार में राष्ट्र का उत्थान शिक्षा और संस्कृति में नया दृष्टिकोण अपनाने और राष्ट्रीय चेतना को नया स्वरूप देने से ही संभव है। स्वतन्त्रता के पहले स्वतन्त्रता के बाद भी डा. साहब ऐसी शिक्षा प्रणाली तैयार करने के लिये काम करते रहे जो राष्ट्र के विकास में सहायक हो।

धार्मिक सहिष्णुता और प्रजातन्त्र

मैं उनका अटूट विश्वास था। काशी विद्यापीठ में दिये गये भाषण में उन्होंने कहा था – ''जब जात–पात, मजहब, जुबानों के फार्क से हमारा देश टुकड़े–टुकड़े नजर आता है। जिस मुल्क में स्टेशनों पर मुसलमान पानी हिन्दू दूध मिलता है, जहाँ एक का सच दूसरे का झूठ है – इस मुल्क में नौजवानों से ऐसे मिलकर काम करने की आस जरा मुश्किल हैं मगर दिल यही गवाही देता है कि थोड़े दिन और धक्के खाने के बाद इस मुल्क के नौजवान जवान मुल्क की सेवा के लिये एक दिल हो जावेंगे।''

डा. साहब राजनीतिक जोड़–तोड़ के आदमी नही थे। उन्होंने अपनी उम्र का बड़ा और बेहतरीन हिस्सा तालीम की खिदमत में खपाया। उन्हें अपनी शराफत, नेकी और दिल मोह लेने वाले ढंग से विरोधियों को वश में करने, दुश्मन को दोस्त बनाने और दोस्तों की दोस्ती को बनाये रखने का गुर खूब आता था। मुल्कों से हमारे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बाकी न रहे। इसका श्रेष्ठ जबाव जाकिर साहब की कामयाबी है। उनकी सबसे बड़ी कमजोरी मुरव्वत थी। एक दर्दमन्द दिल रखते थे जो समाज की खराबियों और वेइन्साफियों पर बहुत जल्द भर आता था। उन्होंने कभी भी आत्म प्रचार पर ध्यान नहीं दिया। उनमें सुविचारिता, सौजन्य सह्रदयता एवं उच्च व्यक्तित्व सन्निहित है। सादगी सच्चाई, गौरव व मूल मानवीय गुणों से युक्त होने के नाते वे महानों की श्रेणी में आते है।

वे सदा बेपरवाह रहे। हर नियम का पालन करने से आजाद, न भोजन का समय ठीक न सोने का समय का कोई हिसाब नहीं। काम में लगे रहे तो घण्टो लगे रहे न दिन को दिन समझा और न रात को रात। खाना पीना आराम सब त्याग दिया। यदि एक ओर व्यस्तता में सारे दिन खाने का ध्यान आता तो दूसरी ओर लिहाज में एक समय में दो जगह दावत स्वीकार कर लेते और दूसरों की खुशी पूरी हो जाती।

डा. साहब तबीयत में बहुत सफाई पसंद थे। चाहे घर की शरीर की सफाई हो चाहे दिल की, तन और मन दोनों की सफाई मानते थे।

जाकिर साहब को अच्छे और स्वादिष्ट भोजन का बड़ा शौक रहा है। उन्हें परहेज बर्दाश्त नहीं था। अक्सर बीमारी में उनसे बदपरहेजी हो जाया करती थी।

डा. जाकिर हुसैन के व्यक्तित्व में एक फूल की सी दमक व महक है। फूलों से उन्हें जो अनुराग, बागवानी में रूचि उसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर पड़ा था। उनका जीवन इस्लामी संस्कृति और प्राचीन भारतीय संस्कृति के सर्वोत्तम तत्वों का मिश्रण है। जीवन के प्रति उनमें एक प्रकार का आध्यात्मिक विराग है परन्तु साथ ही मानव की भौतिक उन्नति में उनकी अगाध निष्ठा है। उनमें एक विद्वान की विनम्रता, जिज्ञासा और तर्कशक्ति थी और अपने विचार स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने का उनका अपना ढंग था। उनका जीवन सर्वोत्कृष्टता की खोज का प्रयास रहा है।

व्यक्तित्व उन शारीरिक तथा नैतिक मूल्यों का समन्वित रूप है जिसकी बदौलत कोई व्यक्ति आम लोगों से ऊपर उठ जाता और उन पर छा जाता है। कभी–कभी हम व्यक्तित्व के स्वामी यानी उस इन्सान को भी व्यक्तित्व कह देते है जो असाधारण शारीरिक तथा नैतिक खूबियां रखता हो। अकबर ने कहा है – 'मर्द वो जो जमाने को बदल देते है।' और इकबाल ने तो 'व्यक्तित्व को खुदाई की सीमा के करीब पहुँचा दिया है।'

राष्ट्रपति की कड़ी में एक साधु और दूसरा दार्शनिक के बाद एक सीधा सादा खुशमिजाज शिक्षाविद और जुड़ा। सफेद रशिमन–कट दाढ़ी, स्वेतकेश, काली

टोपी, सफेद अलीगढ़ी चूड़ीदार पाजामा, काली शेरवानी, हरा चश्मा में सजाधजा गुलाबी रंग का व्यक्ति इस देश का अल्पसंख्यक होते हुये भी सबसे बड़ा शासक बना। लिवास के मामले जाकिर साहब निहायत नफासत पसंद थे। तंगी के जमाने में भी हमेशा इन्होंने इसका ख्याल रखा। उनका लिवास हमेशा खद्दर का रहा लेकिन साफ सुथरा। कभी भी न देखा गया कि अचकन में कहीं झोल हो या टोपी छोटी बड़ी हो। महान आत्माओं पर धर्म, जाति, देश और संकीर्णताओं का पहरा नहीं होता। उन्होंने हिन्दी और उर्दू को भारतीय जनमानस की गंगा जमुना मानी। वे हिन्दी के अच्छे ज्ञाता थे। कह सकते है कि साहित्य, संगीत और कला के सच्चे प्रेमी पारखी और कद्दा थे। राज्यपाल रहते हुये आप एक बार प्रसिद्ध तीर्थ वैद्यनाथ धाम गये। वहीं रामकृष्ण आश्रम में स्वामी विवेकानन्द और उनके जीवन दर्शन का इतना सुन्दर विवेचन किया कि श्रोता दंग रह गये। उसमें वेद, उपनिषद, अवतार और अध्यात्म कोई विषय भी छूटा नहीं था। आदि धर्म–निरपेक्ष वैदिक संस्कृति के 'ब्राह्मण' का सही रूप खोजना हो तो वह हमें जाकिर साहब में पूरा–पूरा मिलेगा। गाँधी जी कहा करते थे कि "मैं अच्छा हिन्दू हूँ इसलिये अच्छा मुसलमान और अच्छा ईसाई भी हूँ।" जाकिर साहब का सबसे बड़ा गुण उनकी विनम्रता है।

जाकिर साहब के व्यक्तित्व में इन्साफ और खुशहाली का अपना स्थान है, जहाँ रंग और जाति–धर्म का भेद नही है। जहाँ क्षेत्र और भाषा का कोई प्रश्न नही है। जहाँ निष्ठा, प्रेम, त्याग, सेवा और सच्चाई का प्रकाश है। चरित्र के गठन द्वारा व्यक्तित्व के विकास और महान उद्देश्यों की पूर्ति हेतु जाकिर हुसैन साहब अपने पथ पर अत्यन्त निष्ठा विश्वास और सोभनस्य के साथ आगे बढ़े। उन्होंने घर और परिवार को सम्पूर्ण जीवन की शिक्षा का आधार माना है। इसी शिक्षा पर व्यक्ति का व्यक्तित्व और देश का विकास सम्भव है। जाकिर साहब के साथ यह महत्वपूर्ण विशेषता और जुड़ी हुई है कि वे अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के होकर भी आज बहुसंख्यकों के पूज्य है। वे सही मानों में भारतीय है। एक लेख में भी योगराम थानी ने जाकिर साहब के लिये कहा है "भारत

के राष्ट्रपति जाकिर हुसैन (मैं उन्हें ऋषि जाकिर हुसैन ही कहना ज्यादा पसंद करूँगा)। सही अर्थों में राष्ट्र भक्त है। वे पहले भारतीय है और बाद में कुछ और यानी वे पहले ऋषि है बाद में जाकिर हुसैन।"(1)

शिक्षक

डा. जाकिर हुसैन में एक विचारक की कल्पना है, एक शिक्षक की विशेषता है, एक प्रेमी का दर्द है, एक राजनैतिक का गौरव है, एक सूफी की शान है, और एक महात्मा की निर्दोषिता है उनके लिये शिक्षा सिर्फ ज्ञान–विज्ञान का संग्रह मात्र नहीं बल्कि मानवता के श्रेष्ठ मूल्यों की सेवा का साधन भी है।

डा. साहब एक उच्चकोटि के राजनैतिक दार्शनिक थे। उनका राजनीतिक दर्शन आदर्शवार व यथार्थता का समन्वय प्रस्तुत करता है। एक ओर प्लेटो की तरह दार्शनिक है तो दूसरी ओर अरस्तू तथा कौटिल्य की भांति व्यावहारिक। एक ओर गांधी जी की भांति आदर्शवादी है तो दूसरी ओर वेन्थम व जान स्टुअर्ट की भांति उपयोगितावादी भी। आपके दर्शन में अर्थशास्त्र, धर्म, संस्कृति का सुन्दर सम्मिश्रण है।

सत्य-अहिंसा

इस प्रकार से डा. साहब में गाँधी जी की सत्य एवं अहिंसा पर आस्था और उसी कर्तव्य पालन–कमजोर गरीब पर उनका दयामयभाव व आचरण तथा अपने कर्त्तव्य के प्रति निर्भीक आचरण सभी धर्मों के प्रति सम्मान की भावना और सभी धर्मों में एकरूपता की मान्यता थी। इसी भावनात्मक एकता को लेकर उन्हें अपने देश के प्रति अटूट प्रेम था और इसके विपरीत वह कुछ भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उन्होंने इस क्षेत्र में अपने विस्मत्र विचार व्यक्त किये है।

जाकिर साहब एक अच्छे शिक्षक, राजनेता और समाजसेवी थे। लेखक के रूप में उनका अभूतपूर्व योगदान है। उन्होंने अनेकों लेख लिखे कई किताबें लिखीं।

---

1. "डा. जाकिर हुसैन" – व्यक्तित्व और विचार "पुस्तक में प्रकाशित लेख "ऋषि जाकिर हुसैन" लेखक योगराम थानी – पृष्ठ 110 – चिन्मय प्रकाशन

उनके अनेक भाषण भी प्रकाशित हुये है।

अनुवादक के रूप में भी डाक्टर साहब का उल्लेखनीय योगदान है। प्लेटो के 'रिपब्लिक' का अनुवाद उन्होंने 'रियासत' के नाम से उर्दू में किया था। इस अनुवाद के सम्बन्ध में जाकिर साहब के साथी मौलाना सुहेल ने कहा था "अफलातून को उर्दू आती तो वह यही जबान अख्तयार (प्रयोग) करता। उनकी विलक्षणता यह कि उन्होंने यह अनुवाद अपने विद्यार्थी जीवन में ही शुरू कर दिया था। रियासत को पहले अंजुमन तरक्की उर्दू ने प्रकाशित किया। इसके बाद साहित्य अकादमी ने 1967 में छापा। 1971 में रियासत का हिन्दी अनुवाद एस. ई. एस. प्रकाशन फव्वारा दिल्ली से किया गया। जाकिर साहब ने एडबिन कैनिन की किताब 'एलिमेन्ट्री पोलीटिकल इकनामी' का अनुवाद 'मवादी माशियात' के नाम से किया जो प्रकाशित भी हुआ। 'माशियात मकसद और मिनहाज' पुस्तक मार्च 1932 के लेक्चर्स हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद से प्रकाशित हुई।

जर्मनी में जाकिर साहब ने महात्मा गाँधी पर एक किताब लिखी जो 1924 में प्रकाशित हुई। 'माशियात मकसद और मिनहाज' मार्च 1932 में प्रकाशित हुई। 'केप्टलिज्म ऐस्सेंज इन अन्डर स्टेडिंग' लेक्चर्स दिल्ली विश्वविद्यालय में 1944 में दिये जो एशिया पब्लिशिंग बाम्बे से 1967 में प्रकाशित हुये। प्राथमिक राष्ट्रीय शिक्षा वर्धा कमेटी की रिपोर्ट आल इण्डिया एजूकेशन बोर्ड 1938 में प्रकाशित हुई। एजूकेशनल रि–कन्ट्रक्सन इन इण्डिया (हिन्दुस्तान की तालीम–अज–सेर नो तंजीम) पटेल मेमोरियल लेक्चर्स प्रकाशन विभाग ने 1959 में प्रकाशित किये। उर्दू में उसका अनुवाद डा. सैयद आबिद हुसैन ने किया। 'एथिक्स एण्ड दी स्टेट' मावलंकर मेमोरियल लेक्चर्स 1960 में प्रकाशित हुआ। "हाली मुहब्बते वतन (राष्ट्रप्रेमी) (पम्पलेट) उर्दू किताब घर देहली से 1943 में प्रकाशित हुआ। 'जिक्रे हुसैन' (पम्पलेट) पुस्तक रूप में इमानिया मिशन लखनऊ ने प्रकाशित किया। "तालीमी खुत्वात मक्तवा जामिया", नई दिल्ली से 1943 में प्रकाशित हुये।" जामिया क्या है", पम्पलेट 1946 में प्रकाशित हुआ। माशियात–ए–कौमी

फौडरिटलिस्ट की किताब 'नेशनल इकानामी' का अनुवाद 1946 में प्रकाशित हुआ। 'अब्बू खाँ की बकरी और चौदह कहानियां मक्तवा जामिया नई दिल्ली 1963 में प्रकाशित हुआ।

डा. साहब के बहुत से लेखों का भी उल्लेख मिलता है जो समय–समय पर विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में छपते रहे हैं। अधिकांश लेख अर्थशास्त्र से सम्बन्धित है। शिक्षा से सम्बन्धित बहुत से लेख जामिया मिलिया इस्लामिया की पत्रिका "जामिया" और दूसरी पत्रिकाओं में भी छपे है। साहित्य और संस्कृति से जाकिर साहब का गहरा सम्बन्ध था। उनके लेखों में तालीम और आजादी–ए–फिक्र, खालिदा अदीब खानम से इन्टरव्यू चीन में उच्च राष्ट्रीय शिक्षा और जामिया मिलिया इस्लामिया, आर्थिक सम्मेलन, रूस और पूंजीवादी देश आर्थिक सम्मेलन, आस्ट्रेलिया, जापान, यूरोप और ओनवाली जंग, जर्मनी, इटली, इग्लिस्तान एक अहम तकरीर अमीरी का, रूस और जापान वर्तानवी तिजारत में तब्दीली कांग्रेसी विजारतें, हकीम साहब, डा. अंसारी, हुसैन और इंसानियत, हिन्द की मुश्तरक जुबान उर्दू, सऊदी अरबिया, शख्सियत की तामीर, अलीगढ़ 1903 के बाद, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद बहादुर शाह जफर सीरत की तामीर, दिल के खून से लिखी गई तहरीरें आदि है।

डा. साहब के पास एक लेखक का हृदय था। यदि बड़े–बड़े पद उन्हें घेरे न रहते तो हमारे सामने उनका लिखा बहुत–सा साहित्य आता। व्यस्त रहते हुये भी जो कुछ डा. साहब ने लिखा वह अपने आपमें अमूल्य है और उनके व्यक्तित्व पर पूरी तरह प्रकाश डालता है। उनका लेखन देश की महान सम्पत्ति है।

भाषण

जाकिर साहब ने समय–समय पर बहुत से भाषण दिये है। उनके भाषण सूचना और प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग से प्रकाशित किये गये है। कुछ भाषण निम्न प्रकार है –

14 अगस्त सन 1935 को काशी विद्यापीठ के दीक्षांत समारोह में डा. जाकिर

हुसैन ने कौमी तालीम पर भाषण दिया था। उनका मकसद था कि राष्ट्रीय विद्यालय की स्थिति हमारी क़ौमी जिन्दगी के लिये शायद सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना स्वीकार की जावेगी।

10 मार्च 1934 को डा. जाकिर हुसैन की आल इण्डिया रेडियों में प्रसारित वार्ता जिसमें उन्होंने बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में कहा है। उनके विचार से बच्चों को तुच्छ और नीचे दर्जे का न समझना चाहिये। बच्चों पर अपना बड़प्पन जताना उचित नही है। उसे हेय दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। बच्चे को बचपन में अपमानित और करके बुजुर्ग उसकी सारी जिन्दगी को कड़वा बना देते है।

इसी विषय पर 8 अप्रैल 1936 को डा. साहब की वार्ता आल इण्डिया पर प्रसारित हुई इसमें भय दिखाकर बच्चों को नहीं समझाना चाहिये।

बच्चों की शिक्षा विषय पर पुनः 26 अप्रैल 1936 को डा. साहब की वार्ता प्रसारित हुई। वह चाहते है कि पाठशाला में अच्छे अध्यापक पहुँचे।

अच्छा अध्यापक के सम्बन्ध में 15 मई 1936 को जाकिर साहब की आल इण्डिया रेडियो में प्रसारित वार्ता में उन्होंने कहा कि अच्छे अध्यापक की सबसे प्रथम और सबसे बड़ी पहचान यही है कि उसके मन का सम्मान आप ही आप बच्चों और नवयुवकों के बनते हुये व्यक्तित्व की ओर होता है। इन्हीं में रहकर उसे शांति मिलती है, इसके बिना संसार में परदेशी की भांति भटकता है।

1939 में डा. जाकिर हुसैन ने राजकीय तिब्बिया कालेज पटना में अपना दीक्षांत भाषण दिया उसमें उनका मुख्य संदेश था कि शिक्षा केन्द्रों को हरदम यह याद रखना चाहिये कि तिब्ब एक 'फन' है विद्या पर आधारित।

बुनियादी शिक्षा सम्मेलन के अवसर पर जामिया नगर में 11 अप्रैल 1946 को डा. साहब के भाषण में उनका मन्तव्य था कि शिक्षा का कार्य वही कार्य हो सकता है जो किसी ऐसे मूल्य की सेवा करें जो हमारे स्वार्थ से दूर हो और जिसे हम मानते है।

उनका वक्तव्य 'नन्हा मदरसे चला' आल इण्डिया रेडियो में दिनांक 31 मई 1942 में प्रसारित हुआ। इस विषय पर उनका आशय कि बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के समय बच्चों के अभिभावक और उनके अध्यापक किसी तरह अपने को इस बुनियादी सख्त विचारधारा से मुक्त करे और बच्चों का आदमी का अगुआ समझें।

बुनियादी (बेसिक शिक्षा)

इफ्तदाई तालीम के सम्बन्ध में डा. जाकिर हुसैन 24 फरवरी 1946 को न्यू एजूकेशनल फेलोशिप के लाहौर सम्मेलन में भाषण दिया। उनका आशय था कि अपनी बुनियादी पाठशालाओं में अर्थात अपनी कौमी तालीम के सबसे आवश्यक भाग में यदि हमें कुछ करना है तो बस करने की वस्तु यही है कि इन पाठशालाओं को सूचनात्मक शिक्षा केन्द्रों के स्थान पर अनुभवी शिक्षा की पाठशालायें बनाई जाये। पुस्तकों की पाठशाला के स्थान पर प्रायोगिक पाठशाला बनानी चाहिये। व्यक्तिगत स्वार्थ के स्थान पर निःस्वार्थ सामाजिक सेवा के शैक्षणिक केन्द्र बनाने चाहिये।

भारत में शिक्षा का पुर्ननिर्माण विषय पर नई दिल्ली में 12 दिसम्बर 1958 को सरदार पटेल स्मारक व्याख्यान के अन्तर्गत जाकिर साहब ने भाषण में विचार व्यक्त किया कि शिक्षा वास्तव में व्यक्तित्व गढ़ने वाला कोई चाप-यन्त्र नहीं है, बल्कि स्वच्छन्द तथा उन्मुक्त करने वाली वह क्रिया है जिससे शिक्षार्थी के निजी विशिष्ट व्यक्तित्व को मान्यता मिलती है। शिक्षा सम्बन्धी कोई ऐसी विचारधारा प्रस्तुत हो जो धर्मनिरपेक्ष सामाजिक लोकतन्त्र में शिक्षा के पुर्ननिर्माण का आधार बन सके।

भारत में शिक्षा का पुर्ननिर्माण विषय पर उनका दूसरा भाषण 13 दिसम्बर 1958 को नई दिल्ली में सरदार पटेल स्मारक व्याख्यान माला के अन्तर्गत दिया गया। उनका मानना है कि सच्ची शिक्षा वास्तव में स्वशिक्षा है। शैक्षिक चिन्तन और व्यवहार में स्वक्रिया का सिद्धान्त अभिन्न अंग है। बच्चे की रचनात्मक तथा स्व क्रियात्मक प्रवृत्तियों का पालन-पोषण पूर्व उपलब्धियों तथा उदाहरणों से प्राप्त, अनुशासन तथा शिष्टता के पालन पोषण के साथ-साथ चलता है।

भारत में शिक्षा का पुर्ननिर्माण विषय पर 14 दिसम्बर 1958 को पटेल स्मारक व्याख्यानों के अन्तर्गत जाकिर साहब के अपने भाषण में विचार से। राष्ट्र के लिये अनिवार्य हो गया है कि वह प्रत्येक नागरिक को शिक्षा दे और हर नागरिक के लिये अनिवार्य होगा कि वह शिक्षा ग्रहण करें।

10 मई 1965 को गुलाबपुरा स्थित रजत जयंती समारोह के अवसर पर अच्छा अध्यापक विषय पर डा. साहब द्वारा दिये गये भाषण में उन्होंने विचार दिया कि आप विद्यालय को अच्छे जीवन का नमूना दीजिये अपने जीवन को अच्छा बनाइये, अपने व्यवहार को ठीक करे। साथ में जो छोटा समाज अपने विद्यालय में बन रहा है जिससे हमारी आगे की बहुत सी उम्मीदें है वह अच्छा समाज बन सके, आगे की उम्मीद से ही है।

गुजरात विद्यापीठ में डा. साहब का दीक्षांत भाषण 'असली शिक्षा' पर आधारित था। उनके अनुसार शिक्षा के लिये समाज के अच्छों, सच्चों, नेकों, बड़ो का जीवन–चरित्र जैसा काम करता है और कोई नहीं करती (हमेशा अच्छाई की तलाश में चाहे कहीं से मिले, दूसरों की नेकियां और अच्छाइयां ढूँढ़–ढूँढ़कर निकालने से, उनकी बुराइयां और कमजोरियों को दरगुजर करके अपनी कमजोरियों पर कड़ी पकड़ करके अपने जीवन को नेकियों से भर दे।

राष्ट्रपति के शपथ ग्रहण समारोह के समय 13 मई 1967 को दिये गये भाषण में उन्होंने राष्ट्र के प्रति हमारा दायत्व पर अपनी भावनाओं को उद्धत करते हुये कहा है कि मैं अपने अतीत की समग्र संस्कृति के प्रति, चाहे वह जिस–जिस स्रोत से प्राप्त हुई हो, चाहे उसके निर्माण में जिस किसी ने भी योगदान किया हो अपनी निष्ठा व्यक्त करता हूँ। मैं अपने देश की सम्पूर्ण संस्कृति की सेवा का व्रत लेता हूँ। मैं अपने देश के प्रति अपनी वफादारी व्यक्त करता हूँ। क्षेत्र व भाषा चाहें जो मैं उसे सशक्त और उन्नत बनाने और बिना जाति, रंग और धर्म–भेद के अपने लोगों की भलाई के लिये कार्य करने का व्रत लेता हूँ। सारा भारत मेरा घर है और उसके लोग मेरा परिवार है

.... मैं सच्ची लगन से इस घर को मजबूत और सुन्दर बनाने की कोशिश करूँगा ताकि वह मेरे महान देशवासियों का उपयुक्त घर है। जो कि एक सुन्दर जीवन के निर्माण के प्रेरणापूर्ण कार्य में लगे हुये है।''

संगीत–नाटक अकादमी में 22 फरवरी 1967 को डा. जाकिर हुसैन ने अपने विचार रखते हुये कहा था कि 'प्रतिभाशाली व्यक्तियों की कलात्मक प्रतिभा का समाज बहुत बड़ा ऋणी होता है। क्योंकि किसी सभ्यता की परख कला और संस्कृति से ही होती है। संगीत, नृत्य एवं नाटक के अलावा राष्ट्रीय एकता लाने का कोई बेहतर साधन नही है। ये कलायें ऐसी हैं कि इनकी सहायता के लोग समीप आयें और उनमें सदभाव बढ़े।

26 जनवरी 1968 को उत्कल विश्वविद्यालय में छात्र असंतोष पर अपने भाषण में कहा है कि 'छात्रों को यथेष्ट सुविधायें और पथ प्रदर्शन नहीं मिल रहा है। छात्रों और अध्यापकों के बीच की खाई निरंतर बढ़ रही है। छात्र असंतोष स्वयं एक बीमारी नही है किन्तु एक बीमारी का लक्षण है जो शिक्षा को जीवन की वास्तविकताओं, राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन से अलग रखने के कारण उत्पन्न हुई है।

गणतन्त्र दिवस 1968 को डा. साहब ने राष्ट्रपति संदेश में देशवासियों से हिंसा और अनुशासन–हीनता त्यागने पर बल दिया है।

स्वतंत्रता दिवस 1968 पर जाकिर साहब ने अपने संदेश में कहा है कि देश का भविष्य जनसहयोग पर निर्भर है। उनके अनुसार ''हम जिस अन्दाज से राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं, वह प्रयास एक अनोखे ढंग का है। अलग–अलग भाषाओं जुदा–जुदा मजहबों और भिन्न–भिन्न संस्कृतियों से हम एक सुन्दर, मधुर और शानदार संस्कृति को जिसमें भारतीय तहजीब की नुमाइयां झलक हो, व्यावहारिक रूप देना चाहते है।''

1 अक्टूबर 1968 को गाँधी शताब्दी समारोह पर राष्ट्रपति के संदेश में जाकिर साहब ने कहा कि गाँधी जी एक दीप्तिमान नेता थे। ''हमारी शताब्दी का यह

सौभाग्य होगा कि हम गाँधी जी की शिक्षाओं पर ध्यान देकर न्याय, समानता तथा कल्याण पर आधारित नई तथा अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक दिशा में आगे बढ़े।"

13 अक्टूबर 1968 को नागरिक अभिनन्दन समारोह में काठमांडू में राष्ट्रपति भाषण में जाकिर साहब ने आपसी सहयोग पर बल देते हुये अपने विचार व्यक्त किये है। इरान के शहशांह के स्वागत में 2 जनवरी 1969 को राष्ट्रपति डा. जाकिर हुसैन ने अपने भाषण में कहा है कि "जो अनेक राष्ट्र और जातियां हमारे सम्पर्क में आई है और जिन्होंने हमारे जीवन और संस्कृति को प्रमाणित किया है, उसमें सबसे प्राचीन और स्थायी इरानी ही रहे है।

10 जनवरी 1969 को ताशकंद घोषणा की वर्षगांठ पर स्व. लाल बहादुर शास्त्री की पावन स्मृति पर राष्ट्रपति ने अपने उद्‌गार में कहा कि 'ताशकन्द घोषणा के चौथे वर्ष में प्रवेश करने के साथ ही मैं स्व. प्रधानमंत्री शास्त्री जी की स्मृति में श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ उनके निधन ने इस घोषणा को पावन बना दिया है। मुझे आशा है भारत और पाकिस्तान चाहे उनकी वर्तमान कठिनाइयां कुछ भी हों, अपनी–अपनी जनता के कल्याण को नहीं भूलेंगे, जो संघर्ष में नहीं बल्कि शांतिपूर्ण सहयोग में है।

माउण्ट आबू में राजस्थान प्रांतीय रेडक्रास सोसाइटी की सभा में डा. जाकिर हुसैन ने अपने भाषण में कहा है कि संस्कृति जिनमें दूसरे आदमियों ने अपने मस्तिष्क और अपनी आत्मा की शक्तियां सुला दी है, धार्मिक बातें, कलायें, साहित्य, इतिहास पूर्वजों की बातें और पूर्वजों के कार्यों की यादें और जाने क्या–क्या इस घर का सामान बन जाते है।"

भारत के 19वें गणतन्त्र दिवस पर देशवासियों को बधाई देते हुये कहा कि हमारा गणतन्त्र 18 वर्ष का हो गया है। अब यह वयस्क हो गया है .... जो कमी रह गई है जो लक्ष्य सामने दिखते है, उन्हें पाने के लिये योजनाबद्ध ढंग से काम करने में जुट ज़ाएं ताकि देश के करोड़ों लोगों की अपेक्षाओं पर हम खरे उतर सकें।

डा. साहब विद्वता में बहुत आगे थे। उनके भाषण देने की कला अद्वितीय

थी। अपने विचारों से वे विरोधियों को भी मोहित कर लेते थे। भारत के राष्ट्रपति बनने के पहले 1962 से 1967 तक भारत के उप राष्ट्रपति रहे। राज्य सभा में दिये गये उनके भाषण का एक अंश उनकी विनम्रता और सादगी को जाहिर करता है।" आप लोगों ने जिस तरह राज्यसभा में मेरा स्वागत किया है उसका वर्णन करने के लिये मेरे पास शब्द नही है। मुझे लगता है कि मेरे पास शायद यह योग्यता नहीं है कि आपकी इन भावनाओं को शब्द दे सकूँ। काश मुझमें वो योग्यता होती"

यूसुफ मेहर अली हिन्दुस्तान के महान देशभक्त मुसलमान थे। उनकी स्मृति में सेंटर आफ यूसुफ मेहर अली की स्थापना की गई और उसका उद्घाटन करने के लिये डा. जाकिर हुसैन को आमंत्रित किया गया। उन्होंने कहा कि मैं यूसुफ मेहर अली को हिन्दू नहीं कह सकता क्योंकि वह मुस्लिम परिवार में पैदा हुये थे, उन्हें मुसलमान भी नहीं कह सकता क्योंकि उन्होंने साफ–साफ कह दिया था कि मेरी कोई धार्मिक पहचान नही है। मैं केवल एक भारतीय हूँ। ऐसे व्यक्तित्व से प्रभावित और इस प्रकार विचारों से ओतप्रोत जाकिर हुसैन साहब थे।

मदीना विश्वविद्यालय में अपने भाषण में डा. साहब ने इस्लाम को परिभाषित किया है तथा जीवन में उच्चता लाने के लिये शिक्षा के महत्व को रेखांकित किया है। कहा कि इस्लाम एक विशिष्ट धर्म है परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि इस्लाम को मानने वाले शेष दुनिया से कट जावें। इस्लाम के अनुयायी बेबात दूसरों से नहीं उलझते। यह धर्म पूरी मानव जाति के लिये है।

इटावा के स्कूल में 1963 में जब डा. साहब भारत के उप राष्ट्रपति थे तब इस स्कूल की डायमंड जुबली मनायी गई और इस अवसर पर डा. हुसैन को बुलाया गया था। उन्होंने कहा था कि जिस स्कूल में मुझे इतना प्यार मिला हो, जिस स्कूल ने मेरी भावनाओं को आधार दिया हो, जिस स्कूल में मेरी तरक्की की जमीन तैयार की हो उसे मैं कैसे भुला सकता हूँ। इस प्रकार जाकिर साहब ने बड़े से बड़े ओदहे पर रहते हुये भी अपनी पिछली जिन्दगी कठिनाइयों के दिन और अपने जीवन के जमीनी

स्तर को सदैव याद रखा।

1965 में भारत–पाकिस्तान युद्ध हुआ। डा. जाकिर हुसैन ने 18 सितम्बर को भारत के उप राष्ट्रपति की हैसियत से आल इण्डिया रेडियो से राष्ट्र के नाम संदेश प्रसारित किया। उन्होंने कहा था कि "हमारे लिये वह बड़े दुर्भाग्य का दिन था जिस दिन विभाजन को आजादी की शर्त बनाया गया। जिन लोगों ने इसका समर्थन किया वे इतने छोटे दिमाग के थे कि इसके नतीजों का अनुमान नही लगा पाये।

डा. जाकिर हुसैन महान शिक्षायोगी थे। तेईस साल की उम्र में 12 अक्टूबर 1920 को अलीगढ़ में बापू के एक प्रवचन ने उनके जीवन को बदल दिया। उन्होंने सरकारी नौकरी का प्रलोभन छोड़ दिया। सो बरस पुरानी बिट्रिश शिक्षा पद्धति के विरूद्ध विद्रोह किया। जामिया मिलिया स्कूल से जुड़ गये। जामिया मिलिया इस्लामिया ने विश्वविद्यालय का रूप लिया। यहाँ राष्ट्रपति की मय्यत को दफनाया गया। 22 वर्ष तक जाकिर साहब दूसरे उप कुलपति रहे। वे एक महान कोटि के शिक्षाविद थे, जिनकी सूझबूझ और दूरदर्शिता अद्भुद थी। बापू की अद्वितीय दृष्टि ने इस शिक्षा–शास्त्री को मांग लिया और उन्होंने नई तालीम को चलाने का उत्तरदायित्व डाक्टर साहब के सुपुर्द कर दिया और जिसे निष्ठा और कुशलता से उन्होंने हिन्दुस्तानी तालीम संघ की अध्यक्षता का पद संभाला। उससे वे शिक्षा–जगत में लोकप्रिय हो गये। जाकिर साहब को इसका बड़ा दुख था कि देश में नई तालीम का प्रयोग ईमानदारी से नहीं किया गया। आज भी पुरानी शिक्षा–प्रणाली जारी है और भारत जैसा शायद ही कोई देश होगा, जहाँ शिक्षा शिक्षतों को जनता से एकदम अलग कर देती है। आगे चलकर जब भारत के शासकों में इसको दूर करने की सुबुद्धि और हिम्मत आयेगी और इसकी जगह नई तालीम शुरू करेंगे तो राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के साथ डा. जाकिर हुसैन का नाम भी सम्मान से लिया जायेगा। उनके प्रशासकीय जीवन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण उनकी उपलब्धियां पाण्डिय, शिक्षा तथा ग्रंथलेखन के क्षेत्र में रही हैं। जामिया जो इस्लाम एवं भारतीय राष्ट्रवाद के समन्वय का सबसे महान प्रयत्न है। तुर्की पत्रकार अदबि ने सन

1935 में इस संस्था के उद्देश्यों का वर्णन करते हुये कहा था कि इस संस्था के दो उद्देश्य है – प्रथम मुस्लिम नवयुवकों को भारतीय नागरिकों के रूप में अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का ज्ञान कराना और द्वितीय मुस्लिम आचार–विचार का हिन्दू–धर्म से समन्वय।

डा. जाकिर हुसैन एक महान शिक्षाविद वर्धा की 'बुनियादी शिक्षा कमेटी' के अध्यक्ष थे तथा इस योजना का सारा श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। सन 1926 से 1948 तक जामिया मिलिया के उप कुलपति रहे। सन 1948 से 1956 तक अलीगढ़ विश्वविद्यालय के उप कुलपति रहे। 1935 से 1950 तक हिन्दुस्तानी तालीम संघ सेवाश्रम के अध्यक्ष रहे। एक शिक्षा–विशेषज्ञ के नाते वे शिक्षा–सम्बन्धी अनेक संस्थाओं एवं समितियों से सम्बद्ध थे। डा. साहब भारतीय प्रतिनिधि के रूप में 'यूनेस्को' से भी सम्बद्ध थे। वे 'यूनेस्को' की प्रबन्ध समिति के सन 1956-58 में निर्वाचित सदस्य रहे। वे अन्तर्राष्ट्रीय छात्र–सेवा की भारतीय समिति के सन 1955 और जेनेवा की विश्वविद्यालय सेवा के सन 1955 से 57 तक अध्यक्ष रहे।

सहायता कार्य

डा. जाकिर हुसैन ने अपना बचपन बेहद संघर्षों के बीच से गुजारा। माता–पिता का निधन उनकी अल्प आयु में ही हो गया। अपनी एकाग्रता और लक्ष्य के साथ उन्होंने अपने परिवार तथा स्वयं को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने में कोई प्रयास नहीं छोड़ा। उन्हें कर्म पर भरोसा था तभी तो एक साधारण अध्यापक से उठकर शिक्षा–जगत के सिर मोर और अंततः राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुये वह भारत के सर्वमान्य सर्वप्रिय नेता थे। वह तकदीर पर नहीं बल्कि तदवीर पर भरोसा करते थे। तकदीर तो अपना कार्य करती है। तकदीर के चक्कर में पड़कर सोचना या चिंतित होना उनके स्वभाव में नहीं था। उनकी सोच में था कि तकदीर पर हमारा वश नहीं लेकिन तदवीर हमारे वश की चीज है। वह हमेशा औरों की सहायता में तत्पर रहते थे। कमजोर और निर्धन के लिये उनके ह्दय में बड़ा स्थान और उनकी सहायता के लिये

वे बराबर तत्पर रहते थे। अपने आचरण से वह बगैर डांट और अनुशासन की कड़ाई से लोगों को प्रभावित करते और उसी अनुसार वे स्वमेव आचरण करने लगते। उदाहरण के लिये डा. साहब जब जामिया मिलिया के वाइस चांसलर थे एक बार अधिकांश छात्रों द्वारा बने हुये भोजन का तिरस्कार किया गया और उनके द्वारा खाना छोड़ा गया उसी बीच डाक्टर साहब डाइनिंग हाल में अचानक पहुँचे और स्वयं छात्रों के साथ वहीं बैठकर छात्रों द्वारा छोड़ा गया भोजन उठाकर बड़े आराम से खाने लगे जिसका प्रभाव छात्रों पर गहराई से पड़ा। अपने कृत्य पर छात्र शर्मिन्दा हुये।

जाकिर साहब ने बेवस असहाय और अनाथों की बहुत सहायता की। उनको पढ़ाने में उनकी सदा चिलचस्पी रही। चाहे वह जामिया रहे हो या अलीगढ़, पटना रहे हो या दिल्ली हर जगह दूसरों की सहायता करते रहे। उनके व्यक्तित्व की बड़ी खूबी थी कि वह किसी को दुखी नहीं देख सकते थे। अलीगढ़ में विद्यार्थियों में यह मशहूर था कि "जाकिर साहब के सामने जाकर रो दो, तुम्हारा काम हो जायेगा।" इसलिये जो भी जरूरतमंद उनके पास आ जाता उसकी वह सहायता जरूर करते। सेवा का भाव जाकिर साहब में बचपन से ही पाया जाता था। उन्होंने आरम्भ में अपने गुरू "हसनशाह" की बहुत सेवा की। सूफियों और बुजुर्गों के प्रति उनमें बहुत श्रद्धा थी। एक बुजुर्ग आजाद सुबहानी का जाकिर साहब बहुत आदर करते थे।

ओखला के बड़े मकान पर जब जाना होता तो अपनी पुरानी सेविका जिसे 'बुआ' कहा करते थे के पास कुशलक्षेत्र पूंछने उसके क्वार्टर अवश्य जाते। एक कहानी 'आखिरी कदम' में उन्होंने एक नेक इंसान का वर्णन किया है जो छिप–छिपकर लोगों की सहायता करता था।

इसी प्रकार "अंधा घोड़ा" कहानी पशुओं के सद व्यवहार की प्रेरणा देती है वहीं धार्मिक सहिष्णुता और इंसानी भाईचारे का स्मरण भी कराती है। कहानी का विशुद्ध आशय जाति–धर्म और साम्प्रदायिकता से परे जन–जीवन को एक दूसरे की सहायता के लिये तत्पर रहना ही मानव का मुख्य धर्म है। डा. साहब इस भावना से

ओतप्रोत हमेशा से दूसरों को हित पहुँचाने में सहायता के लिये तैयार रहते थे।

ऐसे विशाल ह्रदय सामान्य जनमानस से सीधा सम्पर्क और उनकी तकलीफों का अहसास जाकिर साहब को गहराई से था। उन्हें नौजवानों और बच्चों से बहुत मुहब्बत थी। "मुर्गी जो अजमेर चली", "पूरी जो कढ़ाई से निकल भागी" आदि उनकी कहानियां बच्चे जवान और बूढ़े सभी चाव से पढ़ते है।

जाकिर साहब ने कई संस्थाओं की अध्यक्षता की और संचालन किया। वर्ष 1926 से जामिया मिलिया के उप कुलपति पद पर वर्ष 1946 तक रहे और अपने कार्यकाल का संचालन कुशलता और निपुणता के साथ किया। वह बहुत कम आयु के 29 वर्ष की उम्र में कुलपति नियुक्त किये गये थे। वर्ष 1930 में गाँधी जी द्वारा निर्मित नई तालीम समिति के अध्यक्ष नियुक्त किये गये थे और उन्होंने वर्ष 1937 में बुनियादी शिक्षा योजना को अंतिम रूप दिया था। वर्ष 1938 में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, सेवाश्रम के अध्यक्ष चुने गये और इस पद पर वर्ष 1950 तक रहे। 1948 में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के उप कुलपति नियुक्त किये गये और वर्ष 1956 तक रहे। 1956 में यूनेस्को के कार्यकारी मण्डल के सदस्य निर्वाचित हुये। वर्ष 1957 जुलाई 6 को बिहार के राज्यपाल चुने गये और 11 मई 1962 तक रहे। वर्ष 1962 से 13 मई को भारत के उप राष्ट्रपति (अध्यक्ष राज्यसभा) नियुक्त किये गये। 9 मई 1967 को भारत के राष्ट्रपति निर्वाचित हुये।

लगभग 30 वर्ष तक जामिया मिलिया के उप कुलपति के पद से उन्होंने ऐसी परिस्थितियों में काम किया जो किसी भी कम विश्वास और लगन वाले व्यक्ति को निरुत्साहित करने के लिये पर्याप्त थी। स्वतन्त्रता के पहले और स्वतन्त्रता के बाद भी जाकिर साहब ऐसी शिक्षाप्रणाली तैयार कराने के लिये काम करते रहे जो राष्ट्र के विकास में सहायक हो। हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, सेवाश्रम के अध्यक्ष की हैसियत से डा. साहब ने महात्मा गाँधी के बुनियादी शिक्षा सम्बन्धी विचारों को व्यावहारिक रूप दिया। उन्होंने किताबी शिक्षा और व्यावहारिक शिक्षा को इस प्रकार निभाया कि शिक्षा

का एक अधिक उपयोगी रूप सामने आया। 1956-58 में वह यूनेस्को के कार्यकारी मण्डल के सदस्य रहे। वह इण्डिया कमेटी, अन्तर्राष्ट्रीय छात्र–सेवा 1956 तक और अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय जिनेवा (1955-57) के अध्यक्ष भी रहे।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय के उप कुलपति के रूप में डा. जाकिर हुसैन ने विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग में भी कार्य किया जिसकी स्थापना डा. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में 1948 में की गई थी। इसके अलावा प्रेस आयोग से भी सम्बद्ध रहे।

षष्ठ अध्याय

शैक्षिक विचार – पृष्ठभूमि एवं चिन्तन

षष्ठ अध्याय

शैक्षिक विचार - पृष्ठभूमि एवं चिन्तन

पृष्ठभूमि

जब गाँधी जी, डा. राजेन्द्र प्रसाद, डा. राधाकृष्णन एवं डा. जाकिर हुसैन ने देश में शिक्षा पद्धति पर विचारण किया तो उनके समक्ष प्रचलित शिक्षा सारहीन एवं देश के भविष्य निर्माण में निरर्थक थी।

गाँधी जी ने कहा था कि "वर्तमान शिक्षा न केवल बेकार है, वरन हानिकारक भी है। अधिकांश छात्र अपने माता–पिता से न केवल दूर ही हो जाते हैं बल्कि वे अपने पुश्तैनी व्यवसायों से भी घृणा करने लगते हैं। वे बुरी आदतों को सीख लेते हैं। शहरी वातावरण को अपना लेते हैं और ऐसी बातों को थोड़ा बहुत जानने लगते हैं जिनका शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं। तब प्राथमिक शिक्षा का क्या रूप होना चाहिये। मैं समझता हूँ इसका उत्तर व्यावसायिक अथवा शारीरिक श्रम से सम्बन्धित विषयों का प्रशिक्षण है।"[1]

वह कहते है "इसलिये मैं बच्चों की शिक्षा किसी ऐसे हाथ के व्यवसाय द्वारा प्रारम्भ करूँगा जिसमें कि वह अपने प्रशिक्षण के आरम्भ से उत्पादन आरम्भ करने में समर्थ हो जाये। मेरा विचार है कि ऐसी ही शिक्षा–प्रणाली के अन्तर्गत शरीर और मस्तिष्क का अधिकतम विकास सम्भव है। हाथ का व्यवसाय सुचारू रूप से सिखलाना आवश्यक है जिसमें बच्चा केवल मशीन की तरह कार्य न कर बल्कि कार्यप्रणाली को भी भली–भांति समझ ले।" गाँधी जी का कहना है कि "व्यवसाय केवल शिक्षा प्रणाली का एक अंग हो बच्चों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास काम–धन्धों के द्वारा होना चाहिये लेकिन स्कूल को कारखानों के स्तर पर नहीं उतर आना चाहिये। बच्चों को अन्य विषय भी सीखने होंगे। इस अन्य विषयों की पूर्ति शारीरिक श्रम की शिक्षा से नहीं

1. 22 अक्टूबर 1937 को गाँधी जी द्वारा अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन वर्धा में दिया गया उद्घाटन भाषण

हो सकते। वास्तव में शारीरिक श्रम की शिक्षा साहित्यिक और बौद्धिक शिक्षा का एक माध्यम है।"[1]

गाँधी जी के शिक्षा–दर्शन में आत्मनिर्भरता का भाव है। उन्होंने समझा कि छात्र को कारीगरी का धंधा सीखने से छात्र शिक्षा–काल में आत्मनिर्भर बन सकता है।

शिक्षा समाज का कर्म है। समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये किन्तु भारत की तत्कालीन शिक्षा प्रणाली जिसका निर्माण प्रायः 250 वर्षों में हुआ है सामाजिक तथ्यों और आवश्यकताओं पर कभी विशेष ध्यान नहीं दिया जा सकता। इस प्रणाली पर प्रारम्भिक विचार ऐसे समय में हुये जब मुगल साम्राज्य की अवनति और विदेशियों के आक्रमणों से समाज में उच्छृंखलता, अराजकता और संशय का बोलवाला था। इस संक्रमणकाल के समाज के बाह्य रूप को देखकर कतिपय विदेशियों ने भारतीयों की अज्ञानता अन्धविश्वास तथा अनैतिकता का ढोल पीटना प्रारम्भ किया। उनके शोरगुल के सामने उन लोगों का मन, जिन्होंने भारतीय समाज को भीतर से देखाथा नक्कारखाने में तूती की आवाज बन गया। सर टाम्स मुनरो ने कहा था कि "भारत की जनता की अज्ञानता तथा उनमें शिक्षा प्रसार करने के सम्बन्ध में इग्लैण्ड तथा इस देश में बहुत कुछ कहा और लिखा गया है, किन्तु इस विषय पर लोगों के मत उनकी व्यक्तिगत कल्पना मात्र है जिनका आधार कोई साधिकार प्रमाण नहीं है। उन मतों में इतनी भिन्नता है कि "कि वे बिल्कुल ध्यान देने योग्य नहीं।"[2] इस प्रकार ऐसी समाज की काल्पनिक और विदेशी शासन की वास्तविक आवश्यकताओं के आधार पर भारतीय शिक्षा–प्रणाली का ढांचा उठाया गया था।

हमारे प्रथम राष्ट्रपतियों ने तत्कालीन शिक्षा प्रणाली की गहराई से जाँच की उसके दोष स्पष्ट किये और देश के लिये एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था उपस्थित की जो आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टि से कल्याणकारी हो। जहाँ उन्होंने शिक्षा के सुदूर लक्ष्यों पर नजर डाली वहाँ तत्कालीन समस्याओं को भी दृष्टि

1. The Year Book of Education 1940, P. 441
2. सिलेक्सन्स आफ द रिकार्ड्स आफ गवर्नमेन्ट आफ मद्रास, नं. 11

से ओझल नहीं होने दिया। शिक्षा की समस्याओं के विषय में आजीवन चिन्तन करते हुये उन्होंने ऐसी रूपरेखा प्रस्तुत की जिसका अनुगमन करके न केवल राष्ट्रीय, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें भी सुलझाई जा सकती है।

गाँधी जी तत्कालीन शिक्षा प्रणाली को विदेश से आयात की हुई वस्तु समझते थे और चाहते थे कि शिक्षा–प्रणाली का पुनर्गठन भारतीय संस्कृति और आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में किया जाये। वे चाहते थे कि "शिक्षक अपने ही ग्रामों के ग्रामीण बालकों को शिक्षित करे जिससे वे ऊपर से लादे गये नियंत्रण और हस्तक्षेप से मुक्त वातावरण में एक चुने हुये हस्तशिल्प के माध्यम से बालकों में गुणों और योग्यताओं का विकास करें।

परतन्त्रता काल की शिक्षा परतन्त्र मस्तिष्क को जन्म देती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ राधाकृष्णन भी उस समय के विद्यालयों को मन्त्रालय मानते हैं जिनमें मानव–यन्त्रों का निर्माण होता है, मनुष्यों का विकास नहीं किया जाता। वास्तविक शिक्षा सम्पूर्ण मानव का निर्माण करती है। जबकि उस समय की शिक्षा में व्यक्तिगत विभिन्नताओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। राधाकृष्णन के शब्दों में "प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व साधन और अभिरूचियों में अन्तर होता है। परन्तु जो शिक्षालय केवल मन्त्रालय के समान है, वह मनुष्य की भिन्नता पर विचार नहीं करता। उसमें आत्म के विकास अथवा स्वतन्त्र विचारों की प्रगति की कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। धार्मिक और कलात्मक, आध्यात्मिक और नैतिक प्रवृत्ति केवल वैज्ञानिक विधि और सामाजिक नियम रटने में रह जाती है। इस प्रकार के अध्ययन का परिणाम अच्छा नहीं होता।" इस प्रकार की शिक्षा मस्तिष्क को यन्त्र बना देती है और मौलिकता का विनाश करती है।

लगभग सभी समकालीन भारतीय शिक्षा दार्शनिकों ने मातृभाषा को ही शिक्षा का सही माध्यम माना है। श्री अरविन्द टैगोर तथा उनके साथ राधाकृष्णन ने अंग्रेजी की भाषा का माध्यम बनाये जाने के विरूद्ध आवाज उठाई है। अंग्रेजी की सबसे बड़ी

हानि यह है कि उससे समाज में विभिन्न लोगों के ऐसे वर्ग का निर्माण होता है जो केवल अन्य प्रकार से ही नहीं बल्कि भाषा की दृष्टि से सामान्य व्यक्ति से अलग हो जाता है। यह लोग भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि नहीं है क्योंकि अंग्रेजी और उसके माध्यम से पाश्चात्य संस्कृति को ही पढ़ा है। बालक के लिये मातृभाषा के द्वारा शिक्षण सबसे अधिक स्वाभाविक है। राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा होना चाहिये। उनका स्वयं अंग्रेजी भाषा पर असाधारण अधिकार था किन्तु उन्होंने स्पष्ट लिखा है। "यह कभी भी गम्भीरता से नहीं सोचा जा सकता कि अंग्रेजी भारत की जन–भाषा बन सकती है।" इसका कारण बतलाते हुये उन्होंने दिखलाया है कि भारतीय अंग्रेजी भाषा में महान साहित्य की रचना नहीं कर सकते और दूसरे उनमें मौलिकता कभी नहीं आ सकती। उस समय का भारतीय शिक्षा–दर्शन कुछ ऐसी सामान्य प्रवृत्तियां दिखलाता है जिनसे दार्शनिकों के विचारों में न्यूनाधिक अन्तर होते हुये भी कुछ ऐसी सामान्य बातें स्पष्ट होती है जो शिक्षा के प्रति आधुनिक जाग्रत भारतीय विचारधारा की प्रतिनिधि हो। दयानन्द, श्री अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, राधाकृष्णन, राजेन्द्र प्रसाद, जाकिर हुसैन आदि के शिक्षा–दर्शनों के विवेचन के द्वारा समकालीन भारतीय शिक्षा–दर्शन में स्थूल प्रवृत्तियों और एक राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था की रूपरेखा समझी जा सकेगी।

समकालीन भारतीय शिक्षा दार्शनिक शिक्षा–व्यवस्था के सभी पहलुओं पर विचार करते हैं और एक ऐसा सर्वांग चित्र उपस्थित करने का प्रयास करते हैं जिसमें शिक्षा की सभी विधियों सभी प्रकार के पाठ्यक्रमों, शिक्षक और शिक्षार्थी की सभी आवश्यकताओं, सभी प्रकार के विकासों को उचित स्थान मिल सके। सर्वांग दृष्टिकोण समन्वयवादी होता है। उसमें सभी प्रकार के विचारों का निराकरण किया जाता है।

राधाकृष्णन के अनुसार "जीवन का लक्ष्य सांसारिक आनन्द उठाना नही हैं बल्कि आत्मा को शिक्षित करना है।" यही शिक्षा का लक्ष्य है "शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य मनुष्य को आन्तरिक सत को जानने में सहायता देता है।" भौतिक सफलता शिक्षा का

लक्ष्य नहीं है। केवल डिग्री की शिक्षा सच्ची शिक्षा नहीं है। वास्तविक शिक्षा तो मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति पर आधारित होनी चाहिये। राधाकृष्णन के अनुसार "शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य यह है कि मनुष्य का चरित्र तालवद्ध होना चाहिये अैर उसकी आत्मा सृजनात्मक होनी चाहिये।" शिक्षा का लक्ष्य सब प्रकार की स्वतन्त्रता की ओर ले जाता है। उसका ध्येय केवल बाह्य योग्यता प्राप्त करना नहीं होना चाहिये। शिक्षा के द्वारा व्यावहारिक सफलता का महत्व अवश्य है, किन्तु यही उसकी एकमात्र कसौटी नहीं हैं। राधाकृष्णन ने शिक्षा के प्रति सर्वांगीण दृष्टिकोण रखा है।

डा. जाकिर हुसैन का लक्ष्य भारतीयों को मात्र बाह्य या भौतिक गुण–साधनों की प्राप्ति के योग्य ही नहीं बनाना था बल्कि इसे योग्य भी बनाना था जिसमें कि अधिक मृदुल व सूक्ष्म सत्य को भी वे खोज सके। उनका विश्वास था कि शिक्षा के द्वारा ऐसे नौजवान पैदा होंगे जो भारत का गौरव व आदर्श आपसी मतभेद को भुलाकर सही अर्थों में "आदमी" बनकर विश्व को जतायेंगे। जाकिर साहब की शिक्षात्मक विचारधारा आदर्शात्मक नहीं थी और न ही उसमें सीमित स्वार्थपूर्ति की धारणा थी भारतीय शिक्षा को उसकी भूमि और जनजीवन से सम्बद्ध कर उन्होंने न केवल भारतीय संस्कृति परम्परा और अतीत के साथ ही न्याय किया बल्कि विश्व–समाज की नई चुनौतियों को भी सह सकने की सामर्थ्य प्रदान करने की योग्यता की भी शिक्षा प्रदान की। वह व्यापक भारतीय जन–जीवन की आवश्यकताओं और आदर्श के अनुकूल थी।

भारतीय राष्ट्र में एकता और नवजागृति लाने का सशक्त माध्यम शिक्षा है। इस तथ्य में डा. जाकिर हुसैन का विश्वास था। भारतीय समाज की विशेषताओं से पूर्ण परिचित थे। उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुये वे चाहते थे कि इस आदर्श को विश्वव्यापी बनाया जाये। उनका मत था कि "अगर विश्व समाज में भारतीय समाज को अपनी अलग स्थित सुरक्षित रखनी है और दूसरे समाजों की अपेक्षा उनके पास कुछ है जो उसे दूसरों से अलग करता है और वह इतना सशक्त है कि बाकी रहे और विश्वभर का जीवन उससे सम्बद्ध हो, तो हमारे समाज का कर्त्तव्य है कि अपनी "शिक्षा

में उन खास चीजों का ध्यान रखे जिन्हें वह खास अपनी समझता है तथा अपने अतीत को अपनी आने वाली पीढ़ी तक पहुँचाने का प्रबन्ध करे।''

राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा की स्थिति को स्पष्ट करते हुये उन्होंने व्यक्त किया कि शिक्षा वास्तव में किसी समाज की जानी–बूझी, सोची–समझी कोशिश का नाम है जो वह इसलिये करता है कि उसका अस्तित्व बाकी रह सके और उसके व्यक्तियों में इतनी सामर्थ्य उत्पन्न हो कि वे बदली हुई परिस्थितियों के साथ समाज के जीवन में भी उचित और आवश्यक परिवर्तन कर सके। राष्ट्रीय जीवन में शिक्षा इसी प्रकार अतीत को वर्तमान से जोड़ देती है जैसे एक आदमी के जीवन में स्मरण शक्ति।''

राष्ट्रीय शिक्षा की पेचीदगी का उन्हें मान था। वे चाहते थे कि राष्ट्रीय शिक्षा की योजना मात्र थोड़े बहुत परिवर्तनों से ही पूरी नहीं होगी। इसकी योजना को बहुत व्यापक व सभी पक्षों को प्रभावित करने वाली होनी चाहिये। उन्होंने व्यक्त किया कि ''हमारी शिक्षा व्यवस्था में बस इतने परिवर्तन से काम नहीं चलेगा कि इसमें देश–भाषा के लिये कोई अच्छी जगह निकल आये और इतिहास की पुस्तकें बदल दी जायें। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का प्रश्न बड़ा पेचीदा है, उदाहरण के लिये रहने सहने के तरीके अलग हैं, आदतें और रस्में भी एक–सी नहीं है, धर्म भी भिन्न है। राष्ट्रीय शिक्षा की व्यवस्था करने वालों को सोचना होगा कि वे इस व्यवस्था की व्यापक समानता के लिये और संगठित राष्ट्र बनाने की लगन में इन भेद–भावों को पीठ पीछे डाल दें या हर सूबे या हर समुदाय को जिसकी सांस्कृतिक सम्पत्ति इतनी है कि वह अपने व्यक्तियों के मस्तिष्क–विकास का साधन बन सके इस बात का मौका दिया जाये कि वह अपनी सांस्कृतिक वस्तुओं में शिक्षा का काम लें और अपनी शिक्षा से अपनी संस्कृति की उन्नति के लिये राह निकाले .... अपने नागरिकों के भिन्न–भिन्न समुदायों को अपनी–अपनी संस्कृति से शिक्षा सम्बन्धी काम लेने का अवसर देना राजनैतिक निपुणता का उद्देश्य ही न समझा जायेगा, बल्कि उचित शिक्षा का उद्देश्य भी माना जायेगा।'' किन्तु भिन्न–भिन्न समुदायों को सांस्कृतिक स्वतन्त्रता देकर राष्ट्र की अखंडता को

खण्डित करने का भय उन्हें था। उन्होंने यह प्रश्न भी उत्पन्न किया था कि राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था में सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का क्या स्वरूप होगा और किस तरह उनमें एक राष्ट्रीयता की भावना विकसित होगी। उनका मत था कि अंग–अंग की स्वतन्त्रता के साथ 'कुल' के साथ स्नेह और सहानुभूति का प्रगाढ़ सम्बन्ध भी होना चाहिये।

राष्ट्र के लिये जिस उपयुक्त शिक्षा–व्यवस्था की आवश्यकता हैं, उसका विवरण उनके विचारों में मिलता है। भारतीय राष्ट्र अनेक विभिन्नताओं से युक्त है किन्तु इन विभिन्नताओं में एक समानता है जो इसे एक राष्ट्र के रूप में सदियों से रखे है – यही भारतीय समाज की आत्मा है। इन सबमें यथास्थिति बनाये रखते हुये ऐसी आस्था, विश्वास और धारणा को उत्पन्न करना होगा ताकि स्वतन्त्र भारत में प्रत्येक का अपने दायित्वों का ज्ञान हो और उसका सम्बन्ध समाज के हितों और दायित्वों से है। राष्ट्रीय शिक्षा का एक स्पष्ट स्वरूप उनके समक्ष था। उनका विश्वास था कि "भावी नागरिकों में दृष्टिकोण की एकरूपता तब तक नहीं आ सकती जब तक कि आधारभूत मूल्य एक न हो। ऐसा कोई गीत न हो जिसे सब मिलकर मान सके। ऐसा कोई त्योहार न हो जो सब मिलकर मना न सके और ऐसा कोर्ठ सुख दुख न हो जो सब बांट न सके।" ऐसी एकरूपता वे राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य मानते थे।

डा. राजेन्द्र प्रसाद के शिक्षा–सम्बन्धी विचारों में चली आ रही शिक्षा पद्धति के स्थान पर ऐसी शिक्षा व्यवस्था होना चाहिये जो जन सामान्य के लिये आसान और ग्राही हो। उनके लिये भाषा का सामान्य, सरल और सबकी पहुँच के लिये आसान होना आवश्यक है। लखनऊ विश्वविद्यालय में दिये गये दीक्षांत समारोह 20.12.49 के अवसर पर उन्होंने कहा था "यह आवश्यक है कि हमारे शिक्षा के केन्द्र जनता और शिक्षितों के बीच खाई खोदने वाले यंत्र न रहे जैसे कि वे विदेशी भाषा के कारण आज तक रहे हैं और सचमुच में ही शिक्षा के केन्द्र हो जायें।"[1]

"किन्तु जीवन की सफलता प्राप्त करने के लिये विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों

1. "साहित्य, शिक्षा और संस्कृति" डा. राजेन्द्र प्रसाद कृत, पृ. 132-133

में आज तक जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती है उसमें आवश्यक सुधार करने की आवश्यकता है। अंग्रेजी सल्तनत में भारत में विश्वविद्यालयों का आरम्भ और संगठन मुख्यतः अपने राज्य के संचालन की दृष्टि से किया था। अंग्रेजी राजतन्त्र चलाने के लिये उन्हें ऐसे पढ़े लिखे नवयुवकों की जरूरत थी जो अंग्रेजी भाषा की मार्फत उसके दफ्तरों का कार्य योग्यतापूर्वक कर सकें और साथ ही अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव भी हिन्दुस्तान में फैलाने में मदद दे। एक विदेशी सत्ता के लिये ऐसा करना स्वाभाविक ही था। हमारी शिक्षा पद्धति का सम्बन्ध राष्ट्रीय जीवन से नहीं के बराबर था।'' उनके अनुसार ''किसी भी देश को समुचित उन्नति करने के लिये शिक्षा की देशव्यापी व्यवस्था करना नितांत आवश्यक है। सामाजिक आर्थिक व राजनैतिक विकास के लिये उच्च शिक्षा द्वारा योग्य कार्यकर्त्ताओं को तैयार करना जरूरी है। .... मातृ–भाषा या प्रादेशिक भाषा का माध्यम प्रारम्भ होना चाहिये। कुछ शिक्षा–शास्त्रियों का ख्याल है कि उच्च शिक्षा का माध्यम राष्ट्र–भाषा होनी चाहिये ताकि देश की सांस्कृतिक एकता कायम बनी रहे और विद्यार्थी व अध्यापक भारत को एक यूनीवर्सिटी से दूसरी यूनीवर्सिटी में अध्ययन के लिये आ जा सकें। लेकिन मेरी राय में हर एक विद्यार्थी को हक है कि वह अपनी मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा द्वारा ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर सके, विशेषकर जबकि हमारी प्रान्तीय भाषायें पर्याप्त ढंग से विकसित हो चुकी हैं। हाँ अगर कोई विद्यार्थी कुछ या सभी विषयों को राष्ट्र–भाषा द्वारा पढ़ना चाहे, तो उसे आवश्यक सुविधा मिल जानी चाहिये। लेकिन राष्ट्र–भाषा द्वारा ही उच्च शिक्षा अनिवार्य करना सर्वथा अनुचित होगा। हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि राष्ट्र–भाषा का उपयोग अन्तर प्रान्तीय व्यवहार के लिये है। .... इसलिये अगर उच्च शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा रहे और साथ–साथ अन्तरप्रांतीय व्यवहार की दृष्टि से राष्ट्र–भाषा को भी अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाये तो किसी तरह की शिकायत की गुजाइंश नहीं रह जाती। राष्ट्र–भाषा की शिक्षा यूनीवर्सिटी कक्षाओं तक ऊँचे स्टैण्डर्ड तक की दी जानी चाहिये। ताकि आवश्यकता पड़ने पर प्रादेशिक विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी अखिल

भारतीय शिक्षण—संस्थाओं में राष्ट्र—भाषा के अध्यक्ष द्वारा शिक्षा ग्रहण करने योग्य बन जायें। इन अखिल भारतीय संस्थाओं का माध्यम राष्ट्रभाषा रखना होगा, यह मेरी दृष्टि से निर्विवाद है।"[1]

गाँधी जी के विचारों से सहमत होते हुये उन्होंने कहा है कि "अभी तक हमारे स्कूल, कालेजों और विश्वविद्यालयों का शिक्षण कार्य मुख्यतः शहरों के लोगों के लिये रहा है और 20वीं सदी ग्रामीण में जनता की आवश्यकताओं की उपेक्षा की गई है।" उन्होंने कहा कि "महात्मा जी का यह विश्वास था कि नई तालीम का अर्थ भी विद्यार्थियों के उद्योग से ही निकल आयेगा और इस तरह शिक्षा का प्रसार हो सकेगा।"

नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षण पर भी उनके स्पष्ट विचार थे। उन्होंने कहा कि "एक और विषय है जिसको मैं बहुत महत्व का समझता हूँ। यह है नैतिक या आध्यात्मिक शिक्षण। .... नैतिक शिक्षण से मेरा अर्थ किसी धर्म विशेष का शिक्षण नहीं है। किन्तु यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को सभी धर्मों के मूल सिद्धान्तों की साधारण जानकारी हो और सर्व—धर्म—समभाव का आदर्श उसके सामने उपस्थित किया जाये। विभिन्न देशों के महापुरुषों का जीवन और उनके आध्यात्मिक विचारों का अध्ययन हमारा एक आवश्यक अंग माना जाना चाहिये। बिना नैतिक शिक्षण के कोई भी शिक्षण—पद्धति पूर्ण नहीं कही जा सकती।"

इस प्रकार तत्कालीन शिक्षा दार्शनिकों विशेष तौर पर स्वामी दयानन्द, अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, विनोबा भावे, महात्मा गाँधी आदि मनीषियों के विचारों से प्रभावित होकर और उन्हें आत्मसात करते हुये हमारे प्रथम तीन राष्ट्रपतियों में शिक्षा जगत में अपनी विचारधारा इसी पृष्ठभूमि में प्रस्तुत की।

शिक्षा का अर्थ

टी. रेमन्स द्वारा शिक्षा को कुछ इस प्रकार परिभाषित किया गया है। "शिक्षा विकास की वह प्रक्रिया है जो मानव जीवन का बचपन से प्रौढ़ता तक का मार्ग प्रशस्त

1. "साहित्य, शिक्षा और संस्कृति" डा. राजेन्द्र प्रसाद कृत, पृ. 137

करता है – प्रक्रिया जिसके अन्तर्गत वह शनैः–शनैः जीवन के विभिन्न क्षेत्रों शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक गुणों को अंगीकार करता है।"[1]

बालक के व्यवहार में वांछनीय परिवर्तन करने के लिये व्यवस्थित शिक्षा की परम आवश्यकता है। शिक्षा माता के समान पालन–पोषण करती है पिता के समान उचित मार्ग–दर्शन द्वारा अपने कार्यों में प्रभावी है तथा पत्नी की भांति सांसारिक चिन्ताओं को दूर करके प्रशन्नता प्रदान करती है। शिक्षा ही हमारी समस्याओं को सुलझाती है एवं हमारे जीवन को सुसंस्कृत बनाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश पाकर कमल खिल उठता तथा सूर्य अस्त होने पर कुम्हला जाता है, ठीक इसी प्रकार शिक्षा के प्रकाश को पाकर प्रत्येक व्यक्ति कमल के फूल की भांति खिल जाता है तथा अशिक्षित रहने पर दरिद्रता शोक और कष्ट के अन्धकार में डूबा रहता है। संक्षेप में शिक्षा वह प्रकाश है जिसके द्वारा बालक की समस्त शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता है। शिक्षा से वह समाज का एक उत्तरदायी घटक एवं राष्ट्र का प्रखर चरित्र–सम्पन्न नागरिक बनकर समाज की सर्वांगीण उन्नति में अपनी शक्ति का उत्तरोत्तर प्रयोग करने की भावना से ओतप्रोत होकर संस्कृति तथा सभ्यता को पुर्नजीवित एवं पुर्नस्थापित के लिये प्रेरित हो जाता है।

व्यक्ति तथा समाज दोनों ही के विकास में शिक्षा परम आवश्यक है। जिस प्रकार एक ओर शिक्षा बालक का सर्वांगीण विकास करके उसे तेजस्वी, बुद्धिमान, चरित्रवान, विद्वान तथा वीर बनाती है उसी प्रकार दूसरी ओर शिक्षा समाज की उन्नति के लिये भी एक आवश्यक तथा शक्तिशाली साधन है। व्यक्ति की भांति समाज भी शिक्षा के चमत्कार से लाभान्वित होता है। शिक्षा भावी पीढ़ी को उच्च आदेशों, आज्ञाओं, आकांक्षाओं, विश्वासों तथा परम्पराओं आदि सांस्कृतिक सम्पत्ति को हस्तरांतरित करती है।

---

1. "शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त" लेख एन. आर. स्वरूप सक्सेना, पृ. 3 पर संदर्भित

शिक्षा का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। शिक्षा को आंग्ल भाषा में 'एजूकेशन' कहते है। 'एजूकेशन' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा से निम्नलिखित शब्दों से हुई थी।

1. एजूकेटम – यानी शिक्षित करना

2. एड्सीवर – यानी विकसित करना अथवा निकालना

3. एड्केअर – आगे बढ़ाना, बाहर निकालना अथवा विकसित करना

लेटिन भाषा के एडूकेटम (Educatum) शब्द का अर्थ है शिक्षित करना। ए (E) का अर्थ है अन्दर से तथा डूको (Duco) का अर्थ है आगे बढ़ाना अथवा विकास अर्थात अन्दर से विकास। प्रत्येक बालक के अन्दर जन्म से ही कुछ जन्मजात प्रवृत्तियां होती हैं। जैसे–जैसे बालक वातावरण के सम्पर्क में आता जाता है, वैसे–वैसे उसकी जन्मजात शक्तियों को अन्दर से बाहर की ओर विकसित करना, अन्दर को ढूंसना नहीं।

एजूकेटम के अतिरिक्त उक्त दोनों शब्दों 'एड्सीयर' (Educere) तथा 'एडुकेअर' (Educare) का अर्थ भी वही है 'एजूसीयर' का अर्थ है – निकालना तथा 'एजूकेअर' (Educare) का अर्थ है – आगे बढ़ाना बाहर निकालना अथवा विकसित करना। इस प्रकार शिक्षा शब्द का अर्थ जन्मजात शक्तियों का सर्वांगीण विकास है।

शाब्दिक अर्थ के अनुसार शिक्षा एक विकास सम्बन्धी प्रक्रिया है। इस विकास की गति एवं प्रकृति को समझने के लिये शिक्षा की सामग्री का ज्ञान होना आवश्यकता है।

शिक्षा की सामग्री के अर्न्तगत चार घटक आते हैं (1) बालक (2) वंशानुक्रम (3) वातावरण (4) समय।

बालक को पूर्णरूप से विकसित करने के लिये उसकी प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है। वंशानुक्रमवादियों के अनुसार शिक्षा एक वंशानुक्रम सम्बन्धी प्रक्रिया है जिसके अनुसार बालक की शिक्षा उसके वंशानुक्रम द्वारा पूर्व निश्चित हो जाती है।

वातावरणवादियों की मान्यता है कि नवजात शिशु जैसे–जैसे भौतिक एवं सामाजिक वातावरण के सम्पर्क में आता है, वैसे–वैसे उसकी जन्मजात शक्तियां विकसित होती रहती हैं तथा उसके व्यवहार में परिवर्तन होता रहता है।

बालक को उसके विकास के शैशव, बाल्य, किशोर तथा प्रौढ़ अवस्थाओं की विशेषताओं का ज्ञान होना परम आवश्यक है। बालक को उसके विकास की अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुये निश्चित समय पर शिक्षा प्रदान की जावेगी तो वह उसे सरलता एवं सफलतापूर्वक प्राप्त करता रहेगा अन्यथा नहीं। दूसरे शब्दों में समय से पूर्व शिक्षा प्रदान करना उनके विकास को कुंठित करना है। अतः व्यवस्थित शिक्षा प्रदान करते समय यह देखना आवश्यक है कि बालक का मानसिक विकास इतना हुआ है अथवा नहीं जितना उस स्तर पर अथवा अवस्था के बालक का होना चाहिये।

संक्रमित रूप में स्कूली शिक्षा को ही शिक्षा कहते है। इस प्रकार के ज्ञान से बालक तोता तो अवश्य बन जाता है परन्तु उसका सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता। जान स्टुअर्ट मिल के अनुसार "शिक्षा द्वारा एक पीढ़ी के लोग दूसरी पीढ़ी के लोगों में संस्कृति का संक्रमण करते है ताकि वे उसका संरक्षण कर सके और यदि सम्भव हो तो उसकी उन्नति भी कर सकें।"

शिक्षा के संकुचित अर्थ में एस. एस. मैकेन्डी के अनुसार "संकुचित अर्थ में शिक्षा का अर्थ हमारी शक्तियों के विकास तथा सुधार के लिये चेतनापूर्वक किये गये किसी भी प्रयास से हो सकता है।"

प्रो. ड्रीवर के अनुसार "शिक्षा एक प्रक्रिया है जिसमें तथा जिसके द्वारा बालक के ज्ञान, चरित्र तथा व्यवहार को एक विशेष रूचि में डाला जाता है।"

जी. एच. थामसन ने शिक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया है – "शिक्षा एक विशेष प्रकार का वातावरण है जिसका प्रयास बालक के चिन्तन दृष्टिकोण तथा व्यवहार करने की आदतों पर स्थायी रूप से परिवर्तन के लिये डाला जाता है।"

दूसरे शब्दों में शिक्षा जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। ऐसी शिक्षा किसी

व्यक्ति समय, स्थान अथवा देश तक ही सीमित नहीं रहती। अपितु जिन व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर बालक जो कुछ भी सीखता है वे सब उसके शिक्षक हैं। जिन्हें वह सिखाता है वे सब उसके शिष्य हैं तथा जिस स्थान पर सीखने अथवा सिखाने का कार्य चलता है वह स्कूल है।

शिक्षा के व्यापक अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिये कुछ अन्य विद्वानों के विचारों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

एस. एस. मेकेन्जी "व्यापक अर्थ में शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन–पर्यन्त चलती है तथा जीवन के प्रत्येक अनुभव से उसमें वृद्धि होती है।"

महात्मा गाँधी "शिक्षा का अर्थ में बालक अथवा मनुष्य में आत्मा, शरीर और बुद्धि के सर्वांगीण और सबसे अच्छे विकास से समझता हूँ।"

डमविल के अनुसार "शिक्षा के व्यापक अर्थ में वे सभी प्रभाव आ जाते है जो व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रभावित करते हैं।"

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री एडम्स ने शिक्षा को एक द्वमुखी प्रक्रिया मानते हुये इसको इस प्रकार परिभाषित किया है कि "एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करता है। यह प्रक्रिया संचेतन ही नहीं है अपितु सोदेश्य अथवा विचारपूर्ण भी है। तथा वे साधन जिनके द्वारा बालक के व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है।"

एडम्स के विवेचना से स्पष्ट होता है कि शिक्षारूपी दो मुखी प्रक्रिया की दो धुरिया है। एक धुरी शिक्षक है तथा दूसरी धुरी बालक।

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जान डी. वी. ने भी शिक्षा को एक प्रक्रिया माना है। उनके अनुसार शिक्षा की प्रक्रिया के दो पक्ष है (1) मनोवैज्ञानिक तथा (2) सामाजिक। दूसरे शब्दों में समाज के सहयोग बिना बालक के मनोवैज्ञानिक पक्ष का विकास उचित दिशा में नहीं हो सकता।

शिक्षा की प्रक्रिया में पाठ्यक्रम भी सम्मिलित कर लिया जाये, तो हम शिक्षा को द्वमुखी प्रक्रिया न कहकर त्रिमुखी प्रक्रिया मानेंगे जिसके तीन अंग है (1) शिक्षक (2)

बालक (3) पाठ्यक्रम। इन्हीं तीन अंगों की पारस्परिक क्रिया में ही शिक्षा निहित है।

शिक्षा को संकुचित व्यापक तथा विश्लेषणात्मक अर्थों में लिया जा सकता है। संकुचित अर्थ में शिक्षा परिवर्तन विरोधी तथा सीमित है। इसके अनुसार बालकों को ऐसे नियंत्रित वातावरण में रखते हुये एक विशेष प्रकार के जीवन को व्यतीत करने वाली बलपूर्वक ठूंसी हुई स्कूल शिक्षा को ही शिक्षा समझा जाता है। इससे बालकों की रूचियां, क्षमताओं तथा योग्यताओं की अवहेलना हो जाती है। व्यापक अर्थ में शिक्षा आवश्यकता से अधिक उदार बन जाती है। इस अर्थ के अनुसार बालक को अनियमित वातावरण में रखते हुये उसके स्वाभाविक विकास पर बल दिया जाता है। यदि शिक्षा के व्यापक अर्थ को ही स्वीकार कर लिया जाये तो बालक का सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जावेगा। अतः यदि बालक को एक सुखी सम्पन्न तथा प्रशन्न जीवन का आनन्द लेने के योग्य बनाना है तो शिक्षा के संकुचित तथा व्यापक दोनों ही अर्थों का समन्वय करना होगा।

वास्तविक अर्थों में हम शिक्षा को एक विकास की प्रक्रिया कह सकते है। शिक्षा जन्मजात शक्तियों को व्यक्त करने की प्रक्रिया के रूप में – सुकरात के अनुसार – शिक्षा का अर्थ है – प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में अदृश्य रूप से विद्यमान संसार के सर्वमान्य विचारों को प्रकाश में लाना।''

फ्रीविल के अनुसार ''शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक की जन्मजात शक्तियां बाहर प्रकट होती है।''

विवेकानन्द के अनुसार ''शिक्षा मनुष्य के अन्दर सन्निहित गुणों का प्रदर्शन है।''

विद्वानों ने जिन्होंने शिक्षा को पूर्ण विकास की प्रक्रिया माना है –

टैगोर

''शिक्षा का अर्थ मस्तिष्क को इस योग्य बनाना है कि वह सत्य की खोज कर सके .... तथा अपना बनाते हुये उसे व्यक्त कर सके।''

पेस्टालाजी

"शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक समरूप तथा प्रगतिशील विकास है।"

टी. पी. नन

"शिक्षा बालक वैयक्तिकता का पूर्ण विकास है जिससे वह अपनी पूर्ण योग्यता के अनुसार मानव जीवन को मौलिक योगदान दे सके।"

कान्ट

"शिक्षा मनुष्य की उस पूर्णता का विकास है जिसकी उसमें क्षमता है।"

कुछ विद्वानों ने शिक्षा को व्यक्तिगत हित अथवा समाजहित प्राप्त करने की प्रक्रिया माना है।

बाउन

"शिक्षा चैतन्य रूप में एक नियंत्रित प्रक्रिया है। जिसके द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन किये जाते हैं तथा व्यक्ति के द्वारा समाज में रिआर्गनाइजेशन आफ सेकेन्डरी स्कूलस रिपोर्ट यू. एस. ए. –

"शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान, रूचियों, आदतों तथा शक्तियों का विकास करना है, जिसके द्वारा उसे अपना उचित स्थान प्राप्त हो सके, तथा वह इस स्थान का सदुपयोग कर स्वयं तथा समाज को उच्च पवित्र उद्देश्यों की ओर ले जाये।"

निम्न विद्वानों के अनुसार शिक्षा वातावरण से अनुकूल करने की प्रक्रिया है –

वासिंग

"शिक्षा का कार्य व्यक्ति को वातावरण के साथ उस सीमा तक अनुकूल कराना है, जिससे व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये स्थायी संतोष प्राप्त हो सके।"

बटलर

"शिक्षा प्रजाति की आध्यात्मिक सम्पत्ति के साथ व्यक्ति का क्रमिक सामंजस्य है।"

जेम्स

"शिक्षा कार्य–सम्बन्धी अर्जित आदतों का संगठन है जो व्यक्ति को उसके भौतिक और सामाजिक वातावरण में उचित स्थान देती है।"

प्लेटो के युग से लेकर जान डी. वी. तथा महात्मा गाँधी के युग तक विभिन्न विद्वानों ने शिक्षा की अनेक परिभाषायें प्रस्तुत की है। आदर्शवादी दार्शनिकों के अनुसार जीवन का लक्ष्य आध्यात्मिक विकास है। यथार्थवादी तथा प्रकृतिवादी दार्शनिक शिक्षा को एक भौतिक प्रक्रिया मानते है। प्रयोजनवादियों के अनुसार शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है, उसके अनुसार शिक्षा मानव के सामाजिक विकास की प्रक्रिया है।

शिक्षा की सही परिभाषा के लिये शिक्षा के विभिन्न अर्थों, आधारों तथा परिभाषाओं पर प्रकाश डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा एक सापेक्ष चेतन अथवा अचेतन, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक वातावरण सम्बन्धी प्रक्रिया है। सूक्ष्म में यह कहा जा सकता कि शिक्षा मनुष्य व समाज के सभी अंगों के विकास की व्यवस्थित प्रक्रिया है।

रेमॉण्ट के अनुसार "शिक्षा उस विकास का नाम है जो शैशव अवस्था से प्रौढ़ अवस्था तक होता ही रहता है। अर्थात शिक्षा वह क्रम है, जिसमें मानव अपने को आवश्यकतानुसार भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक वातावरण के अनुकूल बना लेता है।"

शिक्षण, पाठ्यक्रम तथा शिक्षण–पद्धतियों की दृष्टि से शिक्षा औपचारिक तथा अनौपचारिक, प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष, सामान्य तथा विशिष्ट शिक्षा, व्यक्तिगत तथा सामूहिक शिक्षा रूपों में दी जाती है। शिक्षा के अंगों में बालक शिक्षक व पाठ्यक्रम प्रमुख है।

आधुनिक धारणा के अनुसार शिक्षा बालक के अन्दर छिपी हुई समस्त शक्तियों को सामाजिक वातावरण में विकसित करने की कला है।

शिक्षा की प्राचीन धारणा तथा आधुनिक धारणा का अध्ययन करने पर हम पाते है। प्राचीन धारणा में शिक्षा का आधार सूचना–निर्देशन था जबकि आधुनिक धारणानुसार यह अनुशासन के रूप में विकास से सम्बन्धित है। प्राचीन धारणा में शिक्षा विषय–प्रधान समाज में था जबकि आधुनिक धारणानुसार व्यक्तित्व का विकास सामाजिक कुशलता, क्रिया प्रधान तथा सामाजिक अध्ययन है। प्राचीन शिक्षा पद्धति रटन–पद्धति थी जबकि आधुनिक धारणानुसार खेल करके सीखना, प्राचीन पद्धति में कठोर दमनात्मक अनुशासन निहित है जबकि आधुनिक में आत्म–अनुशासन, प्राचीन समय में परीक्षा निबन्धात्मक आधुनिक धारणा के अन्तर्गत परीक्षा वस्तुनिष्ठ वर्णनशील आदि है। प्राचीन धारणानुसार साधन औपचारिक स्कूल है जबकि आधुनिक धारणानुसार साधन अनौपचारिक–परिवार समुदाय धर्म तथा राज्य है। प्राचीन पद्धति में बालक निष्क्रय जबकि आधुनिक में सक्रिय है।

सामान्य रूप से शिक्षा व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों का नियंत्रण मार्गान्तीकरण तथा शेष न करते हुये उसकी जन्मजात शक्तियों के विकास में इस प्रकार सहायता प्रदान करती है कि उसका सर्वांगीण विकास हो जाये। संक्षिप्त रूप में शिक्षा मानवीय जीवन में व्यक्ति को जहाँ एक ओर वातावरण के अनुकूल करने तथा उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन करते हुये भौतिक सम्पन्नता को प्राप्त करके चरित्रवान, बुद्धिमान, वीर तथा साहसी उत्तम नागरिक के रूप में आत्मनिर्भर बनाकर उसका सर्वांगीण विकास करती है वहाँ दूसरी ओर शिक्षा राष्ट्रीय जीवन में व्यक्ति के अन्दर राष्ट्रीय एकता, भावात्मक एकता, सामाजिक कुशलता तथा 'राष्ट्रीय अनुशासन' आदि भावनाओं को विकसित करके इसे इस योग्य बना देती है कि वह सामाजिक कर्त्तव्यों को पूरा करते हुये राष्ट्रीय हित को प्राथमिकता देने के लिये ओतप्रोत हो जाता है। शिक्षा सामान्य तथा राष्ट्रीय जीवन में इतने कार्य करती है जिनसे व्यक्ति तथा समाज

निरन्तर उन्नत के शिखर पर चढ़ते रहते हैं।

शिक्षा के उद्देश्य

"As political social and economic condition's change and new problems arise, it becomes necessary to re-examine and re-state clearly the objectives. Which education at each definite stage should keep in view."

Secondary Education Commission Report P. 22

"राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों के बदलने पर नई समस्यायें उत्पन्न होती है तब आवश्यक होता कि शिक्षा विषय का पुर्नमूल्यांकन और साफ तरीके से उसे शिक्षा के हर स्तर पर व्यवस्थित किया जाये।"

मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष तथा दैनिक जीवन की बौद्धिक प्रत्येक क्रिया को सफल बनाने के लिये उद्देश्य का विशेष महत्व होता है। बिना उद्देश्य के हम जीवन के किसी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकते। समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं तथा आदर्शों को दृष्टि में रखते हुये बालक की मूल प्रवृत्तियों का विकास शिक्षा इस प्रकार से कर सकती है कि व्यक्ति तथा समाज दोनों ही विकसित होते रहें। इस दृष्टि से नर्सरी, प्राइमरी, माध्यमिक तथा उच्च स्तरीय एवं सामान्य व्यवसायिक, तकनीकी तथा प्रौढ़ आदि सभी प्रकार का शिक्षा उद्देश्य अलग-अलग और स्पष्ट होने चाहिये।

उद्देश्य हमें शिक्षण-पद्धतियों के प्रयोग करने, साधनों का चयन करने, उचित पाठ्यक्रम की रचना करने तथा परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करने में भी सहायता प्रदान करता है। उद्देश्य के ज्ञान के बिना शिक्षक उस नाविक के समान होता है जिसे अपने लक्ष्य का ज्ञान नहीं तथा उसके विद्यार्थी उस पतवारविहीन नौका के समान है जो समुद्र की लहरों में थपेड़े खाती हुई तट की ओर भटकती जा रही है।

मौटे तौर पर हम शिक्षा के उद्देश्यों को निम्न प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं।

1. विशिष्ट उद्देश्य
2. सार्वभौमिक उद्देश्य

3. वैयक्तिक उद्देश्य

4. सामाजिक उद्देश्य

विशिष्ट उद्देश्यों का क्षेत्र तथा प्रकृति सीमित होती है। ये उद्देश्य लचीले अनुकूल योग्यता तथा परिवर्तनशील होते है। शिक्षा के विशिष्ट उद्देश्य देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते है।

सार्वभौमिक उद्देश्य

सार्वभौमिक उद्देश्य मानव जाति पर सामान्य रूप से लागू होते है। यह उद्देश्य सनातन निश्चित तथा अपरिवर्तनशील होते है। मानव के व्यक्तित्व का संगठन, उचित शारीरिक तथा मानसिक विकास, समाज की प्रगति प्रेम तथा अहिंसा आदि शिक्षा के कुछ सार्वभौमिक उद्देश्य है जो शिक्षा को सार्वभौमिक रूप देते हैं।

वैयक्तिक उद्देश्य

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री टी. पी. नन ने इस उद्देश्य पर बल देते हुये लिखा है "संसार में जो भी अच्छाई आती है वह व्यक्तिगत पुरुषों तथा स्त्रियों के स्वतन्त्र प्रयासों द्वारा आती है। शिक्षा की व्यवस्था इसी सत्य पर आधारित होनी चाहिये तथा शिक्षा की ऐसी दशा में उत्पन्न करनी चाहिये, जिससे वैयक्तिता का पूर्ण विकास हो सके तथा व्यक्ति मानव जीवन को अपना मौलिक योग दे सके।" व्यक्तिवादियों के अनुसार समाज की अपेक्षा व्यक्ति बड़ा है। अतः शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य व्यक्ति की व्यक्तिगत शक्तियों को पूर्णरूपेण विकसित करने पर बल देता है।

सामाजिक उद्देश्य

समाजवादियों के अनुसार व्यक्ति की अपेक्षा समाज बड़ा है। अतः वे शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य पर विशेष बल देते है। उनके अनुसार व्यक्ति को अपनी वैयक्तितता का विकास समाज की आवश्यकताओं तथा आदर्शों को ध्यान में रखते हुये करना चाहिये।

आवश्यक है कि उपर्युक्त विशिष्ट तथा सार्वभौमिक उद्देश्यों में संतुलन बनाये

रखना है। इसी प्रकार वैयक्तिक तथा सामाजिक उद्देश्यों के बीच भी समन्वय की आवश्यकता है।

चूँकि शिक्षा के उद्देश्यों का जीवन के उद्देश्यों से सम्बन्ध होता है, इसलिये शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण करना ठीक ऐसे ही है जैसे जीवन के उद्देश्यों को निर्धारित करना।

उद्देश्यों की प्रकृति में अन्तर होता है। इनमें से कुछ उद्देश्य तो सनातन, निश्चित तथा अपरिवर्तनशील हैं और कुछ लचीले, अनुकूलन योग्य एवं परिवर्तनशील। शिक्षा के मुख्य आधार चार है – (1) आदर्शवाद (2) प्रकृतिवाद (3) प्रयोजनवाद तथा (4) यथार्थवाद

शिक्षा के विभिन्न आधारों के बगैर हम शिक्षा के उद्देश्यों के विषय में पूरी जानकारी नहीं कर सकते।

प्रकरण के सम्बन्ध में सुविधा के लिये इन आधारों को केवल दो भागों में विभाजित करके प्रकाश डाला जा सकता है –

1. आदर्शवादी आधार
2. यथार्थवादी आधार

आदर्शवादी दर्शन के अनुसार अंतिम सत्ता आध्यात्मिक है तथा प्रकृतिवाद के अनुसार भौतिक तत्व। आदर्शवादियों के अनुसार शिक्षा एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है जो व्यक्ति को आध्यात्मिक जगत के लिये तैयार करती है तथा प्रकृतिवादियों की दृष्टि से शिक्षा एक भौतिक प्रक्रिया है जो व्यक्ति को केवल सांसारिक सुखों को भोगने के योग्य बनाती है। आदर्शवादी समाज में भौतिक जगत के अपेक्षा सार्वभौमिक मूल्यों की प्राप्ति पर बल दिया जाता है। जो समाज आदर्शवादी है वहाँ की शिक्षा के निश्चित सनातन तथा अपरिवर्तनशील सार्वभौमिक उद्देश्य होते हैं। इन उद्देश्यों से मानवीय गुणों का विकास होता है जिससे समाज प्रगति की ओर अग्रसर रहता है।

यथार्थवादी आधार

यथार्थवादी तथा प्रयोजनवादी दोनों विचारधारायें आदर्शवादी दर्शन का विरोध करती है। प्रकृतिवादी विचारधारा के अनुसार सत्य सदैव बदलता रहता है इसलिये शिक्षा के उद्देश्य भी सदैव देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते है। यथार्थवादी आदर्शवादी भावनाओं के चक्कर में न पड़कर जीवन की यथार्थ परिस्थितियों आवश्यकताओं तथा समाज की बदलती हुई समस्याओं को सुलझाने में विश्वास करते है। यथार्थवादी भी प्रयोजनवादियों की भांति समाज की भौतिक परिस्थितियों को आधार मानते हुये शिक्षा के लचीले अनुकूलन योग्य तथा परिवर्तनशील विशिष्ट उद्देश्यों का निर्माण करते है जिससे मानव यथार्थ जगत के योग्य बनकर अपने व्यावहारिक जीवन की अनेक समस्याओं को सुलझाकर गुणी सम्पन्न तथा प्रसन्न जीवन व्यतीत कर सके।

इसके विवेचन से स्पष्ट होता है कि शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण जीवन तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुसार किया जाता है। शिक्षा के उद्देश्यों का व्यक्ति के जीवन तथा समाज के आदर्शों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जो देश भौतिक दौड़ में पिछड़ जाते है उनमें प्रायः शिक्षा के व्यावसायिक उद्देश्य पर बल दिया जाता है। जिससे वहाँ के व्यक्ति अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं ही करके अपने जीवन को सुखी बना सके। इसके अलावा कभी–कभी शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण केवल समाज की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं तथा आदर्शों को दृष्टि में रखकर किया जाता है। हिटलर के समय में जर्मनी की शिक्षा का उद्देश्य वहाँ की जनता में देश के प्रति प्रेम श्रद्धा, अपारभक्ति तथा त्याग की भावना को ही विकसित करना था। इस उद्देश्य का आशय यह था कि वहाँ की जनता आवश्यकता पड़ने पर अपने देश की प्रतिष्ठा तथा मान की रक्षा के लिये अपने जीवन की आहुति भी दे सके। शिक्षा के उद्देश्यों के इसी सम्बन्ध पर निम्न प्रकार प्रकाश डाला जा सकता है।

शिक्षा के उद्देश्यों का व्यक्ति के जीवन में कई रूपों से सम्बन्ध होता है।

हरवार्ट तथा फ्रोवल प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रियों ने इस बात का समर्थन किया है कि व्यक्ति की आत्मा का विकास केवल शिक्षा के वांछित उद्देश्य द्वारा ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। जीवन की विभिन्नता पर नियंत्रण रखना तथा जीवन के मूल्यों की प्राप्ति करना सफल जीवन की कुंजी है। व्यक्ति तभी सफल होगा जब शिक्षा के उद्देश्य इतने उत्तम हो कि वे व्यक्ति को उसके इस लक्ष्य की प्राप्ति में पूर्ण सहयोग प्रदान करें।

व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य है – जीवन की पूर्णता को प्राप्त करना। व्यक्ति को इतना ज्ञान प्राप्त हो जावे कि वह अनुशासित रहते हुये सत्यम, शिवम, सुन्दरम की प्राप्ति कर सके।

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास से भी है। यदि शिक्षा के उद्देश्य व्यक्ति के जीवन की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार नही बदलते तो मनुष्य का मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास असंभव है।

व्यक्ति में प्रशंसनीय आचरण तथा नैतिक चरित्र का विकास करना शिक्षा का मुख्य कर्त्तव्य है। यदि शिक्षा के उद्देश्य धर्म तथा दर्शन पर आधारित होंगे तो इनका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन से अत्यन्त प्रशंसनीय होगा।

शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के संतुलित व्यक्तित्व का विकास भी है। यदि शिक्षा के उद्देश्य व्यक्ति के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहेंगे तो निश्चय ही उसके व्यक्तित्व का संतुलित विकास होता रहेगा।

सफल जीवन के लिये परिस्थितियों का मूल्यांकन करने का ज्ञान आवश्यक है। व्यक्ति अच्छे–बुरे, सत्य–असत्य, भौतिक–अनैतिक, हितकर तथा अहितकर कार्यों और विचारों में अन्तर समझ सके तथा उसका मूल्यांकन करके उचित निर्णय ले सके।

शिक्षा के अच्छे उद्देश्य मनुष्य को आत्मिक सुरक्षा भी प्रदान करते है। शिक्षा द्वारा ऐसे समाज का भी निर्माण करना है जो व्यक्ति के विकास के लिये अधिक से अधिक अवसर प्रदान कर सके। शिक्षा के अच्छे उद्देश्य व्यक्ति में सामाजिक भावना विकसित करके उसे समाज में सक्रिय भागीदार बनाता है।

जैसा समाज होता है उसी अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों की रचना होती है। आदर्शवादी समाज में आदर्शवादी दर्शन के अनुसार भौतिक जगत की तुलना में आध्यात्मिक तत्वों तथा मूल्यों को प्राप्त करना परम आवश्यक है। इसी दृष्टि से आदर्शवादी समाज में विचार तथा बुद्धि को विशेष महत्व देते हुये आध्यात्मिक विकास के आदर्श को ध्यान में रखकर शिक्षा के उद्देश्य का निर्माण किया जाता है। भौतिकवादी समाज में भौतिक सम्पन्नता को प्रमुख स्थान दिया जाता है। प्रयोजनवादी विचारधारा आदर्शवादी दर्शन के बिल्कुल विपरीत है। प्रयोजनवादी आदर्शवादियों की भांति पारलौकिक जीवन को महत्व न देते हुये केवल भौतिक जगत को ही सब कुछ समझते है। उनका विश्वास है कि सत्य देशकाल तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। अतः यदि कोई सत्य किसी परिस्थिति में सत्य सिद्ध नहीं होता तो वह असत्य है। केवल नवीन मूल्यों के निर्माण करने को ही शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य माना जाता है।

फासिस्ट समाज में राज्य को मुख्यतया व्यक्ति को गौण स्थान प्राप्त होता है। ऐसे समाज अथवा राज्य में व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह राज्य की भलाई के लिये अपनी जान भी न्योछावर कर दे। फासिस्ट समाज में व्यक्ति–व्यक्ति की स्वतन्त्रता उसका मौलिक अधिकार नहीं होता उसका तो केवल मौलिक कर्त्तव्य ही होता है। इस दृष्टि से फासिस्ट समाज में शिक्षा का उद्देश्य केवल ऐसे राज्य–भक्त तैयार करना है जो अपने निजी हितों को त्यागकर राज्य की सेवा में जुटे रहे।

साम्यवादी समाज में प्रत्येक सहकारी फार्म तथा कारखाने में अपने यहाँ काम करने वाले श्रमिकों के बालकों की शिक्षा के लिये स्कूल खोलने अनिवार्य होते है। ऐसे समाज में श्रम को विशेष महत्व दिया जाता है।

जनतन्त्रवादी समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व को विशेष महत्व दिया जाता है। गणतन्त्रवादी समाज में प्रत्येक व्यक्ति को चिन्तन तथा मनन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह ऐसे कार्य करें जिससे सबका भला हो। और इसी अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण किया जाता है।

शिक्षा के वैयक्तिक तथा सामाजिक उद्देश्य का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि एक प्रश्न प्राचीनकाल से ही विद्वानों के समक्ष विचारणीय रहा है कि मानव बड़ा है अथवा समाज। जे. ए. शेज के अनुसार – "Individuality is of no value and personality is a meaningless term apart from the social environment in which they are developed and made manifest self-realization can be achieved only through social service and social ideals of great value can come in to being only through free individuals who can develop valuable imidividuality. The circle can not be broken." J. S. Ross

कुछ व्यक्ति समाज की अपेक्षा व्यक्ति व्यक्तित्व पर बल देते हैं। तो कुछ समाज के हित के समक्ष व्यक्ति को बिल्कुल महत्वहीन मानते हुये उसे समाज की उन्नति के लिये बलिदान तक कर देने के पक्ष में है। इस वाद–विवाद के आधार पर ही शिक्षा के वैयक्तिक तथा सामाजिक उद्देश्यों का सर्जन हुआ है। शिक्षा सम्बन्धी सभी उद्देश्य प्रायः इन्हीं दोनों उद्देश्यों में से किसी एक उद्देश्य के पक्ष में बल देते हैं। शिक्षा के इन दोनों उद्देश्यों के समन्वय से एक बेहतर दिशा को प्राप्त किया जा सकता है।

वैयक्तिक उद्देश्य के अनुसार व्यक्ति के विकास से समाज का विकास हुआ तथा दिन प्रतिदिन हो रहा है। परन्तु वर्तमान युग में जब से मनोविज्ञान को शिक्षा के क्षेत्र में स्थान मिला है तब से रूसो, पेस्टालाजी, फ्रीविल तथानन आदि शिक्षा–शास्त्रियों ने शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य पर फिर से बल देना प्रारम्भ कर दिया है। टी. पी. नन के अनुसार "मानव समाज में यदि कुछ भी अच्छाई आ सकती है तो वह व्यक्तिगत पुरुषों तथा स्त्रियों के स्वतन्त्र प्रयासों के द्वारा ही आ सकती है। अतः शिक्षा का संगठन इस सत्य के आधार पर ही होना चाहिये।" नन ने आगे लिखा है – "शिक्षा से प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी अवस्थायें प्राप्त होनी चाहिये जिनमें उसकी वैयक्तिकता का पूर्ण विकास हो सके।" नन के विचार से विशेष प्रकार के व्यक्तित्व से ही संसार की उन्नति हो सकती है।

इस प्रकार सूक्ष्म में शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का आशय आत्माभिव्यक्ति

अथवा प्राकृतिक विकास है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक बालक एक दूसरे से शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक दृष्टि से भिन्न होता है। यह भिन्नता रूचियों, शक्तियों, विचारों तथा कार्य करने की क्षमता में भी होती है। बुद्धि तथा योग्यताओं के इन भेदों को दृष्टि में रखते हुये प्रत्येक बालक के लिये एक सा कठोर पाठ्यक्रम बनाकर सब को एक ही प्रकार की शिक्षा प्रदान करना अमनोवैज्ञानिक है। नन ने इसी विचार की पुष्टि करते हुये लिखा है – "शिक्षा बालक को इस प्रकार से सहायता प्रदान करे कि वह समाज अथवा मानवीय जीवन को अपनी योग्यतानुसार मौलिक योगदान दे सके।"

नन के अनुसार "शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य व्यक्ति को उसके साथियों के प्रति उत्तरदायित्वों को कम नहीं करता, क्योंकि व्यक्ति का विकास समाज में रहकर होता है।" नन के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता जाता है कि व्यक्तित्व के विकास से उसका तात्पर्य आत्माभि व्यक्ति न होकर आत्म–बोध अथवा आत्मानुभूति है।

इस प्रकार व्यापक अर्थ में शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का आशय आत्म–अनुभूति है। चूंकि आत्म–अनुभूति से आत्मा का ज्ञान केवल समाज के ही माध्यम से हो सकता है, इसलिये व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह सामाजिक हितों को ध्यान में रखते हुये अपना अधिक से अधिक विकास करें तथा समाज को यथाशक्ति मौलिक योगदान दे।

जे. एस. रास ने भी इसी विचार की पुष्टि करते हुये लिखा है – "नन के व्यक्तित्व शब्द का अर्थ उस आदर्श से है जिसको अभी प्राप्त करने के लिये व्यक्ति प्रयत्न कर रहा है। जिसको अभी प्राप्त नहीं किया गया है अपितु प्रयत्न करके प्राप्त किया जा सकता है।

यूकेन (Eucken) ने भी शिक्षा के व्यक्तिवाद का समर्थन किया है। परन्तु उसने वैयक्तिकता को जैवकीय अर्थ से मुक्त करते हुये आध्यात्मिक अर्थ दिया है।

यूकेन का कथन है – "हमारे जीवन का मुख्य कार्य अपने सच्चे स्वरूप को विकसित करना और व्यक्तित्व तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व के परिवर्तन में इस स्वरूप को निखारना होता है। प्रत्येक व्यक्ति के सामने सत्य–पूर्ण व्यक्तित्व तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व के निर्माण का कार्य जीवन भर होता रहता है।"

जे. एस. रास ने भी यूकेन के इस मत का समर्थन करते हुये लिखा है – "यूकेन के विश्वास से हम भी सहमत हो सकते है कि जीवन की भांति शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का उन्नयन है।"

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि व्यापक अर्थ में व्यक्तित्व के विकास का अर्थ यह है कि हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हमारे द्वारा किये गये कार्यों पर निर्भर होता है। शिक्षा के द्वारा हम अपने व्यक्तित्व को इतना ऊँचा उठायें कि हम विश्व की सर्वोच्च सत्ता के साथ एक रूप हो सके। व्यक्ति के विकास की इस अवस्था को आत्म–साक्षात्कार, आत्मबोध अथवा आत्ममूर्ति (Self Realization) की संज्ञा दी जाती है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये शिक्षा का उद्देश्य भी वैयक्किता का विकास होना चाहिये।

शिक्षा के इस प्रकार के योगदान को डा. राधाकृष्णन ने अपने विचारों से पूर्णरूपेण पुष्टि की है।

शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य

इस उद्देश्य के समर्थक व्यक्ति की अपेक्षा समाज को ऊँचा मानते है। उनके अनुसार शिक्षा की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जिसके द्वारा समाज दिन–प्रतिदिन उन्नति के शिखर पर चढ़ता रहे। शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण समाज की तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिये। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रेमान्ट (Raymont) के अनुसार "जो विद्वान व्यक्ति को समाज के ऊपर स्थान देते हैं उनको स्मरण रखना चाहिये कि निः समाज व्यक्ति कोरी कल्पना है। अतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तिगत चरित्र गठन के साथ–साथ बालक को सामाजिक प्राणी तथा नागरिक बनाना है।"

शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य से समाजवाद का जन्म हुआ। शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य अपने संकुचित अर्थ में इस बात पर बल देता है कि मानवीय जीवन के प्रत्येक अंग का पूर्णरूपेण समाजीकरण हो जावे। समाजवाद के उदार रूप जनतन्त्रवाद समाजवाद में सामाजिक उद्देश्य में समाज के महत्व को तो स्वीकार किया जाता है परन्तु व्यक्ति समाज के सम्मुख नगण्य नहीं माना जाता।

बागले (Bagley) तथा डी वी (Dewey) आदि शिक्षाशास्त्रियों ने सामाजिक उद्देश्य के व्यापक अर्थ को ही स्वीकार किया है। परन्तु उन्होंने इस उद्देश्य को समाज सेवा तथा सामाजिक कुशलता की संज्ञा दी है। बागले का मत है कि सामाजिक कुशलता वह मापदण्ड है जिसके द्वारा शिक्षा सम्बन्धी प्रत्येक कार्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। उन्होंने अपनी पुस्तक ''एजूकेशनल वैल्यूज'' (Educational Values) में इस प्रकार के विचार प्रस्तुत किये है।

जान डी वी के अनुसार सामाजिक कुशलता का अर्थ है व्यक्ति द्वारा सामूहिक क्रियाओं में भाग लेने की क्षमता। जान डी वी ने लिखा है ''सबसे व्यापक रूप में सामाजिक कुशलता व्यक्ति में सामाजिक हित की भावना का संचार करने एवं अपने व दूसरों के हितों को अलग–अलग रखने की भावना को नष्ट करने की प्रवृत्ति है।''

संक्षेप में सामाजिक उद्देश्य के व्यापक अर्थ में ''शिक्षा समाज सेवा के लिये'', ''शिक्षा नागरिकता के लिये'' तथा ''शिक्षा सामाजिक कुशलता के लिये'' होनी चाहिये।

शिक्षा के वैयक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्यों का समन्वय आवश्यक है। इस दृष्टि से यदि हम वैयक्तिक उद्देश्य का अर्थ आत्मानुभूति तथा सामाजिक उद्देश्य का अर्थ समाज सेवा स्वीकार कर लें तो दोनों उद्देश्यों में समन्वय सरलतापूर्वक स्थापित हो सकता है। दोनों उद्देश्यों के व्यापक रूपों के समन्वय से शिक्षा की ऐसी योजना बनाई जा सकती है जिसके द्वारा दोनों बातें सम्भव हो सकें (1) बालक के व्यक्तित्व का विकास तथा (2) सामाजिक उन्नति। रॉस भी सहमत है – ''वास्तव में जीवन और शिक्षा के उद्देश्यों के रूप में आत्म–विकास तथा समाज सेवा में कोई विरोध नही है, क्योंकि

दोनों एक ही है।"

रॉस ने स्पष्ट किया है – "जिस सामाजिक वातावरण में रहकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करता है उससे अलग होने पर उसकी वैयक्तिकता का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता तथा उसका व्यक्तित्व निरर्थक हो जाता है। आत्मबोध के बल सामाजिक सेवा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है तथा ऐसे व्यक्तियों के द्वारा ही समाज के लिये सामाजिक आदर्शों को उपस्थित किया जा सकता है जिनके व्यक्तित्व का समुचित विकास हो गया हो। वह चक्र तोड़ा नहीं जा सकता।"

प्रो. टी. पी. नन के अनुसार व्यक्ति समाज का ऋणी है। उसके में समाज सदा से सहायक रहा है तथा भविष्य में रहेगा। नन ने लिखा है – "व्यक्तित्व का विकास सामाजिक वातावरण में ही होता है। जहाँ कि सामाजिक रूचियों और क्रियाओं को उसे भोजन मिलता है।"

संक्षेप में कहा जा सकता है कि व्यक्ति और समाज अभिन्न अंग है उन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है। व्यक्तियों से ही समाज बनता है। जैसा कि हम ऊपर विचार कर चुके हैं कि व्यक्ति का संर्वाग विकास भी यदि समाज के लिये उपयोगी नही है तो ऐसे मूल्य निरर्थक है। न तो वे व्यक्ति के लिये हितकर हैं और न समाज के लिये। आखिरकार व्यक्ति की प्रतिमा उसकी निजी सम्पन्नता के साथ–साथ समाज को भी सम्पन्न बनाती है इसलिये जिस प्रकार की शिक्षा और उसके उद्देश्य होंगे उसी अनुसार सामाजिक ढांचा का निर्माण भी स्वमेय होगा। शिक्षा के जो रूप अथवा उद्देश्य निर्धारित किये जावेंगे उसी अनुसार व्यक्ति का विकास और समाज उसका दर्पण होगा। इस कारण शिक्षा नीति का निर्धारण करने के लिये आवश्यक है कि उसके उद्देश्य इस प्रकार हों कि देश के नागरिक शिक्षित होकर सही मानव रूप में समाज का उच्चस्तरीय रूपान्तरण कर सके और एक उन्नतशील समाज की रचना कर सके।

शिक्षा के विभिन्न उद्देश्य एवं एक सम्मिलित उद्देश्य में समन्वय के सम्बन्ध में पं. जवाहर लाल नेहरू ने कुछ इस प्रकार से विचार व्यक्त किया है –

"शिक्षा का तात्पर्य मानव का इस प्रकार विकास करना है कि वह समाज के लिये हितकारी कार्य कर सके और समाज के सामूहिक कार्यों में भागीदार बन सके। लेकिन समाज में दिन–प्रतिदिन आये परिवर्तनों से एक मुश्किल यह भी है कि उसे किस उद्देश्य के लिये किस प्रक्रिया द्वारा तैयार किया जाये।"

"Education is supposed to develop an integrated human being and to prepare young people to perform useful functions for society and to take part in collective life. But also when that society is changeing from day to day it is difficult to know how to and what to aim at" Azad Memorial Lectures-23."

विभिन्न दार्शनिकों, समाज सुधारकों तथा शिक्षाशास्त्रियों ने व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों को निर्धारित किया है।

शिक्षा में ज्ञानार्जन उद्देश्य का प्रतिपादन सुकरात, अरस्तू, दान्ते, कमेनियन तथा बेकन आदि आदर्शवादी विद्वानों ने किया है। सामान्यतः इस उद्देश्य के दो पहलू है (1) ज्ञानार्जन अथवा विद्या के लिये विद्या (2) मानसिक विकास ज्ञानार्जन बालकों को पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही बाध्य करते रहते हैं। व्यापक अर्थ में ज्ञान का अर्थ मानसिक विकास से है। मस्तिष्क को शक्ति प्रदान करते हुये अनुशासन में रखता है। ऐसा ज्ञान उचित और अनुचित का बोध कराता है। यही कारण है कि कुछ शिक्षा–शास्त्रियों ने "विद्या के लिये विद्या" के स्थान पर "मानसिक विकास" को महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

कुछ विद्वानों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य संस्कृति का विकास एवं उन्नति होना चाहिये। संकुचित अर्थ में संस्कृति का तात्पर्य है – विशेष आदतें, रहने–सहने तथा बोलने–चलने के ढंग एवं आचार विचार। इन सब बातों की शिक्षा प्राप्त करके ही व्यक्ति का आदर होता है। इस प्रकार संस्कृति का अर्थ उस सम्पूर्ण सामाजिक सम्पत्ति (Social Heritage) से है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है।

शिक्षाशास्त्रियों के एक वर्ग ने इस बात का समर्थन किया है कि शिक्षा का

प्रमुख उद्देश्य बालक के चरित्र का विकास होना चाहिये। चरित्र का अर्थ है "आन्तरिक दृढ़ता और एकता" जर्मनी प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरवार्ट का तात्पर्य नैतिक चरित्र से है। उन्होंने लिखा है "शिक्षा के समस्त कार्यों को एक ही शब्द में प्रकट किया जा सकता है और यह शब्द है नैतिकता।" अतः शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिये कि वह मानव की प्रवृत्तियों का परिमार्जन करें जिसमें उसके आचरण नैतिक बन जाये।

हरवार्ट के अनुसार "शिक्षण का महान और अंतिम उद्देश्य सद्गुणों के विकास की धारणा में निहित है। परन्तु शिक्षा द्वारा अंतिम उद्देश्य को प्राप्त कराने से प्रथम ही बालकों में बहुमुखी रूचियों के विकास पर बल देना चाहिये।"

स्पेंसर के अनुसार "मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता और सबसे बड़ा रक्षक चरित्र है शिक्षा नहीं।" डी वी ने भी "स्कूली शिक्षा तथा अनुशासन का सार्वभूत उद्देश्य चरित्र निर्माण है।" महात्मा गाँधी ने शिक्षा के उद्देश्य पर कहा था "चरित्र का निर्माण करना मैं कुछ आदर्शों की पूर्ति के लिये साहस, शक्ति, सद्गुण तथा अपने आप को भूल जाने की योग्यता को विकसित करने का यत्न करूँगा।"

प्लेटो और अरस्तू के अनुसार सच्ची शिक्षा वही मानी जायेगी जिसके प्राप्त करने से बालकों को किसी वस्तु के प्रति शुभ आचरण करना आ जाये। प्लेटो ने नैतिक गुणों के अन्तर्गत सत्य, उच्च विचार, स्वतन्त्रता, साहस तथा न्याय का समर्थन किया है। रेमान्ट ने भी चरित्र निर्माण के उद्देश्य का समर्थन करते हुये लिखा है – "शिक्षा का अंतिम ध्येय न तो स्वस्थ शरीर का निर्माण करना है और न ज्ञान की पूर्णता और भावनाओं को शुद्ध करना है वरन चारित्रिक बल एवं शुद्धता की अभिवृद्धि करना है।"

कुछ विद्वानों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यावसायिक होना चाहिये। शिक्षा के समविकास के उद्देश्य के समर्थन में रूसो तथा पेस्टालाजी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रूसों के अनुसार "हमारे मांगों एवं शक्तियों का स्वाभाविक विकास प्रकृति की शिक्षा की रचना करता है।" पेस्टालाजी ने लिखा है "शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक सामंजस्यपूर्ण तथा प्रगतिशील विकास है।"

समाजवादियों के मतानुसार जनतन्त्र में बालक को सच्चा, ईमानदार तथा कर्मठ नागरिक बनाना परम आवश्यक है। एम. एच. हार्न ने नागरिकता के अर्थ तथा उसके महत्व पर प्रकाश डालते हुये लिखा है "नागरिकता राज्य में मानव का स्थान है। चूँकि राज्य समाज की संस्थाओं में से एक संस्था है और चूँकि मानव को अपने साथियों के साथ सदैव संगठित सम्बन्धों के साथ रहना है, इसलिये नागरिकता को शिक्षा के आदर्श के क्षेत्र से बाहर नहीं किया जा सकता।"

उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा शास्त्रियों ने जीवन को पूर्णता प्रदान करने पर बल दिया उनमें प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री हरवर्ट स्पेंसर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। स्पेंसर ने लिखा है – "शिक्षा को चाहिये कि वह हमें बताये कि शरीर के प्रति कैसा व्यवहार करें, मन के प्रति कैसा व्यवहार करें, किस प्रकार अपनी योजनाओं का प्रबन्ध करें, किस प्रकार परिवार का पालन पोषण करें, किस प्रकार एक नागरिक के रूप में व्यवहार करें, किस प्रकार सुख के उन प्रसाधनों का प्रयोग करें जो प्रकृति ने प्रदान किये हैं। किस प्रकार समस्त शक्तियों को अपने तथा दूसरों के अधिक से अधिक हित के लिये प्रयोग करें। "स्वेंसर ने लिखा है – "शिक्षा का अर्थ हमें पूर्ण जीवन के लिये तैयार करना है और किसी भी शिक्षा–पद्धति की विवेकपूर्ण आलोचना करने का केवल एक ही मार्ग है – यह देखना कि इस उद्देश्य में वह कहाँ तक सफल होती है।" शेरवुड एडिरसन के अनुसार – "व्यक्ति को जीवन की विभिन्न समस्याओं के लिये तैयार करना शिक्षा का पूर्ण उद्देश्य है अथवा होना चाहिये।" इस आशय की पुष्टि करते हुये ग्रेवज का मत है – "हरवर्ट स्पेन्सर ने विद्वानों और जीवन की नवीन योजना की सिफारिश की है जिसमें व्यक्ति सम्बन्धित मूल्यों के अनुसार सब प्रकार के लाभों को प्राप्त कर सकेगा।"

कुछ शिक्षा शास्त्रियों ने इस बात पर बल दिया है कि व्यक्ति के शरीर का विकास होना परम आवश्यक हैं। अतः उन्होंने शिक्षा में शारीरिक विकास के उद्देश्य को शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य माना है।

डा. जानसन के अनुसार "स्वास्थ्य को बनाये रखना नैतिक और धार्मिक कर्त्तव्य है क्योंकि स्वास्थ्य ही सब सामाजिक गुणों का आधार है।"

अरस्तु के अनुसार "स्वस्थ्य शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का वास होता है।"

कुछ शिक्षा शास्त्रियों ने अवकाश के समय का सदुपयोग करना ही एकमात्र उद्देश्य शिक्षा का माना है।

कुछ विद्वानों का मत है कि शिक्षा का उद्देश्य बालक में ऐसी क्षमता उत्पन्न करना है जिससे वह अपने आप अपनी परिस्थितियों अथवा वातावरण के अनुकूल बना ले। इसे अनुकूलन का उद्देश्य माना है।

व्यक्तिवादी विचारकों ने शिक्षा द्वारा आत्माभिव्यक्ति अथवा आत्म–प्रकाशन का समर्थन किया है। आत्म–प्रकाशन का अर्थ है मूल प्रवृत्तियों को स्वतन्त्र रूप से व्यक्त करने के अवसर प्राप्त करना।

कुछ विद्वानों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक का आत्मिक विकास करना है जिसमें वह समाज के माध्यम से अपने सर्वोच्च गुण की अनुभूति कर सके। आत्मानुभूति अथवा आत्मबोध का अर्थ है – प्रकृति, मानव तथा परमपिता परमात्मा को समझना। जे. एस. रास के अनुसार आत्मानुभूति में आत्मा का अर्थ वर्तमान असंतोषजनक एवं अनुशासनहीन आत्मा नहीं, अपितु भविष्य की पूर्णतः परिवर्तित आत्मा है।"

शिक्षा का तात्पर्य यह है कि वह मानव को उसके शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा का सदुपयोग करना सिखाये तथा उसे जीवन के लिये इस प्रकार से तैयार करे कि वह प्रकृति द्वारा दिये जाने वाले साधनों का उचित उपयोग करके अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुये किसी पर भार न बने तथा सच्चे नागरिक के रूप में अपने और दूसरों के अधिकतम लाभ के लिये अपनी समस्त शक्तियों का उचित ढंग से प्रयोग कर सके। यही नहीं आधुनिक युग में शिक्षा का यह भी कार्य है कि वह मानव को जातीयता, प्रांतीयता तथा राष्ट्रीयता आदि भावनाओं पर आधारित वर्ग भेदों से ऊँचा उठाकर उसमें अपने राष्ट्र तथा अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम की भावनाओं को विकसित

करने के अतिरिक्त उसमें अन्य राष्ट्रों तथा अन्य संस्कृतियों के प्रति सद्भावनायें विकसित करें जिससे वह विश्व नागरिक के रूप में विश्व के सभी समाजों में एक साथ समझदारी के साथ रह सके तथा सामान्य हित के लिये अन्य व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के गुणों का सदुपयोग कर सके।

भारत में शिक्षा के उद्देश्यों का विकास मानव सभ्यता के उदयकाल से है और तभी से भारत अपनी शिक्षा तथा दर्शन के लिये प्रसिद्ध रहा है।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है –

"India has to choose for herself a culture that derives inspiration from what is noble in our ancient culture and at the same time does not ignore the demands of society."

प्राचीन युग में भारत धर्मप्रधान देश था। फलस्वरूप उस युग में प्रत्येक क्षेत्र में धर्म की गहरी छाप थी। मध्य युग में शिक्षा का अर्थ इस्लामी शिक्षा से है। भारत का एक सर्वसत्ता, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य होने पर हमारी जनतन्त्रीय सरकार शिक्षा शास्त्रियों, दार्शनिकों तथा समाज सुधारकों ने शिक्षा को भारतीय संस्कृति पर आधारित करने तथा नये जनतांत्रिक समाज को सफल बनाने के लिये शिक्षा के उचित उद्देश्यों के निर्माण की आवश्यकता महसूस की। सरकार ने (1) विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (2) माध्यमिक शिक्षा आयोग (3) कोठारी आयोग आदि की नियुक्ति की।

इन आयोगों के सुझावों को सार रूप में अमल में लाने से शिक्षा के स्तर में सुधार लाया जा सकता है जिससे समाज व देश की प्रगति होगी।

जनतंत्र में शिक्षा का उद्देश्य क्या हो इस सम्बन्ध में अमेरिकन एजूकेशन बुलेटिन नं. 35 में कहा गया है –

"Education is a democracy should develop in, each individual the knowledge, interests, ideals habits and powers whereby he will find his place and use that place to shape both himself and society towards nobler ends."

अन्तर्राष्ट्रीय सदभावना विकसित करने में भी शिक्षा का विशेष महत्व है। डा. वाल्टर एच. सी. लेव्स के अनुसार – "अन्तर्राष्ट्रीय सदभावना इस ओर ध्यान दिये बिना

कि व्यक्ति किस राष्ट्रीयता या संस्कृति के हैं एक दूसरे के प्रति सब जगह उनके व्यवहार का आलोचनात्मक और निष्पक्ष रूप से निरीक्षण करने और आंकने की योग्यता है। ऐसा करने के लिये व्यक्ति को इस योग्य होना चाहिये कि वह सब राष्ट्रीयताओं, संस्कृतियों तथा प्रजातियों को इस भूमण्डल पर रहने वाले लोगों को समान रूप से महत्वपूर्ण विभिन्नताओं के रूप में निरीक्षण कर सके।"

रामो रोला के अनुसार – "भयंकर विनाशकारी परिणाम वालेदो विश्व–युद्धों ने कम से कम यह सिद्ध कर दिया है कि छुद्र और आक्रमणकारी राष्ट्रीयता के संकीर्ण बन्धनों को तोड़ डालना चाहिये तथा प्रेम, दया एवं सहानुभूति पर आधारित मानव सम्बन्धों का विकास करने के लिये मानव–जाति के स्वतन्त्रता संघ का निर्माण किया जाना चाहिये।"

पिछले दो महायुद्धों के बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग की भावना विकसित करके शांति स्थापित करना आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक संयुक्त राष्ट्र (United Nations Organizations) की स्थापना की गई। इस संघ में एक विशेष विभाग खोला गया जिसे यूनिस्को (Unesco) की संज्ञा दी गई। यूनिस्को का पूरा नाम संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षिक वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संस्था (United Nations Educational Scientific and cultural organizations) है। इस संस्था का उद्देश्य शिक्षा के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सदभावना विकसित करके विश्व शांति स्थापित करना है।

कुछ शिक्षा शास्त्रियों द्वारा शिक्षा में आदर्शवाद को प्रमुखता दी गई है। हार्न (Horne) के शब्दों में "आदर्शवादी शिक्षा–दर्शन व्यक्ति को वह स्वरूप प्रदान करता है जिसमें वह अपने को मानसिक विश्व का पूर्णाश समझने लगे।"

फोविल के अनुसार "शिक्षा का उद्देश्य है – "भक्तिपूर्ण पवित्र तथा कलंकरहित जीवन की प्राप्ति।"

शिक्षा के उद्देश्यों में आदर्शवाद के अतिरिक्त यथार्थवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोजनवाद

भी मुख्य है।

मिल्टन ने भावनात्मक शिक्षा का विरोध करते हुये उदार तथा पूर्ण शिक्षा का समर्थन किया। मिल्टन ने लिखा है "मैं पूर्ण और उदार शिक्षा उसे कहता हूँ जो मनुष्य को शांति एवं युद्धकाल के समस्त व्यक्तिगत एवं सामाजिक कर्तव्यों को चतुरता, औचित्य तथा उदारता से पूरा करने के योग्य बनाती है।"

मूलकास्टर के अनुसार "शिक्षा का ध्येय शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का विकास करना तथा प्रकृति को अपनी पूर्णता तक पहुँचाने में सहायता प्रदान करना है।"

यथार्थवाद के विचारक स्वामी रामतीर्थ, जे. एस. रास, बटलर, अरस्तू, डी. एस. दत्ता, बरटेन्ड रसेल (Bertrand Russel), व्हाइटहेड रस्क आदि है। जिन्होंने यथार्थवाद के विभिन्न पहलुओं पर विस्त्रत विचार रखे है।

शिक्षा में प्रकृतिवाद दर्शन के अनुसार पदार्थ ही जगत का आधार है। प्रकृतिवाद के अनुसार केवल प्रकृति ही सब कुछ है। इससे परे अथवा इसके बाद और कुछ नहीं है। अतः मानव को प्रकृति की खोज करनी चाहिये जो केवल विज्ञान द्वारा ही हो सकती है। प्रकृतिवाद के समर्थकों में अरस्तू, कान्ट, हाव्स (Hobbes), वैकन, डारविन, लेमार्क, हेक्सल, हरवर्ट रपेन्सर, वरनार्डशा, सेमुअल बटलर तथा रूसो आदि दार्शनिकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

जे. एस. रास के अनुसार "प्रकृतिवाद एक ऐसा शब्द है जिसका शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों में उन शिक्षा प्रणालियों के लिये प्रयोग किया जाता है तो स्कूलों और पुस्तकों पर आधारित होने की बजाय शिक्षार्थी के वास्तविक जीवन को क्रियात्मक रूप से प्रभावित करने का प्रयास करती है।"

शिक्षा में प्रयोजनवादियों का विश्वास है कि पहले क्रिया अथवा प्रयोग किया जाता है फिर इसके फल के अनुसार विचारों अथवा सिद्धान्तों का निर्माण होता है।

रास के अनुसार "प्रयोजनवादी शिक्षा का सबसे सामान्य उद्देश्य मूल्यों की

रचना करना है। शिक्षक का मुख्य कर्त्तव्य बालक को ऐसे वातावरण में रखना है, जिसमें रहते हुये वह नवीन मूल्यों का निर्माण करता रहे।"

विलयम जेम्स के शब्दों में – "प्रकृतिवाद के लिये वास्तविकता पूर्व निर्मित वस्तु है तथा यह आदिकाल से ही पूर्ण है किन्तु प्रयोजनवाद के लिये वास्तविकता का भी निर्माण हो रहा है तथा अपने स्वरूप का कुछ भाग भविष्य के लिये छोड़ देती है।"

रास ने कहा है कि – "प्रयोजनवाद आवश्यक रूप से एक मानवतावादी दर्शन है, जो यह जानता है कि मानव क्रिया को करते हुये अपने मूल्यों का निर्माण स्वयं करता है कि वास्तविकता अभी निर्माण की अवस्था में है तथा अपने स्वरूप का कुछ भाग भविष्य के लिये छोड़ देती है कि हमारे सत्य मानव निर्मित वस्तुयें है।"

प्रयोजनवाद विचार की अपेक्षा क्रिया तथा अनुभव पर बल देता है अतः इस वाद के अनुसार बालक को क्रिया के माध्यम से शिक्षित करना चाहिये। प्रयोजनवादियों का विश्वास है कि क्रिया करने से नये–नये विचारों का जन्म होता है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार शिक्षा सबसे महान तथा सबसे मूल्यवान गुण है। उनका कथन है – "शिक्षा के बिना मनुष्य केवल नाममात्र का मनुष्य है। शिक्षा प्राप्त करना, सदगुणों का बनना, ईर्ष्या से मुक्त होना तथा धार्मिकता का उत्पान करते हुये व्यक्तियों के कत्याव का उपदेश देना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

महात्मा गाँधी के सम्बन्ध में Dr. MS Patel ने कहा है Gandhiji her secured a unique place in the glaxy of the great teachers who have brought fresh light in the field of education."

एम. एस. पटेल ने आगे कहा है "गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का निष्पक्ष अध्ययन इस बात को सिद्ध करता है कि वे पूरब में शिक्षा–सिद्धान्त और व्यवहार के प्रारम्भिक बिन्दु है।"

गाँधी जी के अनुसार "साक्षरता न तो शिक्षा का अंत है और न प्रारम्भ यह केवल एक साधन है जिसके द्वारा पुरुष तथा स्त्री को शिक्षित किया जा सकता है।" गाँधी जी ने लिखा है – "शिक्षा से मेरा तात्पर्य है – बालक और मनुष्य के शरीर

मस्तिष्क और आत्मा में पाये जाने वाले सर्वोच्च गुणों का चहुमुखी विकास।''

गाँधी जी चाहते थे कि प्रत्येक बालक नियमित शिक्षा प्राप्त करके किसी व्यवसाय के द्वारा अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर सके।'' उन्होंने अपनी हरिजन नामक पुस्तक में लिखा ''सच्ची शिक्षा वह जिसके द्वारा बालकों के शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास को प्रोत्साहन मिले।'' गाँधी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है – ''मैंने सदैव हृदय की संस्कृति अथवा चरित्र निर्माण को प्रथम स्थान दिया है तथा चरित्र निर्माण को शिक्षा का उचित आधार माना है।''

डा. एस. एस. पटेल ने लिखा कि ''दार्शनिक के रूप में गाँधी जी की महानता इस बात में है कि उनके शिक्षा–दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, प्रयोजनवाद की मुख्य प्रवृत्तियां अलग और स्वतन्त्र नहीं है वरन वे सब मिलजुलकर एक हो गई हैं जिससे ऐसे शिक्षा दर्शन का जन्म हुआ है जो आज की आवश्यकताओं के लिये उपयुक्त होगा तथा मानव आत्मा की सर्वोच्च आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करेगा।''

गाँधी जी स्वयं एक महान शिक्षक थे। उन्होंने अपने राजनैतिक जीवन के साथ–साथ अपने सम्पर्क में लोग दक्षिण–अफ्रीका अथवा भारत में शिक्षित करने का भरपूर प्रयास किया।

रवीन्द्र नाथ टैगोर

रूसो की तरह टैगोर भी प्रकृति को बालक की शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन मानते थे। वे कहते थे कि बालक की शिक्षा प्राकृतिक होनी चाहिये। उसकी मात्रा तथा पाठन विधियों का प्राकृतिक होना बालक के लिये अत्यन्त लाभप्रद है। इस प्रकार के शैक्षिक वातावरण से बालक और प्रकृति के मध्य वास्तविक सम्पर्क स्थापित होता है जिससे बालक को प्रसन्नता तथा आनन्द का अनुभव होते हुये ज्ञान प्राप्त होता है। इस दृष्टि से टैगोर ने अपनी शैक्षिक संख्या ''शांति निकेतन'' को नगर के कोलाहल से बहुत दूर प्रकृति की गोद में खोला।

टैगोर ने स्वयं लिखा है – ''प्रकृति के पश्चात बालक को सामाजिक व्यवहार

की धारा के सम्पर्क में लाना चाहिये।"

टैगोर के सम्बन्ध में सुनील चन्द्र सरकार ने कहा है – "उन्होंने शिक्षा के उन सभी सिद्धान्तों की खोज स्वयं ही की, जिनका प्रतिपादन उन्हें आगे चलकर अपने लिये ही करना था तथा जिन्हें शांति–निकेतन में व्यावहारिक रूप देना था।" शिक्षा का अर्थ स्पष्ट करते हुये टैगोर ने स्वयं लिखा है – "सर्वोत्तम शिक्षा वह है जो हमें सूचना तथा ज्ञान ही प्रदान नहीं करती अपितु हमारे जीवन का विश्व के समस्त जीवों के साथ मेल उत्पन्न करती है।"

टैगोर के बारे में डा. एस राधाकृष्णन ने कहा है – "रवीन्द्र नाथ ने किसी मौलिक दर्शन को उत्पन्न करने का दावा कभी नहीं किया। उनका लक्ष्य भारतीय परम्परा का विश्लेषण करना अथवा उस पर चिन्तन करना नहीं था। उन्होंने इसको अपनी स्वतंत्र की सजीव शैली तथा सामान्य अलंकारिक भाषा में व्यक्त किया तथा आधुनिक जीवन में उसका औचित्य बताया।"

एच. बी. मुखर्जी के शब्दों "टैगोर वर्तमान भारत के शैक्षिक पुनरुत्थान के सबसे बड़े पैगम्बर थे। उन्होंने देश के सम्मुख शिक्षा के सर्वोच्च आदर्शों को स्थापित करने के लिये आजीवन संघर्ष किया उन्होंने अपनी शैक्षिक संस्थाओं में ऐसे शैक्षिक प्रयोग किये जिन्होंने उन्हें आदर्श का सजीव प्रतीक बना दिया।"

श्री अरविन्द घोष के अनुसार मानव में केवल शारीरिक आत्मा ही नहीं होती अपितु उसका बौद्धिक, मानसिक, बृम्ह सम्बन्धी, विशेष मस्तिष्क सम्बन्धी तथा उच्च आध्यात्मिक अस्तित्व भी होता है। सच्ची शिक्षा वह शिक्षा है जो बालक के सामने स्वतन्त्र वातावरण प्रस्तुत करे तथा उसकी रूचियों के अनुसार उसकी क्रियात्मक बौद्धिक नैतिक तथा सौन्दर्यात्मक शक्तियों को विकसित करके उसके आध्यात्मिक विकास में सहायता प्रदान करे। शिक्षा उद्देश्य के बारे में उन्होंने लिखा है – "सच्ची और वास्तविक शिक्षा वह है जो मानव की अर्न्तनिहित शक्तियों को विकसित करके उसे सफल बनाने में सहायता प्रदान करती है।"

उन्होंने लिखा है –

"Education to be true must not be a machine made fabric but a true building of living evocation of the power's of the mind and spirit of human being."

उनके अनुसार शिक्षा का प्रथम उद्देश्य बालक के शरीर का पूर्ण एवं शुद्ध विकास करना है। इस दृष्टि से बालक के शरीर का पूर्ण विकास एवं उसकी शुद्ध आध्यात्मिक विकास के लिये परम आवश्यक है।

अरविन्द स्वयं लिखते हैं –

"बालक को माता पिता अथवा शिक्षक की इच्छानुकूल ढालना अन्धविश्वास अथवा जंगलीपन है माता पिता इससे बड़ी भूल और कोई नहीं कर सकते कि वे पहले से ही इस बात की व्यवस्था करें कि उसके पुत्र में विशिष्ट गुणों, क्षमताओं तथा विचारों का विकास होगा। प्रकृति को स्वयं अपने धर्म का त्याग करने के लिये बाध्य करना उसे स्थायी हानि पहुँचाना है, उसके विकास को व्युत्कृत करना है तथा उनकी पूर्णता को दूषित करना है।"

डा. आर. एस. मणि ने ठीक लिखा है "अरविन्द का शिक्षा–दर्शन मनुष्य की समस्त शक्तियों के उत्कर्ष तथा अधिक से अधिक पूर्ण विकास के सिद्धान्त पर आधारित है। शिक्षा के क्षेत्र में उनके विचार यह सिद्ध करते हैं कि श्री अरविन्द हमारे देश के प्रमुख तथा प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्रियों में से थे।"

अरविन्द के अनुसार शिक्षक का कर्तव्य वास्तव में बालक के दिमाग में कुछ योजना नही बल्कि उसे मार्गदर्शन देना है कि कैसे वह अपनी अन्दरूनी क्षमता को विकसित करें।

स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन का आधार भी भारतीय वेदांत तथा उपनिषद ही रहे। स्वामी जी ने अपने समय की शिक्षा को निषेधात्मक बताया लोगों से कहा "आप उस व्यक्ति को शिक्षित मानते है जिसने कुछ परीक्षायें पास कर ली हो तथा जो अच्छे भाषण दे सकता है। पर वास्तविकता यह है कि जो शिक्षा जनसाधारण को जीवन–संघर्ष के लिये तैयार नहीं कर सकती, जो चरित्र निर्माण नहीं कर सकती, जो

समाज सेवा की भावना को विकसित नहीं कर सकती तथा जो शेर जैसा साहब पैदा नहीं कर सकती, ऐसी शिक्षा से क्या लाभ है।''

उन्होंने समय–समय पर भारतीयों को सचेत करते हुये कहा तुमको कार्य के प्रत्येक क्षेत्र को व्यावहारिक बनाना पड़ेगा। सम्पूर्ण देश को सिद्धान्तों के ढेरो ने विनाश कर दिया है।''

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा का अर्थ केवल उन सूचनाओं में ही नही है जो बालकों के मस्तिष्क में बलपूर्वक ठूंसी जाती है उन्होंने लिखा है – ''यदि शिक्षा का अर्थ सूचनाओं से होता तो पुस्तकालय संसार के सर्वश्रेष्ठ संत होते तथा विश्व कोष ऋषि बन जाते।'' उनके अनुसार ''शिक्षा उस सन्निहित पूर्णता का विकास है जो मनुष्य में पहले से ही विद्यमान है।''

सारांश

शिक्षा के महत्व को प्रतिष्ठित करते हुये एरिस्टोटल ने लिखा है – ''शिक्षित मनुष्य अशिक्षित मानवों से उतने ही उच्च है, जितने मृत से जीवित।'' डोयागिनीज ने अनुभव किया – ''शिक्षा के लिये एक शानदार संतुलन है वृद्धों की बड़ी सन्तोषदायी है, निर्धनों का धन और धन वालों का आभूषण है।''

प्रो. इम्बिल ने तो यहाँ तक कहा है – ''शिक्षा के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत वे समस्त प्रभाव आते है जो व्यक्ति पर उसके जन्म से मृत्यु तक की यात्रा के बीच में प्रभाव डालते हैं।''

इस प्रकार हम पाते है कि शिक्षा निश्चय ही अनेकाअर्थी शब्द है। उसका प्रयोग कब किस अर्थ में किया जा रहा है यह स्पष्ट न होने से विषय विचारण में भ्रम उत्पन्न होने लगता है इसलिये आवश्यक है कि कि उसके विभिन्न अर्थों को भी निश्चित करके प्रत्येक का आशय भलीभांति निकाला जाये।

शिक्षा के व्यापक अर्थ में रेमांट के विचारों की ध्वनि लाज के इस कथन में निहित है 'व्यापक अर्थ में सभी प्रकार का अनुभव शैश्य होता है .... इस व्यापक अर्थ

में जीवन शिक्षा है और शिक्षा जीवन। जो भी हमारी अनुभव परिधि को विस्तृत करता है, हमारी अर्न्तदृष्टि को तीव्र क्रियाकलाप को परिष्कृत और विचार एवं भावना को उद्दीप्त करता है उसी के द्वारा हमारी शिक्षा होती है।

शंकराचार्य ने कहा है सा विद्या या विमुक्तये। अर्थात विद्या (शिक्षा) वह है जो मुक्ति दिलाये।

ऋग्वेद में कहा गया है –

'शिक्षा वह है जो व्यक्ति को विनयी और आत्मविश्वासी बनाये।

उपनिषद में – 'शिक्षा वह है जिसका परिणाम मुक्ति है।'

शिक्षा के सम्बन्ध में अन्य विचार कुछ इस प्रकार हैं –

"शिक्षा मनुष्य को चरित्रवान और संसार में रहने योग्य बनाती है" – याज्ञवल्क्य "शिक्षा मनुष्य को एक सुयोग्य नागरिक बनना सिखाती है तथा उसके हृदय में जाति और प्रकृति के प्रति प्रेम उत्पन्न करती हैं" – कौटिल्य

'मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति शिक्षा है।' – विवेकानन्द

'सर्वोच्च शिक्षा वह है जो हमें केवल सूचनायें नही देती वरन हमारे जीवन और समूची दृष्टि में तादाम्य स्थपित करती है। – रवीन्द्र नाथ टैगोर

"शिक्षा से तात्पर्य बालक के और मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा में निहित सर्वोत्कृष्ट शक्तियों के सर्वांगीण प्रकटीकरण से है।" – महात्मा गाँधी

"शिक्षा को मनुष्य और समाज का निर्माण करना चाहिये।" – राधाकृष्णन

"शिक्षा का कार्य विद्यार्थी के मन को परिशुद्ध नैतिक एवं बौद्धिक मूल्यों को अनुभव करने में इस तरह सहायता करना है कि वह इन मूल्यों से प्रेरित होकर सबसे अच्छे ढंग से अपने कार्य में, और अपने जीवन में इनको प्राप्त कर सके।" – जाकिर हुसैन

इन विचारों में शिक्षा के अर्थ एवं शिक्षा के उद्देश्य दोनों ही निहित हैं। शिक्षा के वर्तमान स्वरूप पर अपनी दृष्टि डालते हुये डा. एस. राधाकृष्णन ने स्पष्ट किया है–

"भारत सहित पूरे विश्व के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा बौद्धिक कसरत मात्र रह गई है, उसका सम्बन्ध नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति से नहीं रह गया है।" उन्होंने कहा है – शिक्षा का उद्देश्य न तो राष्ट्रीय दक्षता है और न विश्व एकता, अपितु इसका उद्देश्य व्यक्ति को यह अनुभव कराना है कि इसके अन्दर प्रज्ञा से बढ़कर कुछ और है जिसे आत्मा की संज्ञा दी जा सकती है।

शिक्षा आयोग ने शिक्षा उद्देश्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है – "आधुनिकीकरण से अभिप्राय है कि विज्ञान पर आधारित तकनीकी को अपनाया जाये, परम्परागत समाज को आधुनिक समाज में बदला जाये, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन किये जाये। जो शिक्षा प्रणाली अविराम अपना नवीनीकरण नहीं करती रहती है वह पुरानी पड़ जाती है तथा उन्नति में बाधक बनती है क्योंकि वह अपने फलदायक प्रयोजनों और आदर्शों तथा विकास की नई आवश्यकताओं इन दोनों के बीच गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों दृष्टियां मंद गति उत्पन्न कर देती है। शिक्षा के उद्देश्य को ही दूसरे दृष्टिकोण से देखना होगा, अब शिक्षा को केवल ज्ञान प्रदान करने या केवल गढ़ी–गढ़ाई वस्तु उत्पन्न कर देने से सम्बन्धित नहीं माना जाता बल्कि उसे जिज्ञासा उत्पन्न करने, उचित रूचि, प्रवृत्ति और मूल्य को विकसित करने तथा स्वतन्त्र अध्ययन एवं चिंतन करने के लिये आवश्यक कौशल निर्मित करने एवं स्वयं निर्णय लेने से सम्बन्धित माना जाता है जिसके बिना लोकतांत्रिक समाज का जिम्मेदार सदस्य बनना सम्भव नही है।

भारत में विज्ञान एवं आत्मा सम्बन्धी मूल्यों को समीप तथा संगति में लाने का प्रयत्न करना चाहिये तथा अन्ततोगत्वा एक ऐसे समाज के उदय के निमित्त मार्ग प्रशस्त करना चाहिये जो सम्पूर्ण मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा न कि मानव व्यक्तित्व के किसी खण्ड विशेष का।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में – विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49), भारत का संविधान (1950), माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53), शिक्षा आयोग (1963-64),

राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (1968), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1978-79), नई शिक्षा नीति (1985) द्वारा देशकाल परिस्थिति के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किये जाते रहे है।

4. शिक्षक

व्यापक दृष्टि से जीवन के विकासक्रम में व्यक्ति मनुष्यों से ही नहीं बल्कि जन्तु तथा जड़ पदार्थों से भी शिक्षा ग्रहण करता है। इस दृष्टि से कोई भी व्यक्ति, प्राणी अथवा पदार्थ शिक्षक कहा जा सकता है। चींटी हमें अधिक परिश्रम करने की शिक्षा देती है और आपका वृक्ष पत्थर मारने वाले को फल देने की। बुद्ध, ईसा, मोहम्मद तथा गाँधी ने मानव मन को जिस प्रकार प्रभावित किया है उसी दृष्टि से उन्हें महान शिक्षक माना गया है।

बिल्ली अपने बच्चे को चूहा पकड़ना सिखाती है, चिड़िया अपने बच्चे को दानां चुनना सिखाती है, दादा जी अपने पोतों को उँगली पकड़कर धीरे–धीरे चलना सिखाते हैं। बिल्ली चिड़िया और दादा जी सभी शिक्षक है तथा बिल्ली का बच्चा, चिड़िया का बच्चा एवं पोता शिक्षार्थी है।

सीमित अर्थ में एक व्यक्ति विशेष ही शिक्षण कार्य करता है और उसे शिक्षक की संज्ञा दी जाती है। उसे एक निश्चित शिक्षण कार्य का उत्तरदायित्व दिया जाता है और उसकी नियुक्ति इसी काम के लिये होती है।

बालक की शिक्षा व्यवस्था में अध्यापक का स्थान तथा उसके कृत्य मित्र वादों के अनुसार भिन्न–भिन्न माने गये है। प्रकृतिवाद में अध्यापक को सर्वथा गौण स्थान दिया गया है। आदर्शवाद तथा प्रयोजनवाद दोनों अध्यापक को महत्व देते हैं। यद्यपि उनके दृष्टिकोण में अंतर है। प्राचीन भारतीय शिक्षक साक्षात पर–बृम्ह समझा जाता था किन्तु मध्ययुग से अध्यापक का महत्व उत्तरोत्तर कम होता चला गया। उसकी दशा गिरने लगी और गुण भी सीमित तथा क्षीण होते गये। आज का युग शिक्षा में सर्वत्र बालक का युग है। कुछ शिक्षा शास्त्रियों का कहना है कि यदि अध्यापक न हो तो शिक्षा

की प्रक्रिया चल सकती है किन्तु बालक के अभाव में शिक्षा कार्य ही रूक जायेगा। यद्यपि स्थिति इस प्रकार की है फिर भी अध्यापक का अपना स्थान तो है ही। वह बालक का पथ–प्रदर्शक है। बाल मनोविज्ञान का जानकार होने के कारण वह बालक को ठीक से समझ पाता है और उसके, उसी के अनुकूल शिक्षित करने का प्रयास करता है। इसलिये आज भी अध्यापक शिक्षा प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग है।

फ्रायवल के अनुसार विद्यालय एक सुन्दर बालक एक कोमल पौधा और अध्यापक एक सावधान माली है। एक चतुर माली की भांति अध्यापक मानव पौधे की उचित देखभाल करता है। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक युग में शिक्षक का स्थान यद्यपि कम हो गया है तथा बालक का मुख्य, फिर भी शिक्षक का उत्तरदायित्व पहले से और भी अधिक बढ़ गया है। आधुनिक समय में शिक्षक केवल बालक के वातावरण का एक महत्वपूर्ण अंग ही नही है अपितु वह सम्पूर्ण वातावरण का निर्माता भी है। शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक के कार्य है – (1) वातावरण का महत्वपूर्ण अंग होने के नाते वह अपने व्यक्तित्व प्रभाव से बालक के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है तथा (2) वातावरण का निर्माता होने के नाते उसे ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना होता है जिनमें रहते हुये बालक उन क्रियाशीलनों (Skills) तथा अनुभवों का ज्ञान प्राप्त कर सके जिनके द्वारा उसकी समस्त आवश्यकतायें पूरी होती रहे तथा वह एक सुखी एवं सम्पन्न जीवन व्यतीत करके उस समाज के कल्याण हेतु अपना यथाशीघ्र योगदान देता रहे जिसका वह महत्वपूर्ण अंग है। इसके अतिरिक्त शिक्षा के उद्देश्यों में से एक मुख्य उद्देश्य बालक के चरित्र का निर्माण भी करना है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव विशेष महत्व रखता है। शिक्षक का चरित्र उच्चकोटि का होगा तो उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से बालक में भी चारित्रिक गुण अवश्य विकसित हो जायेंगे अन्यथा वह प्रगति नहीं कर पायेगा। इस दृष्टि से शिक्षक को चरित्रवान प्रसन्नचित्त तथा धैर्यशील होना परम आवश्यक है। यही नहीं शिक्षक को अपने विषयकापूर्ण तथा अन्य विषयों का सामान्य ज्ञान भी होना आवश्यक है। इससे उसे अपने कार्य में सफलता

मिलेगी और कक्षा में अनुशासन भी बना रहेगा। वर्तमान युग में शिक्षक के लिये सच्चरित्रता तथा पांडित्य के साथ–साथ आधुनिक शिक्षा–पद्धतियों का ज्ञान होना भी परम आवश्यक है जिससे वह उचित शिक्षण–पद्धतियों के प्रयोग से बालक का अधिक से अधिक विकास कर सकें। संक्षेप में शिक्षक राष्ट्र का महत्वपूर्ण अंग भी है और निर्माता भी।

आधुनिक धारणा के अनुसार शिक्षक एक मित्र, दार्शनिक तथा पथ–प्रदर्शक समझा जाता है। उससे यह आशा की जाती है कि वह बालकों के साथ सहानुभूति पूर्ण तथा व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करके उनमें सामाजिक रूचियों तथा दृष्टिकोणों का विकास करें। इसके विपरीत प्राचीन धारणा के अनुसार शिक्षा शिक्षक–प्रधान थी। शिक्षक का स्थान एक निर्देशक अथवा तानाशाह की भांति समझा जाता था।

शिक्षक विद्यार्थी के सम्बन्धों के जैसा डॉ. जाकिर हुसैन का मत है कि दोनों एक दूसरे से निकटतम होने चाहिये। शिक्षार्थी शिक्षक के व्यक्तित्व में ईश्वर के प्रतिबिम्ब के दर्शन करें और शिक्षक विद्यार्थी को देवत्व की प्रतिपूर्ति माने। शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच भय और अधिकार के वातावरण के स्थान पर प्रेम और सेवा का वातावरण हो और हो, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता इसी प्रकार विद्यार्थी के मन में शिक्षक के प्रति विश्वास, श्रद्धा और सेवा की भावना हो, और शिक्षक विद्यार्थी की स्वतन्त्रता, निर्भीकता और प्रेम का पाठ पढ़ा उसमें स्वशाषी दृष्टिकोण विकसित कर आत्मा लोचन से उद्भुत नवमानवर्तिता की भावनाओं की अवतारणा करें।

भारत के तृतीय राष्ट्रपति डा. जाकिर हुसैन की 15 मई 1936 को आल इण्डिया रेडियो से प्रसारित वार्ता में "अच्छा अध्यापक" विषय पर बहु महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है – "अध्यापक भी इस प्रकार का सामाजिक मनुष्य होता है।[1]

"अच्छे अध्यापक के लिये आवश्यक है कि वह दूसरे मनुष्यों से प्रेम रखता है। उसके मन में मनुष्य के रूप में मनुष्य से प्रेम हो। .... अध्यापक के जीवन को

1. 'अच्छा अध्यापक' विषय पर डा. जाकिर हुसैन के भाषण का अंश जो 15 मई 1936 को आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित हुआ

पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर "विद्या" नहीं लिखी रहती "प्रेम" का शीर्षक होता है। समाज जिन गुणों का इच्छुक है उनसे प्रेम होता है, इन नन्हीं–नन्हीं आत्माओं से प्रेम होता है, जो आगे चलकर इन गुणों को अपनायेंगे। इनमें जहाँ तक और जिस ढंग से इन गुणों को पूरा करने का सामान वह इसमें सहायता देता है इस काम से अपने मन में चैन और आत्मा में शांति पाता है।

अच्छे अध्यापक की सबसे प्रथम और सबसे बड़ी पहचान यही है कि उसके मन का सम्मान आप ही आप बच्चों और नवयुवकों के बनते हुये व्यक्तित्व की ओर होता है। इन ही में रहकर उसे शांति मिलती है, इसके बिना संसार में परदेशी की भांति भटकता है। वह केवल पाठशाला की कक्षा में ही अध्यापक नहीं होता बल्कि हर समय उसका मन अपने शिष्यों में अटका होता है। .... यूरोप के एक प्रसिद्ध अध्यापक पेस्टालाजी ने लिखा है – "मैं तो अपने जीवन में सदा कुछ अच्चा सा ही रहा। शायद यही बात की कि लोग हजारों रंग से मुझसे खेलते रहे।" .... यह कथन एक अच्छे अध्यापक का हो सकता है। बुद्धिमान लोग इसे मूर्खता जाने तो ठीक मूर्खता ही सही और इसे बचपन बताये तो वेशक बचपन है और जब तक अध्यापक में बचपन है वह बच्चों के भेद जानता है और उनके जीवन में लगातार सम्मलित होकर इनको बुलंदी की ओर ले जा सकता है। जिस अध्यापक में यह बचपन नहीं होता वह बच्चों के मन की बोली नहीं समझता, न उन्हें अपनी समझा सकता है।"

उन्होंने स्पष्ट किया है – "शिक्षक के कार्य का सार यह है कि यह विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के प्रति सहानुभूति तथा उनकी प्रतिभा को समझ द्वारा उनमें इन मूल्यों की प्राप्ति की चेष्टा करे।"

राष्ट्रपति पद ग्रहण करने के बाद डा. जाकिर हुसैन ने अपने प्रथम अभिनन्दन के उत्तर में कहा "मैं मामूली शिक्षक हूँ जिस पर मुझे गर्व है। आप सबसे मेरा यही अनुरोध है कि देश की तरक्की और खुशहाली के लिये पहले शिक्षा पर ध्यान दीजिये, विशेषकर बच्चों की शिक्षा पर। जिस समाज में बच्चों की अच्छी शिक्षा का प्रबन्ध नहीं

होगा, वह कभी उन्नति नहीं कर सकता। कौन जानता है कि इन्हीं बच्चों में कोई महात्मा गाँधी, जवाहर लाल, विवेकानन्द या रवीन्द्रनाथ भी हो।''

डा. राधाकृष्णन पर स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा महात्मा गाँधी का विशेष प्रभाव रहा है। उनके दर्शन में भारतीय संस्कृति के प्रति उदारभाव, धार्मिक, नैतिक तथा लोककल्याणमय विचारों का सामंजस्य तथा विश्वबन्धुत्व की भावना है। हिन्दू धर्म एवं उसकी उदारवादी मान्यताओं के प्रति उनका लगाव अभिजात्य एवं अकाटय है। उनके अनुसार शिक्षा के माध्यम से ही मनुष्यों में इस महान गरिमापूर्ण भावना को प्रादुर्भत किया जा सकता है। शिक्षा मानव विचारों की जननी है। जैसी हमारी शिक्षा होगी, तदनुकूल हमारे विचार भी बनेंगे।

एकमात्र शिक्षा के आधार पर ही इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है। शिक्षा की रूपरेखा कुछ इस प्रकार हो जिसमें हम अपनी भौतिकवादी प्रवृत्ति को छोड़कर आध्यात्मिक मनोवृत्ति की ओर अग्रसर हो और मानव मात्र को अपना हितैषी और बन्धु समझे। शिक्षक शिक्षण संस्थाओं के पाठ्यक्रम तथा वहाँ की शिक्षा प्रणाली इस लक्ष्य की पूर्ति कर सकेंगे।

डा. राधाकृष्णन नैतिकता को मनुष्य के सामाजिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास का आधार मानते है। हमारे सामाजिक बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिये नैतिकता संवर्धन की शिक्षा होना चाहिये। उनके अनुसार शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य मस्तिष्क की आंतरिक शक्तियों को विकसित, प्रशिक्षित एवं अनुशासित करने के साथ–साथ मनुष्य को स्वतन्त्रता प्रदान कर रूढ़िवादिता के अंत तथा प्रकृति के निकटता की शक्ति प्रदान करना होता है। शिक्षकों जिनमें त्यागशीलता, निःस्वार्थ, सेवाभावना तथा परमात्मा से आस्था है, उन्हें समाज को प्रगतिपथ पर अग्रसारित करने के निमित्त शिक्षा के इस उद्देश्य की पूर्ति में संलग्नशील होने की आवश्यकता है। बालकों के व्यक्तित्व एवं बहुमुखी विकास के लिये सहानुभूति, उत्तरदायित्वपूर्ण, सरल जीवन एवं कर्तव्यपरायणता आदि चारित्रिक गुण के विकास के लिये आवश्यक है कि

शिक्षण–संस्थाओं का संगठन जनतन्त्र की आधारशिला पर अवस्थित हो। जनतन्त्र मानव जीवन का प्राण है, उसके सर्वांगीण सफल विकास हेतु जनतन्त्र ही महान शक्ति है प्रमुख साधन है। सरल जीवन और उच्च विचार के आदर्श को मान्यता दी जावे। स्वामी श्रद्धानन्द और रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने किशोर तथा युवा–विद्यार्थियों का मस्तिष्क और हृदय सरल और उच्च विचार से अविभूत है इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही क्रमशः अपने कांगणी, गुरूकुल, हरिद्वार तथा विश्व भारती, शांति निकेतन की स्थापना की थी। शिक्षकों को इन मूल्यों की मान्यता और सरंक्षण प्रदान करना उनकी पठन क्रिया का मुख्य आधार एवं अंग होना चाहिये।

डा. राधाकृष्णन के अनुसार शिक्षण–संस्थाओं में शिक्षक को धार्मिक शिक्षा भी प्रदान करना चाहिये। शिक्षा के आधार पर मनुष्य की भौतिक तथा पाशविक प्रवितियों को परिशोधित किया जाय और मानवता के उच्च आदर्शों से अपना हार्दिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय। धर्म सत्य की खोज में एक तीव्र आलोक है। डॉ. साहब के अनुसार शिक्षा और धर्म का सम्बन्ध उसी प्रकार है, जिस प्रकार शरीर और आत्मा का महान दार्शनिक प्लेटो के मत से "शिक्षा द्वारा हमे शरीर और आत्मा की पूर्णता के लिये सब कुछ प्राप्त हो सकेगा।" महात्मा गांधी ने अपनी शिक्षा प्रणाली के लक्ष्य की चर्चा करते हुए स्पष्ट शब्दों में इसके शारीरिक, आध्यात्मिक और मानसिक गुणों को उपस्थित किया।

डॉ. साहब के मतानुसार विद्यार्थी समाज के शिक्षा देते समय सत्य, ईमानदारी, पवित्रता आदि गुणों का ज्ञान बिना धार्मिक पुस्तकों अथवा धार्मिक क्रियाओ के दिया गया तो यह भाव छात्रों के लिये अस्पष्ट रहेगे। सत्य भाषण, जीवन में आदर्श पालन धर्म की मर्यादा, सच्चरित्रता, आज्ञापालन तनाव और प्रेम आदि की शिक्षा देते समय हमें अपने पूर्वजों की जीवनियों का उदाहरण उपस्थित करना होगा। वसुधैव कुटुम्बकम की भावना को जाग्रत कर मनुष्य भात्र को एक दूसरे से आबद्ध करने का यह प्रथम सूत्र अन्र्राष्ट्रीयता का प्रथम सोपान विश्वशांति का यह मंगलमय प्रथम सूत्र हमे शिक्षा द्वारा

ही प्राप्त होगा। शिक्षा प्रदान करते समय शिक्षकों में इन नैतिक मूल्यों का ज्ञान तदनुसार आवश्यक है।

डॉ. राजेन्द प्रसाद का नैतिक चरित्र बहुत ऊंचा था। वे चाहते थे शिक्षकों द्वारा ऐसी शिक्षा दी जावे कि देश के विद्यार्थी चरित्रवान बने। उनका मानना था कि यदि व्यक्ति में नैतिकता है, तो वह कठिन से कठिन परिस्थितओं का भी आसानी से सामना कर सकता है। नैतिक चरित्र के लिये वे हमेशा ऋषि–मुनियों और संतो का उदाहरण देते थे। उनकी दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य केवल मानसिक विकास करना नहीं बल्कि कहीं अधिक आध्यात्मिक और नैतिक विकास करना है। गुरूकुल कांगडी विश्व विद्यालय हरिद्वार में 5 मार्च 1950 को उन्होंने कहा था –

"किसी भी शिक्षण संस्थान को पर्याप्त नहीं समझा जा सकता यदि वह अपने विद्यार्थियों को शारीरिक, मानसिक और सबसे ऊपर नैतिक विकास का अवसर उपलब्ध कराने में असफल रहती है।"

शिक्षकगण इस अनुकूल अपनी शिक्षा व्यवस्था को रूप देने की कोशिश करें हमें स्मरण रखना चाहिये कि चरित्र सबसे बड़ी सम्पत्ति होती है। एक चरित्रवान व्यक्ति जो अशिक्षित है चरित्रहीन शिक्षित व्यक्ति से बड़ा होता है। इसीलिये शिक्षा में चरित्र–निर्माण पर पूरा–पूरा और सबसे अधिक जोर दिया जाना चाहिये। चरित्र ही जीवन के उद्देश्यों को बनाता है और व्यक्ति को उसके अनुसार काम करने के लिये प्रेरित करता है।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने साहित्य, शिक्षा और संस्कृति विषय पर पृष्ठ १३५ पर कहा है कि "हमारे विश्वविद्यालयों में हमें ऐसे चरित्रवान प्राध्यापक चाहिये जो स्वार्थ को उन्नति के सामने बलिदान करने को सदा तैयार रहे और अपने तेजस्वी जीवन द्वारा विद्यार्थिओं को त्याग व देश–सेवा की स्फूर्ति प्रदान करें। प्राचीन भारत में गुरू और शिष्य का सम्बन्ध आध्यात्मिक था। आज यह सम्बन्ध व्यावसायिक व आर्थिक बन गया है। हमें फिर से यह आत्मिक सम्बन्ध कायम करना है ताकि नवयुवकों को में चरित्र बल

उत्पन्न हो सके और आजाद भारत के भविष्य की पक्की नींव पड़ सकें। यह न भूलें कि चरित्र–गठन के बिना हमारे शिक्षण की इमारत रेती की नींव पर ही खड़ी रहेगी और जरा–सा तूफान आने पर वह गिरकर मिट्टी में मिल जायेगी। हमारे पूर्वजों ने इस बात को पहचाना था, उन्होंने कहा था कि वे लोग जो केवल विद्या की पूजा करते है, अन्धकार लोक को जाते है। वे ही लोग अमृत का पान करते है जो विद्या के साथ कल्याण–साधना को भी अपनाते है।"[1]

इस प्रकार हम निष्कर्ष पर पहुंचते है कि हमारे प्रथम तीनों राष्ट्रपतियों ने जो स्वयं अध्यापन का कार्य किये है, के अनुसार देश में श्रेष्ठ शिक्षा के लिये चरित्रवान, योग्य, अनुशासित एवं मृदुल स्वभाव के अध्यापक चाहिये जो भावी पीढ़ी को इस योग्य बना सके कि देश गौरवशाली नवयुवकों के लिये धनी हो। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने शिक्षा में भाषा का प्रमुख प्रश्न उठाया और हिन्दी भाषा को समृद्धि के लिये अनेकानेक सुझाव दिये। हिन्दी भाषा को धनी बनाने के लिये अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का समावेश यहाँ तक कि स्थानीय प्रांतीय भाषाओं के शब्दों को भी हिन्दी में स्थान मिलना चाहिये तभी हम हिन्दी को विश्व की प्रथम भाषा के रूप में देख सकेंगे। डॉ. राधाकृष्णन ने अपने आध्यात्मिक दर्शन में भारत की मूल संस्कृति को उजागर किया और शिक्षा क्षेत्र में यो कहा जाये कि जीवन के हर क्षेत्र में आध्यात्मिक ज्ञान का होना आवश्यक माना है। एक चरित्रवान धार्मिक तथा विदेशी संस्कृति से हटकर भारत विश्व में श्रेष्ठ स्थान पर स्थापित हो सकता है। उन्होंने देश की मूल संस्कृति को स्पष्ट करने के लिये वेदों उपनिषदों आदि का विसद अध्ययन कर उसका निचोड़ हमारे समक्ष प्रस्तुत किया जो हमारे देश के लिये जीवन शक्ति है। स्वयं जीवन भर अध्यापन कार्य से जुड़े रहने के कारण उनके सुझाव बहुत महत्वपूर्ण एवं देश के लिये उपयोगी है। इसी प्रकार डॉ. जाकिर हुसैन ने अपनी जीवन यात्रा शिक्षण कार्य से प्रारम्भ कर देश के उच्चतम स्थान पर पहुंचकर पूरी की। वह सदैव अपने को शिक्षक मानते रहे और शिक्षा क्षेत्र में प्रगति

1. 'साहित्य, कला और संस्कृति', डा. राजेन्द्र प्रसाद कृत, पृ. 135

के लिये जीवन भर प्रयास करते रहे। उनके प्रयास से ही जामिया मिलिया यूनीवर्सिटी स्थापित है जो विश्व में अपना एक अलग स्थान रखता है। उन्होंने स्वयं शिक्षण कार्य करते हुये बहुत कम पारितोषक प्राप्त किया और कभी अपनी महत्ता को ऊंचा उठाकर नहीं देखा। वह बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी कक्षाओं को पढ़ाने में नही हिचकते थे। उनके इस गौरवशाली चरित्र का अनुकरण आज सभी शिक्षकों को करना चाहिये। जामिया मिलिया की स्थापना और विकास के लिये उनकी भूल भावना थी कि देश का मुस्लिम वर्ग भारत की वसुधैव कुटम्बकम की संस्कृति और भावना को ग्रहण कर सके और देश की राजनैतिक और सांस्कृतिक विकास में अपना समान रूप से योगदान करे।

विद्यार्थी

रूसो ने शिक्षा में बालक का महत्व प्रतिपादित किया। इस प्रकृतिवादी दार्शनिक के "एमील" की शिक्षा उस के व्यक्तिगत गुणों पर आधारित थी और बालक को ही केन्द्र विन्दु मानकर उसका सम्पूर्ण आयोजन किया गया था। रूसो के बाद पेस्टालाजी ने बालक के मनोवैज्ञानिक अध्ययन पर विशेष बल दिया। इस मत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न होता है इसीलिये योग्यता, क्षमता, आवश्यकता रूचि आदि में व्यक्तिगत मित्रता के कारण अनेक बालकों को एक ही कक्षा में एक ही ढंग से पढ़ाना कृत्रिम एवं अप्राकृतिक होगा।

जिस प्रकार व्यक्ति को अपना भोजन स्वयं खाना और पचाना पड़ता है वैसे ही बालक को अपनी शिक्षा के लिये स्वयं प्रयत्नशील होना आवश्यक है।

शिक्षा में शिक्षार्थी एक सत्य है उसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता। बालक की वैयक्तिकता का विकास तो शिक्षा द्वारा ही होना है। किन्तु उस विकास का उद्देश्य क्या हो किसके जिम्मे यह विकास किया जाये किस दशा में किया जाय। यह आवश्यक प्रश्न है।

आदर्श वादियों के अनुसार घात्र में अन्तरात्मा की शक्ति होती है। शिक्षा इस शक्ति का विकास करती है और उसे सत्य शिव और सुंदर की प्राप्ति की ओर अग्रसर

करती है।

प्रकृतिवादियों के मतानुसार शिक्षार्थी की प्रकृति साधु होती है। अतएव् उसकी इन्द्रियों और प्रवित्तियों का दमन नहीं करना चाहिये। उसकी प्रकृति के आधार पर प्राकृतिक ढंग से शिक्षित करना चाहिये।

यथार्थवादी शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का आदर करता है। उसे देवता नहीं मनुष्य तथा सामाजिक प्राणी मानता है। बालक भावनाओं, इच्छाओं और शक्तियों से युक्त एक इकाई है। वैज्ञानिक विधियों से इनका यथोचित विकास किया जाना चाहिये।

अयोजनवादियों के अनुसार छात्र प्रयोग तथा क्रियात्मकता द्वारा स्वयं नवीन आदर्शों की खोज तथा उनकी प्रतिष्ठा करता है। छात्र आत्म शिक्षा खेल रचनात्मकता द्वारा सीखता है। उसके अनुभव की सीमा इन्द्रियानुभव से आगे जाकर सामाजिक अनुभव तक विस्तृत हो जाती है। जान डी.वी. के अनुसार शिक्षा द्वारा छात्रों में समस्या को हल करने की प्रवृत्ति का विकास किया जाना चाहिये।

शिक्षा का सर्वोत्तम तथा सबसे महत्वपूर्ण सामग्री बालक है। प्रत्येक छात्र की कुछ जन्मजात शक्तियां होती है। उसका शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक तथा सामाजिक विकास इन जन्मजात शक्तियों को ही ध्यान में रखते हुये किया जा सकता है। अतः बालक को पूर्णरूप से विकसित करने के लिये उसकी प्रकृति का ज्ञान होना परम आवश्यक है।

वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य के चरित्र निर्माण का आधार उसकी मूल–प्रवृत्तियां ही होती है। ये मूल–प्रवृत्तियां जन्म से न अच्छी होती है और न बुरी। इनकी अच्छाई अथवा बुराई इनके शोधन पर निर्भर करती है। यदि शिक्षार्थी की मूल–प्रवृत्तियों को अनियमित स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई तो वह अन्य पशुओं की भांति वर्वरतापूर्ण व्यवहार करने लगेगा। इसके विपरीत यदि उसकी मूल–प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखते हुये उचित दिशा में मोड़ दिया जाये तो बालक का व्यवहार स्वयं उसके तथा समाज के अन्य सभी व्यक्तियों के लिये प्रशंसनीय एवं लाभप्रद होगा। यदि छात्र को चरित्रवान

बनाना है तो उसकी मूल–प्रवृत्तियों को नियंत्रित करते हुये उचित दिशा में मोड़ना होगा। यह कार्य केवल अच्छी शिक्षा ही कर सकती है। छात्र में सत्य प्रेम–भक्ति त्याग तथा उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करके उसका नैतिक विकास किया जाये। हरवार्ट के अनुसार "शिक्षा के सम्पूर्ण कार्य को एक ही शब्द में प्रकट किया जा सकता है और वह शब्द है – "नैतिकता" मिल्टन के अनुसार "मैं उसको पूर्ण शिक्षा कहता हूँ जो मनुष्य को शांति तथा युद्ध के समय व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक दोनों प्रकार के सभी कार्यों को उचित रूप में करने के योग्य बनाती है।"

कुछ विद्यालयों में विद्यार्थी की अपेक्षा पाठ्यवस्तु को अधिक महत्व दिया जाता है। अतः बालक की स्वतन्त्र रूचियों अभिरूचियों तथा क्षमताओं एवं स्वतन्त्र चिन्तन का दमन करके उसके मस्तिष्क में पाठ्यवस्तु को बलपूर्वक ठूंसा जाता है। कुछ विद्यालयों के पाठ्यवस्तु की अपेक्षा बालक को अधिक महत्व दिया जाता है तथा उसके व्यक्तित्व का आदर किया जाता है। बालक को महत्व देने का तात्पर्य है कि उसकी आवश्यकताओं, रूचियों तथा क्षमताओं को ध्यान में रखते हुये उसकी जन्मजाति शक्तियों तथा योग्यताओं को स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित करना।

जिस प्रकार बालक की शिक्षा पर परिवार तथा स्कूल का गहरा प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार समुदाय भी बालक के व्यवहार में इस प्रकार से परिवर्तन करता है कि वह समूह के कार्यों में सक्रियता से भाग लेने योग्य बन जाता है। विलियम ए. ईगर ने लिखा है – "चूंकि स्वभाव से मानव सामाजिक प्राणी है, इसलिये उसने वर्षों के अनुभव से सीख लिया है कि व्यक्तित्व तथा सामूहिक क्रियाओं का विकास सर्वोत्तम रूप में समुदाय द्वारा ही किया जा सकता है।"

धार्मिक ज्ञान

इसी प्रकार शिक्षार्थी को धार्मिक ज्ञान भी देना आवश्यक है। धार्मिक शिक्षा बालक में सत्य, सदाचार, ईमानदारी तथा नम्रता एवं सहयोग आदि अनेक वांछनीय गुणों को विकसित करके चरित्र का विकास करती है। डा. राधाकृष्णन ने लिखा है

"भारतीय परम्परा के अनुसार शिक्षा केवल जीविका कमाने का ही साधन नही है और न ही यह विचारों की पाठशाला तथा नागरिकता का स्कूल है। यह मानवीय आत्माओं को सत्य की खोज तथा गुणों को विकसित करने का प्रशिक्षण है। यह दूसरा जन्म है, द्वितीय जन्म है।"

स्वतन्त्रता

शिक्षार्थी के व्यक्तित्व विकास सर्वांगीण विकास करने के लिये स्वतन्त्रता परम आवश्यक है। इसके बिना विद्यार्थी की व्यक्तिगत रूचियां, रूझानों, आवेगों तथा उसकी शारीरिक, मानसिक, नैतिक, कलात्मक एवं सौन्दर्यात्मक शक्तियों का विकास नहीं हो सकता। जब बालक को किसी नियन्त्रित वातावरण में रखकर उसे किसी क्रिया को करने के लिये बाध्य किया जाता है तो वह क्रिया उसके लिये एक कठिन कार्य बन जाती है। वह उस क्रिया को बाह्य बल के रूप से करता तो अवश्य है। परन्तु उसे उस क्रिया के करने में प्रशन्नता नहीं होती। इसके विपरीत यदि बालक को उसी इच्छानुसार किसी क्रिया को करने की स्वतन्त्रता दे दी जाये तो वह उस क्रिया को खेल समझकर प्रशन्नतापूर्वक करता है। स्वतन्त्र वातावरण में रहते हुये बालक प्रत्येक क्रिया को खेल समझकर प्रशन्नतापूर्वक करता है जिससे उसे स्वतंत्र चिंतन के अवसर मिलते है तथा उसमें पहलकदमी एवं निडरता आदि गुणों का विकास होता रहता है। यही कारण है कि रूसो ने बाह्य बल तथा बन्धन का घोर विरोध करते हुये बालक की पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थन किया।

अनुशासन

बालक के सर्वांगीण विकास के लिये जहां एक ओर स्वतन्त्रता आवश्यक है वहीं दूसरी ओर अनुशासन का महत्व भी कम नहीं है। यदि बालक को उसकी प्रकृति के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित होने के अवसर प्रदान किये जायें तो वह विकसित तो अवश्य होगा परन्तु उसमें उन गुणों का विकास नहीं होगा जो सभ्य समाज के लिये आवश्यक है। ऐसा बालक अपनी स्वार्थ–सिद्ध के लिये सामाजिक आदर्शों की अवहेलना

करता रहेगा जिससे सामाजिक जीवन अस्त–व्यस्त हो जावेगा। ऐसा अनुशासनहीन बालक मानव न बनकर दानव बन जावेगा। बालक को सच्चा मानव बनाने के लिये उन आदतों तथा गुणों का विकास करना परम आवश्यक है जिनकी सभ्य समाज को आवश्यकता है। इसका महान उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये अनुशासन परम आवश्यक है। अनुशासन के द्वारा बालक की मूल प्रवृत्तियों, इच्छाओं, आवेगों का परिमार्जन करके ऐसी आदतों तथा गुणों का विकास किया जाये। वास्तविकता यह है कि अनुशासन ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा बालक में आध्यात्मिक गुणों का विकास करके उसे इस योग्य बनाया जा सकता है कि वह सचरित्र एवं कर्मठ नागरिक के रूप में उच्च सामाजिक आदर्शों को प्राप्त करने के लिये अपने निजी स्वार्थों को त्याग दे। अनुशासन के द्वारा ही विद्यालयों में उन परिस्थितियों को उत्पन्न किया जा सकता है जिनमें रहकर विद्यार्थी सुचारू रूप से विकसित होकर एक सचरित्र नागरिक बन सकता है। प्राचीन युग में तो अनुशासन का इतना अधिक महत्व था कि इसे शिक्षा जगत में साधान नहीं अपितु साध्य ही मान लिया गया था। स्पष्ट है कि बालक के विकास के लिये स्वतन्त्रता तथा अनुशासन दोनों का विशेष महत्व है। स्वतन्त्रता तथा अनुशासन दोनों ही प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित है। स्वतन्त्रता प्रकृतिवाद पर आधारित है तथा अनुशासन आदर्शवाद पर। स्वतन्त्रता का सम्बन्ध वंशानुक्रम से है तथा अनुशासन का वातावरण से। स्वतन्त्रता बालक की वैयक्तिकता को प्रोत्साहित करती है तथा अनुशासन उसके व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने पर बल देता है। स्वतन्त्रता का समर्थन मनोविज्ञान करता है तथा अनुशासन का समाज शास्त्र। प्रकृतिवाद तथा आदर्शवाद दोनों प्राचीन महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। ऐसे ही वंशानुक्रम तथा वातावरण दोनों के महत्व से भी विमुख नहीं हुआ जा सकता है। तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्रता तथा अनुशासन दोनों जिन–जिन बातों पर आधारित है। उन सबका शिक्षा में महत्वपूर्ण योगदान है। बिना स्वतन्त्रता के अनुशासन अपूर्ण है और बिना अनुशासन के स्वतन्त्रता निरर्थक है। आवश्यकता इस बात की है कि स्वतन्त्रता तथा अनुशासन दोनों में समन्वय स्थापित

किया जाये।

व्यवस्था तथा अनुशासन पर प्रकाश डालते हुये हरवार्ट ने कहा है – "पाठ पढ़ाते समय कक्षा में शांति और व्यवस्था बनाये रखने, शिक्षक के प्रति किसी भी प्रकार का असम्मान न होने देने शासन का उत्तरदायित्व अथवा व्यवस्था है तथा विद्यार्थियों को सुसभ्य अथवा सुसंस्कृत बनाने के लिये स्वभाव पर सीधा प्रभाव डालना, प्रशिक्षण अथवा अनुशासन है।"

छात्रों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता के कुछ कारक हैं। बालकों में रूचि का अभाव कि उन्हें रूचि के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने के अवसर नहीं मिलते है। कुछ बालकों में मित्रों के सम्पर्क में रहते हुये बुरी आदतें पड़ जाती है। जिस कारण कक्षा में अनुशासनहीनता हो जाती है। कुछ शिक्षक कक्षों में दंड तथा भय का का प्रयोग करते है इससे बालक की स्वतन्त्रता का हनन होता है और उसका मानसिक संतुलन भंग हो जाता है। प्रायः सामूहिक शिक्षा पद्धति में बालकों की व्यक्तिगत विभिन्नता पर ध्यान नहीं दिया जाता है। कक्षा में सीमा से अधिक छात्रों का होना भी एक समस्या है जिससे शिक्षक प्रत्येक बालक के सम्पर्क में नहीं आ सकता और न शिक्षार्थी के समुचित और संतुलित विकास पर यथायोग्य ध्यान दे सकता है। यह भी एक विशेष कारण है कि छात्रों को वह सुविधा प्राप्त नहीं होती है जो वांछित है। स्कूल के कमरे, कमरा का क्षेत्रफल, शुद्ध वायु, प्रकाश, धूप, पंखे, जल तथा आवश्यकतानुसार फर्नीचर।

रेमान्ट का कथन है – "जो पाठ्यक्रम वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकताओं के लिये उपयुक्त है, उसमें निश्चित रूप से रचनात्मक विषयों के प्रति निश्चित सुझाव होना चाहिये।"

क्रो और क्रो का कथन है – "जो लोग सीखने की प्रक्रिया को निर्देशित करते है, उनका उद्देश्य यह होना चाहिये कि ज्ञानात्मक क्रियाओं की ऐसी योजना बनाये, जिसमें खेल के दृष्टिकोण को स्थान प्राप्त है।"

माध्यमिक शिक्षा आयोग के विचार से "पाठ्यक्रम में काफी विविधता तथा

लचीलापन होना चाहिये, जिससे कि वैयक्तिक विभिन्नताओं तथा वैयक्तिक आवश्यकताओं एवं रूचियों को अनुकूल किया जा सके।"

व्यायाम

बालकों के शारीरिक विकास के लिये स्कूलों में खेलकूद, स्काउटिंग, गर्ल–गाइडिंग, पी. ई. सी. तथा एन. सी. सी. एवं व्यायामशालाओं का प्रबन्ध कर रखा है। परन्तु बालक इन सभी सुविधाओं का प्रयोग करके अपना शारीरिक विकास नहीं कर पाते। इसका कारण सिनेमा, टी–स्टाल, क्लब तथा रेस्ट्रां आदि अनेक ऐसे स्थान है जहाँ बालक गन्दे और कामुक वातावरण का आनन्द लेते है।

व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास धर्म और नैतिकता द्वारा होता है। हमारे समाज में अब धर्म तथा नैतिकता अथवा आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकता पर बल दिया जा रहा है। इस भौतिकवादी दृष्टिकोण के विकसित हो जाने से अब भारतीय समाज में चारों ओर स्वार्थपरता, प्रतिद्वन्दिता तथा भ्रष्टाचार का साम्राज्य दिखाई पड़ता है। ऐसे वातावरण में हम विद्यार्थियों का निर्माण करने में सफल नहीं है और इस ओर शिक्षा–जगत को विशेष ध्यान देना होगा।

सोशल फाउन्डेशन आफ एजूकेशन पृष्ठ–2 पर स्टेनले, स्मिथ, वेन तथा ऐन्डर्सन ने विचार व्यक्त किये है – "बालकों को आधुनिक समाज के विश्लेषण करने में कोई सहायता नहीं दी जाती, जिसमें वे रहते है। उन्हें यह नहीं बताया जाता कि स्कूल एक सामाजिक संस्था है तथा इसका इस समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है जो इसका पोषण एवं नियंत्रण करता है।" इन विचारों को शिक्षा जगत में स्थापित करने के लिये विशेष प्रयत्न आवश्यक होंगे जिसमें इंगित की गई इन विसंगतियों को मेटा जा सके।

विद्यार्थी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हमारे तृतीय राष्ट्रपति डा. जाकिर हुसैन ने बहुत ही स्पष्ट लिखा है – "बच्चा भी एक व्यक्तित्व है वह कोई बेजान चीज नही, खिलौना नहीं, गुड़िया नहीं" डा. जाकिर हुसैन ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि बच्चों का अलग–अलग जीवन होता है अलग–अलग उनकी रूचि और प्रवृत्ति होती

है। यही नहीं उनकी रूचियों, गुणों एवं प्रवृत्तियों में भी विभिन्नता होती है। हमारी शिक्षा की व्यवस्था ऐसी हो जिसमें बालकों की विभिन्न प्रवृत्तियों और झुकावों का प्रस्फुटिकरण, परिमार्जन और परिपोषण हो सके। जिस प्रकार हर मन का विकास हर चीज से नहीं होता उसी प्रकार हर मन को हर मानसिक आधार नहीं पचता।

डा. साहब ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि बच्चों में जन्मजात स्वाभाविकता और विभिन्नता तो होती है, परन्तु समय और परिस्थितियों के फलस्वरूप उसमें परिवर्तन भी होता रहता है। शिक्षकों का यह कर्तव्य है कि बच्चे को जाने, समझे तथा तदनुकूल ही उनकी व्यवस्था करें।

जाकिर साहब ने शिक्षा में स्वतन्त्रता का बड़ा समर्थन किया है। बच्चों पर अधिक दबाव डालने और उन्हें एक निश्चित–निर्धारित परम्परा पर जबरदस्ती ले चलने के प्रयास का बेहद विरोध किया है। इससे बच्चों की प्रतिमा कुंठित हो जाती है और उनकी वांछित प्रगति एवं विकास सम्भव नहीं होता है। विद्यालय का अनुशासन उन्हें घंटो चुपचाप विना हिले–डुले बैठने पर मजबूर करता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट लिखा है "सच्ची शिक्षा आजादी में ही हो सकती है। लेकिन स्वतन्त्रता एक सीमा तक। अधिक स्वतन्त्रता का उन्होंने विरोध किया है। अपने एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था "शिक्षा स्वाधीनता की सड़क पर शासन की पगडंडियों से ही पहुँचती है। बच्चों की वे देखभाल नहीं छोड़ा जा सकता। उन्हें सहायता की जरूरत होती है, सहानुभूति और प्रेम की जरूरत होती है। समझने–समझाने की जरूरत होती है। सहारे की जरूरत होती है। कुछ को पंगडडियों पर हाथ पकड़कर आगे बढ़ाना होता है, कुछ को गड्ढ़ों में गिरने से रोकना होता है।"

डा. जाकिर हुसैन के बच्चों के विकास और उनकी शिक्षा–व्यवस्था के विषय पर जो भाषण उन्होंने आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से दिये थे बहुत ही उल्लेखनीय है।[1]

1. "बच्चों के विकास" विषय पर डा. जाकिर हुसैन द्वारा दिये गये भाषण का अंश जो 10 मार्च 1936 को आल इण्डिया रेडियो दिल्ली द्वारा प्रसारित किया गया।

10 मार्च 1936 को आल इण्डिया रेडियो से प्रसारित भाषण में उन्होंने कहा है – "इस नन्हीं–सी–जान का दुनिया में देवदूत की सत्ता पर पहुँचाने में इसके माँ–बाप, स्नेह–सम्बन्धी और सारे इधर–उधर फंसे हुये मानव–जगत को भी बहुत कुछ करना होता है और अक्सर इसी हिस्से में कसर हो जाती है और आदमी के सुपुर्द अपने बच्चों की शिक्षा और देखभाल का जो काम है, उसमें वह ऐसी–ऐसी असावधानियां कर बैठता हैं कि प्रायः प्रकृति का उद्देश्य पूरा ही नहीं हो पाता। .... न इनका तन दुरूस्त होता है, न मन, न उत्साह, न उमंग, न साहस, न आत्मविश्वास, डरे–डरे, सहमें–सहमें हर चीज से भय, हर चीज पर संदेह न किसी से लगाव, न किसी पर भरोसा, न काम का शौक, न दिल बहलाव का सलीका। कुछ करते भी हैं तो गुलामों की तरह–सजा के डर से या ईमान के लालच से। अपने चारों ओर की यथार्थ परिस्थितियों से पराजित, न उनका सामना करने की क्षमता, ख्याली पुलाव पकाते हैं और हवाई मंसूबा गांठते है – जिन्हें कदम–कदम पर जीवन के कटु सत्य छिन्न–भिन्न कर देते है। ये जीवन को सारहीन समझने लगते है और जीवन भी इनसे ऊब जाता है। दुनिया इनके लिये कारावास है और ये दुनिया के लिये अभिशाप होते हैं।"

8 अप्रैल 1936 को आल इण्डिया रेडियो से प्रसारित उनके भाषण का महत्वपूर्ण अंश इस विषय पर कुछ इस प्रकार है – "बच्चे के मानसिक जीवन में दो चीजों पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। एक उसमें इस अनुभव पर कि वह औरों से कम है और दूसरे इस कमी को दूर करने के लिये उसकी कोशिशों पर। इन्हीं दो चीजों से उनके मानसिक जीवन का सांचा बनता है, इन्हीं में उसे सहारे और निर्देश की जरूरत होती है और इसमें माँ–बाप से प्रायः गलतियां हो जाती है।"[1]

दिनांक 26 अप्रैल 1936 को आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित भाषण के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक है – "अच्छे अध्यापक बच्चों को स्वाभाविक इच्छाओं को मारे बिना और उन पर बेजा सख्ती किये बिना ही उनमें यह आदत डाल

1. "बच्चों के विकास" विषय पर डा. जाकिर हुसैन द्वारा दिये गये भाषण का अंश जो आल इण्डिया रेडियो द्वारा 8 अप्रैल 1936 को प्रसारित किया गया।

देते है कि हर बच्चा दूसरे के अधिकार का ध्यान रखे, उनमें यह आदत डाल देते है कि हर बच्चा दूसरे के अधिकार का ध्यान रखे। अपनी स्वार्थ–भावना को समूह और मदरसे के लिये दवाना सीखे और दूसरे के विचारों और हितों का सम्मान करे। मगर अच्छे अध्यापक कम होते है और प्रायः अनुशासन में अनुचित कठोरता ही ठीक जमती है। उन अध्यापकों में बहुत रे गरीब ऐसे होते हैं, जिनका प्रारम्भिक जीवन माँ–बाप की मार खाते और अध्यापकों की डांट सहते कटा। अब हकूमत का मौका मिला तो दिल खोलकर हुकूमत करना चाहते हैं और यदि कुछ ऐसा होता है कि ज्यों–त्यों हुकूमत का मौका बढ़ता है, यह मर्ज बढ़ता जाता है। बहुत रे ऐसे होते है कि सुस्ती और आलस्य की वजह से उत्साह और कर्मशीलता की कमी से बस यही अच्छा समझते है कि काम एक ढर्रे पर लें। कौन हर वक्त नई–नई बाते सोचे और नई–नई समस्यायें हल करें।[1]

"इन बुनियादी गलतियों के अलावा मदरसों में अध्यापकों से कुछ और गलतियां ऐसी होती है। जिनसे बच्चे के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उनमें एक बहुत ही साधारण मूल–पक्षपात और अन्याय की है। बच्चे जब अध्यापक का अनुचित पक्षपात देखते है, तो उन पर बड़ों से कहीं अधिक इसका प्रभाव पड़ता है। वे अभी प्रारम्भिक जीवन के निकट होते हैं और दुनिया के अन्याय का अनुभव होने की वजह से उन्हें अपनी सादगी में यह चीज बहुत खलती है और चूँकि अध्यापक उनके लिये बड़ों की दुनिया का प्रतिनिधि होता है इसलिये उस पर से भरोसा उठ जाता है और यों समझिये कि सब बड़ों की न्यायप्रियता की पोल उनकी नजर में खुल जाती है। बच्चे पर अध्यापकों के पक्षपात, अन्याय और धार्मिक कट्टरता का इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि प्रायः जीवन भर दूर नहीं होता और मदरसे के बहुत से दूसरे अच्छे प्रभाव भी इस कटु अनुभव के कारण मिट जाते है।"

"फिर दंड विधान में भी अध्यापक से ऐसी गलतियां होती है कि उचित विकास का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। दंड का अगर कोई शिक्षा और विकास सम्बन्धी

1. "बच्चों के विकास" विषय पर डा. जाकिर हुसैन द्वारा दिये गये भाषण का अंश जो आल इण्डिया रेडियो द्वारा 26 अप्रैल 1936 को प्रसारित किया गया।

महत्व है तो बस यही कि यह एक प्रायश्चित करने का उपाय है, जिससे मन की खटक दूर हो जाती है इसलिये दंड का कभी डराने–धमकाने का साधन न बनाना चाहिये। बल्कि इसे अपराध के अनुभव से मुक्त करने का साधन होना चाहिये वर्ना यह विकास की राह में बाधक होता है।"

31 मई सन 1942 को आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित डा. साहब के भाषण को कुछ अंश पर ध्यान देना आवश्यक है –(1)

"अध्यापकों से भी, जिनके मदरसे में ये बच्चे इसलिये भेजे जाते है कि समाज की दृष्टि में घर (होम) शिक्षा–विकास के कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सकता, मेरी यह प्रार्थना है कि आप भी अपने इस शुभकार्य का भौतिक सिद्धान्त उसी आदर और सम्मान की भावना से बनाये। यह सिद्धान्त यदि आपके मस्तिष्क में बैठ गया, तो शिक्षा के काम में आपका सारा रवैया बदल जायेगा। आप अपने बच्चों को भेड़ों का समूह न समझेंगे, बल्कि उसमें हर बच्चे की विशेष क्षमताओं और मुख्य आवश्यकताओं का ध्यान रखेंगे। .... अगर बच्चे का आदर और सम्मान करना आपकी दृष्टि में एक उचित सिद्धान्त होगा, तो आप अपने छात्रों की मानसिक उलझनों को समझाने की कोशिश करेंगे और हरेक के लिये उचित उपाय सोचेंगे .... छोटों के प्रति आदर भाव तो स्नेह, आर्शीवाद और मृदुता का रूप धारण कर लेता है। यह सिद्धान्त जो मैंने अभी बतलाया है, आपमें बच्चे के लिये स्नेह और सहानुभूति उत्पन्न और धैर्य की वह शक्ति प्रदान करेगा, जो स्नेह के अतिरिक्त अध्यापक की सबसे बड़ी पूंजी है। आप बच्चों के अच्छे अध्यापक यानी प्रकृति की धरोहर के सच्चे अमीन बन जायेंगे और आपके परामर्श और आपके आदर्श से बच्चों के पिता और अभिभावक के सहयोग से शिक्षा और विकास का काम सचमुच सुचारू रूप से सम्पन्न किया जा सकेगा।"

"विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुये डा. जाकिर हुसैन ने कहा था – "सारांश यह है, कि तुम्हारे सामने अपने जौहर दिखाने का अद्भुत अवसर है। मगर इस

1. 'नन्हा मदरसे चला' विषय पर डा. जाकिर हुसैन द्वारा दिये गये भाषण का अंश जो आल इण्डिया रेडियो द्वारा 31 मई 1942 को प्रसारित किया गया।

अवसर का उपयोग करने के लिये बहुत बड़े नैतिक बल की आवश्यकता है। जैसे मेमार होंगे वैसे ही इमारत होगी, और काम क्योंकि बड़ा है एक की या थोड़े से आदमियों की थोड़े दिन की मेहनत से पूरा न होगा, दूसरों से मदद लेनी होगी, और दूसरों की मदद करनी होगी। तुम्हारी पीढ़ी के सारे हिन्दुस्तानी नौजवान अगर अपना सारा जीवन इसी एक धुन में बिता दें तब कहीं यह नाव पार लगे। देखना यह है कि तुम मदद करने और मदद लेने में समर्थ होंगे या नहीं, और दूसरे मदद देने के लिये उद्यत होंगे या नहीं।"

पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये निम्न परिभाषाओं का उल्लेख किया जा सकता है –

1. कनिघंम

"कलाकार (शिक्षक) के हाथ में यह (पाठ्यक्रम) एक साधन है जिससे वह पदार्थ (शिक्षार्थी) को अपने उद्देश्य के अनुसार अपने स्टूडियो (स्कूल) में ढाल सके।"

2. मुनरो

"पाठ्यक्रम में वे सब क्रियायें सम्भावित है जिनका हम शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये स्कूल में उपयोग करते हैं।"

3. फ्रोविल

"पाठ्यक्रम को मानवजाति के सम्पूर्ण ज्ञान तथा अनुभवों का सार समझना चाहिये।"

शिक्षा एक त्रिमुखी प्रक्रिया है (1) शिक्षक (2) बालक तथा (3) पाठ्यक्रम इसके प्रमुख अंग है।

यदि पाठ्यक्रम न हो तो शिक्षक उचित रूप से शिक्षा नही दे सकेगा और न बालक ही शिक्षा को अंतिम रूप से ग्रहण कर सकेगा। इसलिये शिक्षा में पाठ्यक्रम का विशेष महत्व है।

पाठ्यक्रम के उद्देश्यों में आवश्यक है कि ऐसा पाठ्यक्रम हो जो बालक के सर्वांगीण विकास में योगदान करे। पाठ्यक्रम में मानव जाति के अनुभवों को सम्मलित कर संस्कृति तथा सभ्यता का हस्तान्तरण एवं विकास करना चाहिये। पाठ्यक्रम में बालक के चारित्रिक विकास – भिन्नता, ईमानदारी, निष्कपटता, सहयोग, सहनशीलता, सहानुभूति एवं अनुशासन आदि का सम्मलित होना आवश्यक है। पाठ्यक्रम ऐसा हो कि बालक के चिंतन मनन विवेक एवं निर्णय आदि शक्तियों का विकास करें। पाठ्यक्रम द्वारा बालक में गतिशील तथा लचीले मस्तिष्क का निर्माण तथा प्रत्येक परिस्थिति में साहसपूर्ण तथा साधनपूर्ण बनकर नवीन मूल्यों का निर्माण किया जाना चाहिये, ज्ञान तथा खोज द्वारा अन्वेषकों का सृजन करना चाहिये तथा बालक में जनतंत्रीय भावना का विकास करना चाहिये।

पाठ्यक्रम का संयोजन संगठन तथा निर्माण करते समय शिक्षा के आधार दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा वैज्ञानिक तथा उनसे सम्बन्धित सिद्धान्तों को दृष्टि में रखना आवश्यक है।

शिक्षा का दार्शनिक आधार इस बात पर बल देता है कि दर्शन साध्य है तथा शिक्षा साधन दर्शन का पाठ्यक्रम से गहरा सम्बन्ध होता है। अतः जिस देश में जैसी विचारधारा प्रभावित होती है वहाँ की शिक्षा का पाठ्यक्रम उसी अनुसार बन जाता है। हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि पाठ्यक्रम की रूपरेखा प्रचलितत दर्शन के अनुसार तैयार की जाती है। जब दर्शन में परिवर्तन होता है तो पाठ्यक्रम भी बदल जाता है।

प्रकृतिवाद केवल ज्ञान के लिये ज्ञान को शिक्षा का लक्ष्य स्वीकार नहीं करता। यह बालक की मूल प्रवृत्तियों का स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित करना चाहता है। प्रकृतिवाद के अनुसार पाठ्यक्रम की रूपरेखा व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर बालक की नैसर्गिक रूचियों, योग्यताओं, क्षमताओं तथा स्वाभाविक क्रियाओं के अनुसार तैयार की जानी चाहिये। रूसो के अनुसार पाठ्यक्रम में केवल उन्हीं विषयों को सम्मलित किया जाना चाहिये जिनसे बालक की विभिन्न अवस्थाओं की सभी आवश्यकता पूरी हो

जावे। इस दृष्टि से पाठ्यक्रम में खेलकूद, प्रकृति–निरीक्षण, स्वास्थ्य रक्षा, शरीर विज्ञान, पदार्थ–विज्ञान, भाषा तथा भूगोल एवं इतिहास को सम्मलित किया जाना चाहिये। हरवट स्पेन्सर के अनुसार मनुष्य स्वभाव से व्यक्तिवादी है। अतः उसने जीवन रक्षा को एकमात्र उद्देश्य घोषित करते हुये पाठ्यक्रम में केवल उन्हीं विषयों को स्थान दिया जिनके अध्ययन द्वारा जीवन की रक्षा हो सके। इसलिये स्पेन्सर ने पाठ्यक्रम में शरीर–विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, रसायन विज्ञान, गणित, जीव विज्ञान, गृह विज्ञान तथा मनोविज्ञान आदि वैज्ञानिक विषयों को मुख्य तथा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विषयों का गौण स्थान दिया है।

पाठ्यक्रम निर्माण के सम्बन्ध में आदर्शवाद दार्शनिक दृष्टि से विचार करता है। आदर्शवादी पाठ्यक्रम का लक्ष्य समता तथा संस्कृति को प्रतिबिम्वित करना है। प्लेटो के अनुसार पाठ्यक्रम की रचना मानव विचारों, भावों, आदर्शों तथा मूल्यों के आधार पर होनी चाहिये। रास (Ross) का मत है कि पाठ्यक्रम का निर्माण मनोविज्ञान के आधार पर होना चाहिये। नन ने मानव सभ्यता के आधार पर पाठ्यक्रम निर्माण का विचार प्रस्तुत किया कि पाठ्यक्रम के अन्तर्गत संसार के सबसे अधिक मूल्यवान तथा मानव भावों की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति करने वाले विषयों तथा क्रियाओं को ही उचित स्थान मिलना चाहिये। नन ने उक्त क्रियाओं को दो भागों (1) व्यक्ति तथा समाज के जीवन की रक्षा करने वाली तथा (2) मानव सभ्यता का निर्माण करने वाली।

प्रयोजनवादी पाठ्यक्रम प्रकृतवाद की त्रुटियों को पूरा करता है। इसके अनुसार पाठ्यक्रम का निर्माण, उपयोगिता, क्रियाशीलता तथा अभिरूचियों के सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिये। दूसरे शब्दों में पाठ्यक्रम बालकेन्द्रित होना चाहिये। इसके अनुसार न्यूनतम पाठ्यक्रम के अन्तर्गत भाषा, स्वास्थ्य विज्ञान, शारीरिक–परीक्षण, भूगोल, इतिहास, विज्ञान तथा कृषि विज्ञान एवं बालिकाओं के लिये गृह–विज्ञान आदि विषयों को उचित स्थान मिलना चाहिये। प्रयोजनवाद का आदर्श मानव–प्रगति है। प्रयोजनवाद के अनुसार पाठ्यक्रम निर्माण का दूसरा सिद्धान्त क्रियाशीलता है। प्रत्येक

बालक को शारीरिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक सभी प्रकार की अर्थपूर्ण क्रियाओं में स्वतन्त्र रूप से भाग लेने के अधिक से अधिक अवसर प्रदान करने चाहिये। डी. वी. का कथन है – ''यदि ये क्रियायें उस समुदाय की क्रियाओं का रूप ग्रहण कर लें जिसका कि स्कूल एक अंग है तो यह क्रियायें बालक में नैतिक गुणों तथा पहलकदमी एवं स्वतन्त्रता के दृष्टिकोणों का विकास करेंगी जो उसे नागरिकता का प्रशिक्षण देकर उसके आत्मानुशासन को ऊँचा उठायेगी।''

प्रयोजनवाद के अनुसार तीसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त बालक की प्राकृतिक अभिरूचियां है। जान डी. वी. के अनुसार रूचियां चार प्रकार की होती है (1) बातचीत करने की रूचि (2) खोज की रूचि (3) रचना की रूचि तथा (4) कलात्मक अभिव्यक्ति की रूचि। प्राइमरी कक्षाओं के पाठ्यक्रम की रूपरेखा बालक की उक्त चारों प्रकार की रूचियों को दृष्टि में रखते हुये तैयार करनी चाहिये। संक्षेप में पाठ्यक्रम का निर्माण बालक के जीवन की वास्तविकता के अनुसार होना चाहिये। यही वह स्थान है जहाँ पर प्रकृतिवाद का अन्तर समाप्त हो जाता है।

यथार्थवादी पुस्तकीय तथा साहित्यिक ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक तथा भौतिक–विज्ञानों को पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान देते है। यथार्थवादियों का विश्वास है कि बालकों को ऐसा ज्ञान दिया जाना चाहिये जो उनके लिये उपयोगी हो, जिसका उनके जीवन से सम्बन्ध हो तथा जो उनके भावी जीवन की यथार्थ आवश्यकताओं, समस्याओं तथा परिस्थितियों से व्यवस्थापन कर सके।

मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया कि बालक के विकास की विभिन्न अवस्थायें होती है। बालक के विकास की विभिन्न अवस्थायें तथा व्यक्तिगत विभिन्नताओं के आधार पर पाठ्यक्रम इतना लचीला होना चाहिये कि प्रत्येक स्तर पर बालक अपनी–अपनी रूचियों, आवश्यकताओं, क्षमताओं तथा योग्यताओं के अनुसार पूर्णरूपेण विकसित होता रहे। इस दृष्टि से पाठ्यक्रम में खेलों क्रियात्मक कामों तथा अनुभवों को महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिये।

सामाजिक आधार पर निर्मित पाठ्यक्रम शिक्षा के द्वारा बालक की व्यक्तिगत इच्छाओं, रूचियों तथा प्रवृत्तियों को समाज हित के लिये विकसित करता है। दूसरे शब्दों में पाठ्यक्रम की रूपरेखा समाज की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं तथा परिस्थितियों को ध्यान में रखकर तैयार की जानी चाहिये जिससे प्रत्येक बालक में सामाजिकता तथा नागरिकता के गुण विकसित हो जाये।

वैज्ञानिक आधार पर पाठ्यक्रम वैज्ञानिक विषयों को मुख्य तथा साहित्यिक विषयों को गौण स्थान देता है। वैज्ञानिक विचारधारा के विकसित होने का श्रेय हरवर्ट स्पेन्सर को जाता है उसके अनुसार व्यक्ति का विकास किसी अमुक क्षेत्र में न होकर सर्वांगीण होना चाहिये। स्पेन्सर के अनुसार पाठ्यक्रम का कोई भी विषय ऐसा नहीं ळै जिसके लिये विज्ञान की आवश्यकता नही। यहाँ तक कि कला तथा साहित्य का अध्ययन भी बिना विज्ञान के असम्भव है।

पाठ्यक्रम सम्बन्धी विभिन्न आधारों पर विचार करने के उपरान्त पाठ्यक्रम निर्माण के कुछ सिद्धान्त स्पष्ट होते हैं –

1. बाल-केन्द्रियता का सिद्धान्त

पाठ्यक्रम का निर्माण करते समय उन्हीं विषयों पर ध्यान देना चाहिये जो बालकों रूचियों, आवश्यकताओं, मनोवृत्तियों, क्षमताओं, योग्यताओं तथा बुद्धि एवं आयु आदि का संरक्षण करें।

2. रचनात्मक तथा सर्जनात्मक शक्तियों के उपयोग का सिद्धान्त

पाठ्यक्रम में ऐसे विषयों को स्थान मिलना चाहिये जो बालक का रचनात्मक तथा सर्जनात्मक शक्तियों का विकास कर सके। रेमान्ट के अनुसार – "जो पाठ्यक्रम वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकताओं के लिये उपयुक्त है उसमें निश्चित रूप से रचनात्मक विषयों के प्रति निश्चित सुझाव होना चाहिये।"

तथा भावी जीवन के लिये उपयोगी हों। जो क्रियायें तथा विषय बालक के वर्तमान तथा भावी जीवन के लिये उपयोगी नहीं है उन्हें पाठ्यक्रम में सम्मलित नहीं करना चाहिये।

8. अग्रदर्शिता का सिद्धान्त

पाठ्यक्रम में उन क्रियाओं तथा विषयों को सम्मलित किया जाना चाहिये जो क्रियायें तथा विषय बालक के वर्तमान तथा भावी जीवन में आने वाली परिस्थितियों का ज्ञान दे सके। सीखा हुआ ज्ञान ऐसा होना चाहिये जो बालक को अनुकूलन तथा आवश्यकता पड़ने पर परिस्थितियों में परिवर्तन करने योग्य बना दे।

9. विविधता तथा लचीलेपन का सिद्धान्त

बालक की रूचियां, आवश्यकतायें, योग्यतायें, क्षमतायें तथा मनोवृत्तियां एक दूसरे से भिन्न होती है। इसे दृष्टिगत में रखते हुये पाठ्यक्रम में विविधता तथा लचीलापन होना चाहिये। माध्यमिक शिक्षा आयोग का भी यही सुझाव है – "पाठ्यक्रम में काफी विविधता तथा लचीलापन होना चाहिये जिससे कि वैयक्तित्व विभिन्नताओं तथा वैयक्तित्व आवश्यकता एवं रूचियों का अनुकूलन किया जा सके।"

10. अवकाशकाल के लिये प्रशिक्षण का सिद्धान्त

अवकाशकाल का सदुपयोग करना एक समस्या है। इस दृष्टि से पाठ्यक्रम इतना व्यापक हो कि जहाँ एक ओर बालकों को काम करने की प्रेरणा दें वहाँ दूसरी ओर वह उनमें ऐसी क्षमतायें भी उत्पन्न करें कि वे अपने अवकाशकाल का सदुपयोग करना सीख जाये।

11. जीवन सम्बन्धी क्रियाओं के समावेश का सिद्धान्त

स्पेन्सर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य जीवन को पूर्णता प्रदान करना है। पाठ्यक्रम में उन सभी क्रियाओं को स्थान मिलना चाहिये जिनसे बालक का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक सभी प्रकार का समुचित विकास हो

सके।

12. सामुदायिक जीवन सम्बन्धी सिद्धान्त

पाठ्यक्रम में उन सभी सामाजिक प्रथाओं, मान्यताओं तथा समस्याओं को स्थान मिलना चाहिये जिनसे बालक सामुदायिक जीवन से परिचित हो सके। माध्यमिक शिक्षा आयोग के अनुसार – "पाठ्यक्रम सामुदायिक जीवन से सजीव तथा आंगिक रूप से सम्बन्धित होना चाहिये।"

13. जनतन्त्रीय भावना सम्बन्धी सिद्धान्त

पाठ्यक्रम के अर्न्तगत ऐसी क्रियाओं को स्थान दिया जाना चाहिये जिनके द्वारा बालकों में जनतन्त्रीय भावनाओं एवं दृष्टिकोणों का विकास हो सके।

14. सह-सम्बन्ध का सिद्धान्त

इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि पाठ्यक्रम के अन्तर्गत सम्मलित विषय पृथक–पृथक न हो अपितु उनका एक दूसरे में सह–सम्बन्ध अवश्य हो।

उपरोक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि पाठ्यक्रम विभिन्न प्रकार के होते हैं जिनमें प्रमुखता निम्न प्रकार माने जा सकते हैं –

1. विषय केन्द्रित पाठ्यक्रम

इस पाठ्यक्रम के अनुसार बालक की अपेक्षा विषयों को अधिक महत्व दिया जाता है। इस प्रकार के पाठ्यक्रम में पुस्तकों का विशेष महत्व होता है। इसलिये इस पाठ्यक्रम को "पुस्तक केन्द्रित पाठ्यक्रम" भी कहते है।

2. अनुभव केन्द्रित पाठ्यक्रम

अनुभव केन्द्रित पाठ्यक्रम विषयों की अपेक्षा अनुभवों पर आधारित होता है। यह पाठ्यक्रम मनोवैज्ञानिक है। इसी पाठ्यक्रम का बालकों की रूचियों, आवश्यकताओं तथा योग्यताओं से सम्बन्ध होता है। यह बालकों की मानसिक एवं सर्जनात्मक

योग्यताओं को विकसित करके उनमें नेतृत्व स्वानुशासन का विकास करता है।

3. कार्य केन्द्रित पाठ्यक्रम

इस पाठ्यक्रम में विभिन्न कार्यों को विशेष स्थान दिया जाता है। जान डी. वी. के मत के अनुसार कार्य केन्द्रित पाठ्यक्रम द्वारा बालक समाज उपयोगी कार्यों को करने में रूचि लेने लगेगा जिससे उसके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होना निश्चित है।

4. बाल केन्द्रित पाठ्यक्रम

इस पाठ्यक्रम में विषयों की अपेक्षा बालक को मुख्य स्थान दिया जाता है। इस प्रकार का पाठ्यक्रम बालक की विभिन्न अवस्थाओं की रूचियों, आवश्यकताओं, क्षमताओं तथा योग्यताओं के अनुसार किया जाता है। मान्टेसरी किन्डर गार्टन तथा योजना पद्धतियां बाल–केन्द्रित पाठ्यक्रम के ही उदाहरण है।

5. शिल्पकला केन्द्रित पाठ्यक्रम

इस पाठ्यक्रम में विभिन्न प्रकार की शिल्पकलाओं जैसे कताई, बुनाई, चमड़े तथा लकड़ी के काम आदि को केन्द्र मानकर दूसरे विषयों की शिक्षा दी जाती है।

6. सुसम्बद्ध पाठ्यक्रम

इस पाठ्यक्रम में विभिन्न विषयों को अलग–अलग न पढ़ाकर एक दूसरे से सम्बन्धित करके पढ़ाने की व्यवस्था होती है। बालक के समक्ष ज्ञान को विभिन्न विषयों में अलग–अलग न बांटकर सम्बन्धित रूप से प्रस्तुत किया गया है।

7. कोर पाठ्यक्रम

इसमें कुछ विषय तो अनिवार्य होते हैं तथा अधिक विषय ऐच्छिक संक्षेप में कोर पाठ्यक्रम का लक्ष्य व्यक्ति तथा समाज दोनों का अधिक से अधिक विकास करना है।

प्रचलित माध्यमिक पाठ्यक्रम

माध्यमिक पाठ्यक्रम का निर्माण ब्रिटिश कालीन शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये किया गया था। माध्यमिक शिक्षा आयोग के अनुसार हमारे प्रचलित माध्यमिक पाठ्यक्रम में कई दोष है। यह पाठ्यक्रम बालक की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं तथा क्षमताओं एवं सामाजिक आवश्यकताओं की अवहेलना करके केवल विश्वविद्यालयों की शिक्षा को दृष्टि में रखते हुये बनाया गया है। यह पुस्तकीय एवं सैद्धान्तिक ज्ञान पर ही बल देता है। इस प्रकार पुस्तकीय एवं सैद्धान्तिक ज्ञान को प्राप्त करके बालक व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने में असफल हो जाते है। इसके अन्तर्गत आवश्यकता से अधिक विषयों को स्थान दिया जाता है चाहे वे बालक के लिये उपयोगी हो 'अथवा नहीं'। न विषयों का एक दूसरे से सह–सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया गया है। माध्यमिक शिक्षा आयोग के शब्दों में "माध्यमिक शिक्षा की भांति माध्यमिक पाठ्यक्रम का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह बालकों को जीवन के लिये तैयार करने में असफल रहा है, यह वहाँ से बाहर की दुनिया का उन्हें कोई अभ्यास नहीं कराता जिसमें वे शीघ्र ही प्रवेश करने वाले हैं।" इस प्रकार का पाठ्यक्रम व्यक्तिगत विभिन्नताओं की अवहेलना करते हुये प्रत्येक बालक के लिये एक ही विषय–वस्तु प्रस्तुत करता है। यह परीक्षा केन्द्रित पाठ्यक्रम होता है, जिसका मात्र उद्देश्य बालक को परीक्षा के लिये तैयार करना है। प्रचलित पाठ्यक्रम में तकनीकी तथा व्यवसायिक शिक्षा की व्यवस्था नही है। इसमें यौन तथा नैतिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नही है। इस पाठ्यक्रम में जनतंत्रीय आदर्शों का समावेश नही है इसके द्वारा बालकों में जनतंत्रीय भावना का विकास करना असम्भव है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने पाठ्यक्रम सुधार के लिये निम्न सुझाव दिये गये है –

1. प्राईमरी स्तर के बालकों का पाठ्यक्रम बाल–केन्द्रित होना चाहिये।

2. पाठ्यक्रम को बालकों की विभिन्न रूचियों, आवश्यकता तथा प्रवृत्तियों का विकास करना चाहिये।

3. पाठ्यक्रम लचीला होना चाहिये।

4. पाठ्यक्रम को बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना चाहिये।

5. पाठ्यक्रम को अवकाश के सदुपयोग की शिक्षा देनी चाहिये।

6. पाठ्यक्रम को सामुदायिक जीवन से समायोजन करने में सहायता करनी चाहिये।

7. पाठ्यक्रम को बालकों के जीविकोपार्जन की समस्या को हल करनी चाहिये।

8. पाठ्यक्रम के विषय अलग–अलग न होकर एक दूसरे से सम्बन्धित होने चाहिये।

9. उच्चतर माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम विविध होना चाहिये। उच्चतर माध्यमिक स्तर के लिये माध्यमिक शिक्षा आयोग से निम्नलिखित पाठ्यक्रम निर्धारित किया है –

(अ) मुख्य विषय - (1) भाषा (2) सामान्य विज्ञान (3) समाज शास्त्र तथा (4) हस्तकला

(ब) ऐच्छिक विषय - मुख्य विषयों के अतिरिक्त प्रत्येक को निम्नलिखित वर्गों में से किसी एक वर्ग के अन्तर्गत तीन विषय चुनने चाहिये।

(1) मानवीय

(2) वैज्ञानिक

(3) प्राविधिक

(4) व्यावसायिक

(5) कृषि

(6) ललित कला

(7) गृह विज्ञान

पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में कोठारी आयोग

कोठारी आयोग ने लोअर प्राइमरी से लेकर हायर सेकेन्डरी स्तर की कक्षाओं के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में निम्न सुझाव प्रस्तुत किये हैं।

1. लोअर प्राइमरी स्तर

पहली से चौथी कक्षा तक के पाठ्यक्रम में भाषा, गणित, कार्य अनुभव, सर्जनात्मक क्रियायें, स्वास्थ्य शिक्षा तथा समाज–सेवा आदि विषयों को स्थान मिलना चाहिये।

2. हायर प्राइमरी स्तर

पांचवी से सातवीं कक्षा के पाठ्यक्रम में नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा दो भाषायें विज्ञान, गणित, समाज–सेवा, सामाजिक–अध्ययन, कला तथा शारीरिक शिक्षा आदि विषयों को सम्मिलित किया जाये।

3. लोअर सेकेन्डरी स्तर

आठवीं से दसवीं कक्षा तक के पाठ्यक्रम में तीन भाषायें विज्ञान, गणित, भूगोल, नागरिक शास्त्र, समाज–सेवा, कार्य–अनुभव, शारीरिक शिक्षा तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा दी जानी चाहिये।

4. हायर सेकेण्डरी स्तर

आयोग ने सुझाव दिया है कि इस स्तर के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषय सम्भावित किये जाये –

(1) **कोई दो भाषायें** - वर्तमान भारतीय भाषा तथा वर्तमान विदेशी भाषा चुनी जाये।

(2) निम्नलिखित से कोई तीन विषय लिये जाये एक अतिरिक्त भाषा इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, कला, भौतिकी,

रसायन शास्त्र, गणित, जीव विज्ञान

(3) कार्य अनुभव एवं समाज सेवा

(4) शारीरिक सेवा

(5) कला अथवा चित्रकला

(6) नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की क्रिया

शिक्षा आयोगों द्वारा दिये गये सुझावों पर दृष्टि डालने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कोठारी शिक्षा आयोग की अपेक्षा माध्यमिक अथवा मुदालियर शिक्षा आयोग के सुझाव अधिक ठोस है।

पाठयचर्चा और पाठ्यक्रम

पाठ्यचर्चा और पाठ्यक्रम में अन्तर है। पाठ्यचर्चा एक व्यापक संकल्पना है जबकि पाठ्यक्रम सीमित संकल्पना। पाठ्यचर्चा में सम्पूर्ण विद्यार्थी जीवन की चर्चा है जबकि पाठ्यक्रम में पठनीय वस्तु का एक क्रम मात्र होता है। पाठ्यचर्चा से सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास सम्भव जबकि पाठ्यक्रम में व्यक्ति के किसी एक पक्ष, अंग का ही विकास संभावित। लेकिन पाठ्यचर्चा एवं पाठ्यक्रम में कोई विशेष सीमा रेखा निर्धारित नहीं की जा सकती। व्यक्ति समाज और राष्ट्र की अपनी–अपनी आवश्यकतायें होती है और इसी परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किये जाते है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति विषयों के ज्ञान और क्रियाओं के माध्यम से होती है। पाठ्यचर्चा से पता लगता है कि क्या पढ़ना–पढ़ाना है किन क्रियाओं में भाग लेना है और इन्हीं विषयों और क्रियाओं को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाता है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग के अनुसार "यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि सर्वोत्तम शैक्षिक मत के अनुसार पाठ्यचर्चा का अभिप्राय विद्यालय में पारस्परिक विधि से पढ़ाये जाने वाले केवल शैक्षिक विषयों से नही अपितु इसमें अनुभव की वह समग्रता शामिल है जो बालक को विद्यालय में प्राप्त होता है।"

पाठ्यचर्चा का सम्बन्ध सीखने वाले से होता है, इसका सम्बन्ध सिखाने वाले से होता है। यह यह दोनों सीखने वाले और सिखाने वाले को जोड़ने वाली एक कड़ी है। पाठ्यक्रम (पठनीय वस्तु) का एक क्रम अथवा सिलसिला होता है। पाठ्यक्रम को अंग्रेजी में Syllabus कहते है जिसका अर्थ कोर्स आफ स्टडी अथवा कोर्स आफ टीचिंग है। पाठ्यक्रम अध्ययन–अध्यापन का मार्ग होता है। इसके अन्तर्गत अध्ययन–अध्यापन की परिस्थितियां आयोजित की जाती है। इसे पाठ्य विवरण, पाठ्य सामग्री, अंतर्वस्तु भी कहते हैं।

पाठ्यचर्चा के निर्माण के आधारों में दर्शनिक, जीवन की शिक्षा जीवन द्वारा, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक आदि प्रमुख हैं। पाठ्यचर्चा का निर्माण मनमाने ढंग से नहीं किया जा सकता। उसके निर्धारण के समय लचीलापन का सिद्धान्त उपयोगिता, छात्र केन्द्रित, समुदाय केन्द्रित अग्रदर्शिता, क्रिया भक्ति और रचनात्मकता मानसिक स्तरानुकूलता, शैक्षिक स्तरों में सम्बद्धता, प्राचीन परम्पराओं की दशा एवं नवीन स्वस्थ परम्पराओं का निर्माण, विश्राम के समय का सदुपयोग, निष्ठा, समाकलन आदि सिद्धान्तों पर ध्यान देना आवश्यक है।

राष्ट्रीय प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा की प्रस्तावना में निम्न विचार प्रकट किये गये हैं – "आज का बालक कल के भारत का निर्माता है। एक सुनियोजित एवं प्रभावपूर्ण ढंग से कार्यान्वित शैक्षिक कार्यक्रम द्वारा ही बालक अपनी आंतरिक क्षमता का प्रकाशन कर सकता है तथा राष्ट्र निर्माण में अर्थपूर्ण योग दे सकता है। प्रारम्भिक स्तरों पर शिक्षा की पाठ्यचर्चा बालक के बौद्धिक, शारीरिक और भावनात्मक विकास की दिशा में नींव सदृश्य होती है। प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा की पाठ्यचर्चा के राष्ट्रीय ढांचे का मुख्य उद्देश्य पिछले शैक्षिक सुधारों से सम्बन्धित अनुभवों पर विचार करना तथा वर्तमान समस्याओं को प्रकाश में लाना है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्चा का उद्देश्य विभिन्न संस्थाओं में दी जाने वाली शिक्षा की गुणवत्ता की असमानताओं को कम करना और

सीखने के आवश्यक फलों की प्राप्ति के लिये न्यूनतम साधनों के राष्ट्रीय मानकों को स्थापितक/क्षेत्रीय असंतुलन को मिटाना भी है। यह (राष्ट्रीय) पाठ्यचर्चा शिक्षा की राष्ट्रीय पद्धति को प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा की एक सामान्य अध्ययन योजना के माध्यम से व्यक्त करती है जिसमें लचीलापन रहता है और इस वजह से अध्यापक विद्यालय और स्थानीय शिक्षा अधिकारियों को काफी सुविधायें प्राप्त होती है। बालक के चतुर्दिक विकास के व्यापक उद्देश्य को (यह) पाठ्यचर्चा शिक्षा की राष्ट्रीय परम्पराओं भारत के संविधान में निहित गहन मूल्यों और समकालीन विषयों से ग्रहण करती है जिससे भारत की भावनात्मक एकता दृढ़ होगी और राष्ट्र भावी चुनौतियों का सामना कर सकेगा।''[1]

शिक्षा के राष्ट्रीय स्तर पर एकरूपता हेतु बहुत दिनों से विचार होता रहा है। इस संदर्भ में विभिन्न शिक्षा आयोगों, समितियों और संगोष्ठियों ने समय–समय पर अपनी संस्तुतियां भी दी है। इसकी चर्चा सर्वप्रथम (1917-19) में कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग द्वारा छिड़ चुकी थी। शिक्षा–आयोग (1964-65) ने अपनी रिपोर्ट में स्कूली और उच्च्य शिक्षा के विषय में 10+2+3 के प्रारूप का जोरदार समर्थन किया। इस आयोग की संस्तुतियां पर आधारित 10+2 को सामान्य पाठ्यचर्चा का स्वरूप तैयार किया गया जिसे 1975 में सरकार द्वारा मान्यता मिली। 1977 में नियुक्त ईश्वर भाई पटेल आयोग के अनुसार प्रथम दस वर्ष तक (कक्षा 1 से 10 तक) सभी विषय सभी विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से पढ़ाये जाने हैं। 1+2 स्तर का सम्बन्ध इण्टरमीडिएट शिक्षा से है। यह विभिन्नीकरण का स्तर है। शिक्षा की दो धाराओं – शैक्षिक और व्यावसायिक – में से छात्र जिस ओर जाना चाहेगा अपनी रूचि, योग्यता, आवश्यकता के अनुरूप जायेगा। जो विद्यार्थी आर्थिक कारणों से अथवा अन्य किसी कारण से आगे नहीं पढ़ना चाहेगा उसके लिये व्यावसायिक धारा उपयुक्त होगी। हैन्डबुक आफ सजेशन्स में कहा गया है

1. From the preface of national curriculum for primary and secondary education

"प्रत्येक सामान्य बालक को भाषा में बोलने, पढ़ने तथा लिखने की शक्ति अवश्य प्राप्त करनी चाहिये और गणित तथा नापने आदि का भी उसे ज्ञान होना चाहिये। इसी प्रकार एक ओर शारीरिक मिशन और स्वास्थ्य तथा दूसरी ओर प्रयोगात्मक शिक्षण का महत्व इतना अधिक है कि कोई भी प्रारम्भिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम से इन्हें निकालने या छोड़ देने को न कहेगा।"

शिक्षा का कार्य जीवन को परिष्कृत करना है। प्रत्येक मानवीय जीवन के उदात्त स्तर पर ले जाकर वह सामाजिक उन्नति में सहायक होती है। यदि राष्ट्र के नवीन मोड़ व नवीन दार्शनिक विचारधारा को परिपुष्ट करना हो तो वह नवीनता अपने पाठ्यक्रम में लानी चाहिये। विद्यालय नवीन पाठ्यक्रम को परिचालित करने मार्ग पर देश को ले चलने में समर्थ होते है।

भारतीय शिक्षा दर्शन की ओर ध्यान देते पर हम पाते हैं कि भारतीय दर्शन की परम्परा में प्राचीनकाल में वैदिक उपनिषदीय और बाद में गीता दर्शन ने स्थान पाया। कालान्तर कुछ दर्शन जो वैदिक नहीं थे प्रकट हुये जैसे जैन, बौद्ध एवं चावार्क दर्शन आदि। इन वैदिक एवं अवैदिक दर्शनो के बीच एक असमता थी जिसमें समय उपरान्त षड दर्शन – न्याय वैशेषिक, सांख्य योग, वेदांत, मीमांसा जिन्होंने वैदिक परम्पराओं को नये ढंग से अंगीकार करने का प्रयास किया। ये षड दर्शन भारत में अच्छी तरह स्वीकार्य किये गये। एकेश्वरवाद पर आधारित इस्लाम दर्शन भारत के बाहर का दर्शन भी इस देश में आ गया। एकत्ववाद के पोषक वेदान्ती विद्वान स्वामी शंकराचार्य हुये। इन सभी दर्शनों अर्थात चिन्तन विधाओं ने मानव की शिक्षा अर्थात अनुभव ज्ञान, कौशल एवं इससे सम्बन्धित अंशों, उद्देश्यों, पाठ्यक्रम विधियों, साधनों आदि को प्रभावित किया। आज सभी शिक्षा सम्बन्धी विविध तत्वों पर चिन्तन मनन हुआ वही शिक्षा दर्शन कहलाया।

भारतीय जीवन में शिक्षा की प्रक्रिया एक साधना थी जिसमें ज्ञान का विस्तार

व्यापकत्व, आत्मा के स्वरूप की खोज आत्मा और बृम्ह के तादात्म्य का प्रयास, जगत, जीव, शरीर, मन, आत्मा का समग्र यथार्थ पाया गया। इसमें विभिन्न भारतीय दार्शनिक विचारधारायें फैली जो आज तक अध्ययन की जा रही है। इन विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं में प्राचीन एवं मध्यकाल की चिन्तन एवं शिक्षा पद्धतियां है। इनमें पाई जाने वाली दार्शनिक विचारधारायें वैदिक, औपनिषदिक, न्याय, वैशेषिक, सांख्य मीमांसा, वेदांत, चार्वाक, जैन, बौद्ध, गीता (कर्मयोग) सम्बन्धी है।

आधुनिक काल में कुछ नई विचाराधारायें भी प्रचलित हुई जैसे गाँधीवाद, सर्वोदयवाद, साम्यवाद (अरविन्द का) आध्यात्मिक योगवाद (टैगोर का) अन्तर्राष्ट्रीयतावाद (विवेकानन्द का) मानवीय सेवावाद। इसमें कुछ नयापन है और व्यक्तिगत अनुभूति पर उपरिथत किये गये सिद्धान्त और सत्य है। फिर भी आधुनिक शिक्षा जगत में गाँधी, विनोबा, अरविन्द, टैगोर, विवेकानन्द ने महत्वपूर्ण योगदान देकर नवीन दृष्टिकोण एवं शिक्षा दर्शन दिये हैं। अब स्पष्ट है कि भारतीय शिक्षादर्शन की परिपाटी एवं परम्परा पुरानी है। आधुनिक युग में दर्शन एवं शिक्षाशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन में महाभारत का शिक्षा दर्शन, तुलसी का शिक्षा दर्शन, पुराणों का शिक्षा दर्शन प्रकट हो रहा है। देश के शिक्षा शास्त्रियों में जवाहरलाल, जाकिर हुसैन, रामेन्द्र प्रसाद, राधाकृष्णन जैसे दार्शनिक एवं मनीषियों ने शिक्षा दर्शन को प्रस्तुत किया है। शिक्षा दर्शन की परम्परा आगे बढ़ती जा रही है। अतीत को लेकर नवीन को जोड़ते हुये और उन्हीं आधारों पर पाठ्यक्रम गठित किये जा रहे हैं।

वेदों में विज्ञान की विविध सम्भावनाओं की खोज की गई है भौतिकी, गणित, आर्युविज्ञान, वनस्पति शास्त्र और रसायन शास्त्र का उल्लेख वेदों में मिलता है।

बृम्हाण्ड में विचरण करने वाले गृह–नक्षत्रों की ऋचाओं का उल्लेख वेदों में मिलता है जैसे –

एता उत्या उषसः केतुमकत पूर्व अर्धे रजसो मानुमंजते।

निष्क्रण्वाना, आयुधानीव घृष्णवः प्रति भावोंऽरुषीर्यन्ति मातरः।।

(ऋग्वेद 1/92/1)

अर्थात इस सृष्टि में सदैव सूर्य का प्रकाश भूगोल के आधे भाग को ही प्रकाशित करता है और आधे भाग में अन्धकार रहता है।

इन वेदों में अध्यापक शिष्य परम्परा की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कहा गया है – जो विद्वान दुष्टता से सभी को दूर करने वाले होते हैं। अर्थात अपने शिष्यों को प्रत्येक बुराई से बचाने वाले होते हैं। उनकी सभी प्रकार से रक्षा करने वाले होते है, विद्या और ऐश्वर्य देने वाले होते हैं और सदैव सुख तथा संतोष देने वाले होते हैं ऐसे विद्वानों की सेवा अवश्य करनी चाहिये और उनसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

'ऋग्वेद' के दशम मण्डल में 'औषधियों' के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन मिलता है। यह आयुर्वेद के अन्तर्गत आता है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद एवं पुराणों के अध्ययन से हम पाते हैं कि इनमें चतुर्दिक ज्ञान का भण्डार समाहित है। यह बात और है कि आधुनिक ज्ञान ने इन्हें विस्तारित किया है।

शिक्षालय

शिक्षालय अथवा स्कूल का एक ही आशय है। शिक्षालय हिन्दी शब्द है जबकि विदेशी शब्द स्कूल है।

स्कूल शब्द की उत्पत्ति शब्द Skhole से हुई है। प्राचीन यूनान में इन अवकाश के स्थानों को ही स्कूल कहा जाता था। उस युग में अवकाशकाल को ही 'आत्म विकास' समझा जाता था और उसका अभ्यास 'अवकाश' से नामित निश्चित स्थान पर किया जाता था।

ए. एफ. लीच ने लिखा है "वाद–विवाद या वार्ता के स्थान जहाँ एथेन्स के युवक अपने अवकाश के समय को खेलकूद व्यायाम और युद्ध के प्रशिक्षण में बिताते थे धीरे–धीरे दर्शन तथा उच्च कक्षाओं के स्कूलों में बदल गये। ऐकेडमी के सुन्दर उद्योगों में व्यतीत किये जाने वाले अवकाश के माध्यम से स्कूलों का विकास हुआ।"

जान डी वी के अनुसार "स्कूल एक ऐसा विशिष्ट वातावरण है, जहाँ बालक के वांछित विकास की दृष्टि से उसे विशिष्ट क्रियाओं तथा व्यवसायों की शिक्षा दी जाती है।" जे. एस. रास के अनुसार "स्कूल वे संस्थायें है, जिसको सभ्य मानव ने इस दृष्टि से स्थापित किया है कि समाज में सुव्यवस्थित तथा योग्य सदस्यता के लिये बालकों की तैयारी में सहायता मिले।"

जनसंख्या की वृद्धि तथा जीवन की आवश्यकताओं की बाहुल्यता के कारण शनैः शनैः संस्कृति का रूप इतना जटिल हो गया कि उसका सम्पूर्ण ज्ञान बालक को परिवार अथवा अन्य अनौपचारिक साधनों से देना कठिन हो गया। अतः एक ऐसी नियमित संस्था की आवश्यकता अनुभव की गई जो सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्पत्ति को सुरक्षित रख सके तथा उसे विकसित करके भावी पीढ़ी को हस्तांतरित कर सके।

आज संस्कृति की सुरक्षा विकास तथा इसके प्रसार करने के लिये स्कूल से अच्छा और कोई साधन नहीं है। इस दृष्टि से बालक की शिक्षा के लिये स्कूल एक महत्वपूर्ण साधन है।

आज स्कूल का महत्व इसलिये भी है कि परिवार बालक में प्रेम, दया, सहानुभूति, सहनशीलता, सहयोग, सेवा तथा अनुशासन एवं निःस्वार्थता आदि गुणों को विकसित करता है। स्कूल बालक के पारिवारिक जीवन को बाह्य जीवन से जोड़ने वाली एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

स्कूल का महत्व इसलिये भी है कि स्कूल में एक निश्चित योजना के अनुसार एक विशिष्ट वातावरण प्रस्तुत किया जाता है जो अत्यन्त सरल, शुद्ध, नियमित, सुरूचिपूर्ण तथा सामान्य एवं व्यवस्थित होता है। ऐसे वातावरण में रहते हुये बालक का शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं व्यवसायिक सभी प्रकार का विकास सम्भव है इसलिये स्कूल शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन है और स्कूल में बालक के व्यक्तित्व का सामंजस्यपूर्ण विकास होता है। स्कूल में बालकों के एक दूसरे के सांस्कृतिक गुण भी विकसित होते है और इस तरह स्कूल बहुमुखी सांस्कृतिक विकास का महत्वपूर्ण साधन है। स्कूल समाज की निरन्तरता के विकास में निरंतर योगदान करता है तथा सामुदायिक जीवन विकसित करने में सहयोग प्रदान करता है। उपयोगी शिक्षित नागरिकों का निर्माण देश के लिये शिक्षा संस्थाओं द्वारा होता है। घर की अपेक्षा स्कूल ही शिक्षा के सर्वोत्तम स्थान है। स्कूल ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा परिवार, समुदाय तथा राज्य आदि सभी क्षेत्रों में उचित सहयोग प्रदान किया जा सकता है।

स्कूल की धारणा

स्कूल के सम्बन्ध में दो प्रकार की धारणायें है। प्राचीन धारणा के अनुसार परम्परागत स्कूल तथा नई धारणा के अनुसार प्रगतिशील स्कूलों की स्थापना। परम्परागत स्कूलों में औपचारिक शिक्षा का विधान है। जब परिवार का कार्य क्षेत्र बढ़ा। तभी से इस प्रकार के स्कूल का प्रादुर्भाव हुआ। पहले धर्म और राज्य अलग–अलग संस्थायें नहीं थी इसलिये इस युग में धार्मिक श्रेष्ठजन ही शिक्षक हुआ करते थे। कालान्तर में धर्म तथा राज्य अलग–अलग संस्थायें हो गई शनैः शनैः राज्यों में जन्तन्त्रवादी दृष्टिकोण

विकसित होने लगा। परम्परागत स्कूलों का सम्पूर्ण वातावरण कृत्रिम तथा अमनोवैज्ञानिक होता है जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा के सच्चे उद्देश्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

पेस्टालॉजी ने लिखा है "हमारे अमनोवैज्ञानिक स्कूल बालकों को उनके प्राकृतिक जीवन से दूर कर देते हैं, उन्हें अनाकर्षक बातों को याद करने के लिये भेड़ों के समान हांकते है तथा घन्टों, दिनों, सप्ताहों, महीनों एवं वर्षों तक दर्दनाक जंजीरों से बांध देते हैं।"

नवीन अथवा प्रगतिशील स्कूल के सम्बन्ध में फ्रोबिल, हारवार्ट, मान्टेसरी, नन एवं टैगोर आदि शिक्षाशास्त्रियों ने इस बात पर बल दिया कि शिक्षा बालक के लिये है न कि बालक शिक्षा के लिये। उन्होंने नये–नये शैक्षिक प्रयोग किये जिससे नवीन अथवा प्रगतिशील स्कूलों का जन्म हुआ। यों कहा जा सकता है कि प्रगतिशील स्कूल का विकास परम्परागत स्कूल की विरोधी प्रवृत्ति के कारण हुआ। प्रगतिशील स्कूल में बालक के व्यक्तित्व का आदर किया जाता है, व्यावहारिक ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता है तथा शिक्षा में क्रियाशीलता के सिद्धान्त को निरूपित करता है। जिससे वांछित सामाजिक गुणों का विकास तथा बालक के सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास–मानसिक एवं शारीरिक विकास पर बल दिया जाता है। प्रगतिशील स्कूल सामुदायिक जीवन का ऐसा केन्द्र होता है जहाँ बालकों को समाज की आवश्यकताओं, माँगों तथा आदर्शों के अनुसार विकसित किया जा सके।

के. जी. सैयदेन के अनुसार "चूंकि समाज की ये माँगे सदैव बदलती रहती है, बढ़ती रहती है तथा इसमें सुधार होते रहते है इसलिये स्कूल के बाहरी जीवन के साथ सजीव सम्बन्ध बनाये रखने चाहिये।"

'टामसन' के अनुसार स्कूल के पाँच कार्य है – (1) मानसिक प्रशिक्षण (2) चारित्रिक प्रशिक्षण (3) सामुदायिक जीवन का प्रशिक्षण (4) राष्ट्रीय गौरव एवं देश प्रेम

का प्रशिक्षण (5) स्वास्थ्य एवं स्वच्छता का प्रशिक्षण हम इन कार्यों को औपचारिक तथा अनौपचारिक दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। औपचारिक कार्यों में मानसिक शक्तियों का विकास, गतिशील तथा सन्तुलित मस्तिष्क का निर्माण हुआ, संस्कृति की सुरक्षा, सुधार तथा हस्तान्तरण, व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा, मानवीय अनुभवों का पुर्नगठन तथा पुर्नरचना, नागरिकता का विकास तथा चरित्र का विकास सम्बन्धी विषयों का अध्यापन है। अनौपचारिक कार्यों में शारीरिक विकास, सामाजिक भावना का विकास तथा संवेगात्मक विकास का अध्ययन है।

भारतीय स्कूल तथा उनके दोष

एच. जी. वेल्स ने कहा है – "यदि आप जानना चाहते हैं कि हमारी पीढ़ियां की पीढ़ियां पहाड़ी नदियों के वेग की भांति विनाश की ओर क्यों बढ़ती जा रही है तो आप किसी गैर सरकारी स्कूल को ध्यान से देखिये।"

के. जी. सैयदेन का मत है कि भारतीय स्कूल में भूगोल और विज्ञान आदि औपचारिक शिक्षा दी जाती है। यहाँ बालकों के उल्लास तथा कार्यों के प्रति प्रेम का गला घोंटा जाता है। भारतीय स्कूलों का गठन ब्रिटिश शासन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये हुआ था। भारतीय स्कूल को अपने कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिये स्कूल को परिवार, समुदाय तथा राज्य आदि सभी शैक्षिक साधनों का सहयोग लेना आवश्यक है। भारतीय स्कूलों में बालक की अपेक्षा पाठ्यवस्तु पर अधिक बल दिया जाता है। अच्छे परीक्षाफल की होड़ में बालकों का सर्वांगीण विकास न होकर केवल मानसिक विकास ही हो पाता है। समानतः अधिकांश स्कूलों का वातावरण नीरस, निर्जीव होता है। सभी स्कूलों के सभी साधन – भवन, स्वच्छ वायु, प्रकाश तथा धूप आदि की कमी होती है। फर्नीचर, प्रयोगशालायें, पुस्तकालय एवं वाचनालय तथा शिक्षण सामग्री और खुले मैदानों का अभाव है। स्कूलों में स्थाई तथा कठोर पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षा दी जाती है इस प्रकार दोषपूर्ण शिक्षा पद्धतियों का प्रचलन है तथा

बालक की व्यक्तिगत विभिन्नता पर कोई ध्यान नहीं है। बालकों के चरित्र निर्माण तथा नैतिकता के विकास का अभाव है। व्यावसायिक शिक्षा पर भी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है जिससे रचनात्मक तथा सृजनात्मक क्रियाओं का विकास नहीं हो पा रहा है। मात्र पुस्तकीय ज्ञान को प्रोत्साहन दिया जाता है। स्कूलों में प्रशिक्षित शिक्षकों का भी अभाव रहता है। इस तरह भारतीय स्कूल अत्यधिक शैक्षणिक है तथा वास्तविक जीवन से अलग हैं। स्कूलों को सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिये।

इसलिये भारतीय स्कूलों को शिक्षा का प्रभावशाली साधन बनाने के लिये स्कूलों का स्वरूप शैक्षिक साधनों का अधिक से अधिक सहयोग, बालकों के व्यक्तित्व का मानसिक, शारीरिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक सर्वांगीण विकास पर विशेष ध्यान दिया जाये। इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक वातावरण हो जिससे बालक अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करें। पाठ्यक्रम लचीला होना चाहिये जिससे शिक्षक इसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सके। शिक्षण पद्धतियों के अन्तर्गत योजना डाल्टन तथा मान्टेसरी आदि शिक्षण पद्धतियों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिये। बालकों की आवश्यकताओं, रूचियों, अभिरूचियों, योग्यताओं तथा क्षमताओं के अनुसार शिक्षा वातावरण का निर्माण किया जाना चाहिये। भारतीय स्कूलों में चारित्रिक विकास के लिये बालचर–संघ, समाज सेवा समितियां तथा सहायता कोष आदि कार्यों में भाग लेने का प्रोत्साहन देना चाहिये। व्यावसायिक शिक्षा व्यवस्था, व्यवहारिक ज्ञान, रचनात्मक तथा सर्जनात्मक क्रियाओं पर बल, प्रशिक्षित शिक्षक, स्कूल सामुदायिक जीवन का केन्द्र बनें तथा सामाजिक मूल्यों का ज्ञान हो।

स्कूल तथा समुदाय के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। नागरिकों में स्वतन्त्र विकसित होने की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने का केवल एक ही भूल मन्त्र है और वह है शिक्षा जो केवल स्कूल में प्राप्त की जा सकती है। स्पष्ट है कि समुदाय की उन्नति केवल स्कूल के द्वारा ही सम्भव है। इसीलिये प्रत्येक समुदाय अपनी–अपनी राजनीतिक,

आर्थिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं एवं आदर्शों की पूर्ति के लिये स्कूलों का निर्माण करता है और स्कूल अपनी क्रियाओं एवं कार्यों के द्वारा समुदाय को जीवित रखता है।

फ्रेकलिन का मत है कि स्कूल समुदाय में दोहरे रास्ते का प्रबन्ध होता है। एक रास्तें में समुदाय की समस्यायें समाधान के लिये स्कूल में आती है तथा दूसरे रास्ते से ढूंढ़ा हुआ ज्ञान समुदाय को वापस जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्कूल तथा समुदाय दोनों अपनी–अपनी उन्नति के लिये एक दूसरे पर पूर्णतः निर्भर है। दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

भारत में स्कूल तथा समुदाय के सम्बन्धों पर दृष्टिपात करने पर हम पाते है कि वैदिक काल के स्कूल गुरूकुल के रूप में जंगलों में स्थित थे। इन गुरूकुलों में समुदाय की आवश्यकतानुसार आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा की जाती थी।

मुस्लिम काल में स्कूल राजनीति के हाथ का खिलौना बन गया। मुस्लिम शासक इस्लाम धर्म का प्रचार तथा मुस्लिम शासन को दृढ़ बनाना चाहते थे।

अंग्रेजी शासनकाल में राजनीति की कैंची ने स्कूल और समुदाय के सम्बन्ध को जड़ से काट दिया। अंग्रेज भारत स्कूल का लक्ष्य भारतीय समुदाय के विकास की अपेक्षा भारतीय बालकों को भारतीय अंग्रेज बनाना था। वर्तमान काल में चूंकि जनतन्त्र में शिक्षा विकेन्द्रित हो जाती है। इसलिये स्कूल पर समुदाय का अधिकार हो जाता है। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद से हमने जनतन्त्रीय शासन प्रणाली को अपनाया है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952-53) ने लिखा है कि "शिक्षा में सुधार करने के लिये हमें पहला कदम स्कूल और समुदाय के सम्बन्धों को फिर से जोड़ने के लिये उठाना चाहिये और इन दोनों के उस घनिष्ठ सम्बन्ध को पुनः स्थापित करना चाहिये जो औपचारिक शिक्षा के कारण टूट गया है।"

अतः स्कूल को सदैव इस बात का प्रयास करना चाहिये कि बालक तथा समुदाय दोनों संस्थाओं द्वारा प्राप्त किये हुये अनुभवों में समन्वय स्थापित होता रहे।

इसमें स्कूल समुदाय के जीवन का केन्द्र बन जायेगा। वास्तविक शिक्षा दोनों संस्थाओं द्वारा प्राप्त किये हुये अनुभवों का ही योग होती है। भारत में ऐसी ही स्कूलों की आवश्यकता है।

कोठारी आयोग का यह कथन सत्य है कि भारत के भाग्य का निर्माण इस समय उसकी कक्षाओं में हो रहा है। हमारे स्कूलों और कालेजों से निकलने वाले विद्यार्थियों की योग्यता और संख्या पर ही राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण के उस महत्वपूर्ण कार्य की सफलता निर्भर करेगी जिसका प्रमुख लक्ष्य हमारे रहन–सहन का स्तर ऊँचा उठाना है।

विद्यालय जिस समाज में उसका अस्तित्व है उसका अभिन्न अंग बनकर ही वह कार्य करता है। यह आवश्यक है कि विद्यालय और समाज का आपसी सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का हो जिसमें विद्यालय बाह्य समाज का प्रतिनिधित्व भी करे और साथ ही उसे सुधारने तथा उन्नत कराने के लिये प्रयत्नशील भी रहे। डी वी तो इसीलिये विद्यालय और समाज का इतना तादाम्य चाहते है कि दोनों एक हो जायें या दोनों एक दूसरे के पूरक बने।

विद्यालय का उत्तरदायित्व पहले से कहीं अधिक बढ़ गया है। कुछ शिक्षाविद विद्यालय के तीन प्रमुख कार्य बताते है, संस्कृति का संरक्षण एवं हस्तान्तरण, उसका निरंतर परिष्कार तथा सांस्कृतिक प्रतिरूपों का नवनिर्माण इस कथन में संस्कृति को बहुत विशद अर्थ में लिया गया है इसके लिये विद्यालय को बालक के सर्वांगीण विकास स्वास्थ्य और शारीरिक विकास, बौद्धिक एवं मानसिक विकास तथा चारित्रिक गुणों का विकास सौन्दर्यानुभूति का विकास, आध्यात्मिक उन्नति आदि प्रमुख उत्तरदायित्व हैं जो विद्यालय को समाज के लिये उपयोगी सिद्ध होते है।।

महात्मा गाँधी ने नयी तालीम की विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा–व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार किया था उन्होंने कहा था "मैं कालेज की शिक्षा में क्रांति लाऊँगा और राष्ट्रीय आवश्यकता के साथ उसका सामंजस्य स्थापित करूँगा" इस स्थिति में विनोबा

जी कहते है कि ग्राम–ग्राम में विश्वविद्यालय होना चाहिये। विनोबा जी कहते है। "जब मैं कहता हूँ कि हर गाँव में विश्वविद्यालय होना चाहिये, तब मेरा उद्देश्य यह नहीं होता कि हर गाँव में हर चीज का पूरा ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था होगी। आज अन्य विश्वविद्यालयों में भी यह कहाँ संभव है। हर विश्वविद्यालय में हर फैकल्टी यानी हर विषय के उच्च शिक्षण और शोध की व्यवस्था तो होती नहीं। दो स्थानों में अन्य व्यवस्थायें समान हो, तो भी शिक्षार्थी उस जगह जाते है जहाँ उस विषय का गुरू अधिक योग्य होता है।"

विनोबा जी के अनुसार आवश्यक जीवन–क्रम की व्यवस्था रहनी चाहिये। वह कहते है "इसका उपाय है कि घर में मदरसे विद्यालय का प्रवेश हो और दूसरी ओर मदरसे में घर का प्रवेश हो। समाजशास्त्र को चाहिये कि शालीन कुटुम्ब–निर्माण करे और शिक्षा–शास्त्र को चाहिये कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करे।"

विद्यालय ईंट गारे की इमारत नहीं हैं। विद्यालय बाजार नही है जहाँ विभिन्न योग्यताओं वाले अनिच्छुक व्यक्तियों को ज्ञान प्रदान किया जाता है। विद्यालय रेल का प्लेटफार्म नही है जहाँ विभिन्न उद्देश्यों से विभिन्न व्यक्तियों की भीड़ जमा होती है विद्यालय कठोर सुधार गृह नही हैं जहाँ किशोर अपराधियों पर कड़ी नजर रखी जाती है।

विद्यालय आध्यात्मिक संगठन है जिसका अपना स्वयं का विशिष्ट व्यक्तित्व होता है। विद्यालय गतिशील सामुदायिक केन्द्र है जो चारों ओर जीवन और शक्ति का संचार करता है। विद्यालय एक आश्चर्यजनक भवन है जिसका आधार है सद्भावना–जनता की सद्भावना, माता–पिता की सद्भावना छात्रों की सद्भावना।

एस. बालकृष्ण जोशी जान डी वी के अनुसार "विद्यालय एक सरल पवित्र एवं विस्तृत पर्यावरण है।"

जान डी वी – "विद्यालय एक ऐसा विशिष्ट वातावरण है जहाँ जीवन के

कुछ गुण तथा कुछ निश्चित प्रकार की क्रियायें एवं व्यवसाय इस उद्देश्य से सिखाये जाते है कि बालक का विकास वांछित दिशा में हो सके।''

टी. पी. नन के अनुसार ''विद्यालय के मुख्य रूप से सीखने का एक ऐसा स्थान नहीं समझना चाहिये जहाँ कुछ ज्ञान प्राप्त किया जाता है बल्कि उसे एक ऐसा स्थान समझना चाहिये जहाँ युवक विशिष्ट प्रकार की उन क्रियाओं में अनुशासित किये जाते है जो इस विस्तृत संसार में सबसे महान और सबसे अधिक महत्व वाली है।''

विद्यालय बालक के पारिवारिक जीवन और बाह्य जीवन को जोड़ने वाली कड़ी है। विद्यालय बालक की उस समय प्रतीक्षा करता है जब वह अपने माता–पिता की छत्रछाया को छोड़ता है। विद्यालय की शिक्षा पाकर वह इस योग्य बन जाता है और उसका दृष्टिकोण इतना व्यापक हो जाता है कि बाहरी समाज से अनुकूलन में उसे कोई कठिनाई नहीं होती।

टी. पी. नन के अनुसार – ''किसी राष्ट्र के विद्यालय उसके जीवन के अंग होते हैं जिनका विशेष कार्य राष्ट्र की आध्यात्मिक शक्ति को दृढ़ करना, उसके ऐतिहासिक क्रम को बनाये रखना, तथा उसके भविष्य को उज्जव बनाना है।''

निश्चित उद्देश्य की पूर्ति हेतु निश्चित पाठ्यक्रम के माध्यम से, विशेषज्ञों के शैक्षिक निर्देशन से विद्यार्थियों का सही मार्गदर्शन होता है। पढ़ने पढ़ाने के अलावा विद्यालय खेलकूद की व्यवस्था करता है, साहित्यिक–सांस्कृतिक क्रियाकलापों का आयोजन करता है।

ब्रेनफोर्ड के अनुसार ''विद्यालय को संसार का आदर्श रूप होना चाहिये (वह संसार) केवल सामान्य मामलों का संसार न हो अपितु उसमें सम्पूर्ण मानवता निहित हो, उसमें शरीर और आत्मा हो, उसमें भूत (और) वर्तमान और भविष्य हो।''

विद्यालय की विशेषताओं के सम्बन्ध में विलर्ड वालर ने अच्छे ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया है ''विद्यालय सामाजिक अन्तक्रिया का एक बन्द संगठन होता

है। विद्यालयों की एक निश्चित जनसंख्या (आबादी) होती है। उनका एक स्पष्ट राजनैतिक ढांचा होता है, विद्यालय की यह विशेषता सामाजिक अन्तक्रिया के तरीके से उत्पन्न होती है, और इस पर अनगिनत छोटी–छोटी अन्तक्रिया की प्रक्रियाओं का प्रभाव पड़ता है। वे सामाजिक सम्बन्धों को एक घने जाल का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें हम भावना उत्पन्न होती है। उनकी अपनी एक निश्चित संस्कृति होती है।''

भारतीय विद्यालयों की स्थिति बड़ी गम्भीर है। देश के लिये अच्छा है जो नई शिक्षा नीति पर हम अमल करने जा रहे है। इसमें शिक्षा जगत में क्रांतिकारी परिवर्तन होने और भारत की स्थिति सुधरने की सम्भावना है।

विद्यालय से हम सम्पूर्ण शैक्षिक मशीन का अर्थ लेते है जो किण्डर गार्टेन से प्रारम्भ होकर उच्च स्तर की विश्वविद्यालयीन शिक्षा प्रदान करती है।

घर या परिवार भी शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन है। लाल और चौधरी ने लिखा है ''यह साधन समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बनाये जाते हैं, जो शिक्षा के अतिरिक्त होते हैं। किन्तु अपना कार्य करने के साथ ही वे अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा का कार्य भी सम्पन्न करते हैं। इसलिये उन्हें शिक्षा के अनियमित साधन कहा जाता है। कुटुम्ब इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।''

पेस्टालाजी के अनुसार घर और माँ शिक्षा का वास्तविक आधार है ''घर जो प्रेम एवं स्नेह का केन्द्र बिन्दु है, शिक्षा के लिये सर्वोत्तम स्थान है और बालक के लिये प्रथम पाठशाला है। माँ बालक को जो कुछ अनायास ही सिखा देती है वह सब कुछ दूसरी परिस्थितियों में उतना सरल नहीं होता।''

घर के संकीर्ण क्षेत्र से निकलकर बालक स्कूल के क्षेत्र में प्रवेश करता है। यहाँ आने के पूर्व वह अनायास ही बहुत कुछ सीख चुका होता है। बालक के उज्जवल भविष्य के लिये इन दो भिन्न सामाजिक संस्थाओं को आगे बढ़कर एक दूसरे से सहयोग करना चाहिये।

क्रो और क्रो के अनुसार ''शिक्षकों को यह 'स्मरण' रखना आवश्यक है कि बालक की शिक्षा उसके जन्म के साथ प्रारम्भ होती है और जीवन पर्यन्त चलती रहती है। बालक के विद्यालय में प्रवेश पाते ही विद्यालय एवं घर दोनों के ही प्रभाव एक–दूसरे को प्रभावित करते है। दोनों शैक्षिक साधनों में से कोई सा भी एक दूसरे के सहयोग के अभाव में सफल नहीं हो सकता। चाहे घर के प्रभाव कितने ही शक्तिशाली क्यों न हो, तब भी बालक को इन दोनों प्रकार की शिक्षा के लाभों को प्राप्त करने के लिये अवसर प्रदान किया जाना चाहिये, जिससे वांछित फलों की प्राप्ति की जा सके।''

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी पुस्तक ''शिक्षा'' में शिक्षा के साधन के सम्बन्ध में कहा है कि ''अपने जीवन में मैने जो श्रेष्ठतम पाठ वेद है उनमें एक यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिये जितना कि उसके साध्य के विषय में। जिनसे मैंने यह बात सीखी, वे एक महापुरूष थे। यह महान् सत्य उनके जीवन में प्रत्यक्ष रूप में परिणत हुआ था। इस एक सत्य से मैं सर्वदा बड़े–बड़े पाठ सीखता आया हूँ। और मेरा यह मत है कि सब प्रकार की सफलताओं की कुंजी इस तत्त्व में है – साधनों की ओर उतना ही ध्यान देना आवश्यक है जितना साध्य की ओर।

हमारे जीवन में एक बड़ा दोष यह है कि हम आदर्श से ही इतना अधिक आकृष्ट रहते है, लक्ष्य हमारे लिये इतना अधिक आकर्षक होता है ऐसा मोहक होता है और हमारे मानस क्षितिज पर इतना विशाल बन जाता है कि बारीकियां हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती है।

लेकिन कभी असफलता मिलने पर यदि हम बारीकी से उसकी छानबीन करे तो निन्यानवे प्रतिशत यही पाएंगे कि उसका कारण था हमारा साधनों की ओर ध्यान न देना। हमें आवश्यकता है अपने साधनों को पुष्ट करने की और उन्हें पूर्ण बनाने की। यदि हमारे साधन बिल्कुल ठीक है, तो साध्य की प्राप्ति होती है। हम यह भूल जाते है

कि कारण ही कार्य का जन्मदाता है कार्य स्वतः उत्पन्न नहीं हो सकता, और जब तक कारण अभीष्ट, समुचित और सशक्त नही कार्य की उत्पत्ति नही होगी। एक बार हमने ध्येय निश्चित कर लिया और उसके साधन पक्के कर लिये कि फिर हम ध्येय को लगभग छोड़ सकते हैं, क्योंकि हम विश्वस्त कि यदि साधन पूर्ण हैं तो साध्य तो प्राप्त होगा। जब कारण विद्यमान है तो कार्य की उत्पत्ति होगी ही।"[1]

उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि शिक्षा का महत्वपूर्ण साधन शिक्षालय स्वयं में सभी प्रकार से पूर्ण हो जो बालकों का सर्वागीण विकास शारीरिक, मानसिक, सामाजिक सांस्कृतिक औद्योगिक स्तर पर कर सके और एक राष्ट्र के अच्छे नागरिकों का सृजन कर राष्ट्र को गौरवशाली छवि प्रदान कर सके।

स्वामी जी ने कहा है "सभी प्रकार की शिक्षा और अभ्यास का उद्देश्य 'मुनष्य' निर्माण ही हो। सारे प्रशिक्षणों का अंतिम ध्येय मनुष्य का विकास करना ही है।

अनुशासन

कुछ शिक्षाविद बालको को बन्धन मुक्त रखने को पक्ष में है। कुछ अन्य शिक्षा शास्त्रियों का स्वतन्त्रता से अभिप्राय है कि बालक को अपनी शक्ति क्षमता, रूचि और समान के अनुसार विकास का अवसर मिलना चाहिये। दूसरों के विकास में अवरोध उत्पन्न किये बिना प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास की पूरी स्वतन्त्रता है।

अनुशासन का सामान्य अर्थ है नियमों का पालन, पर आदेश पालन अथवा नियंत्रण में रहने को अनुशासन नहीं कहते हैं। सर टी.पी. नन के अनुसार "अनुशासन का अर्थ है भावनाओं और शक्तियों को नियंत्रण में रखना जिसमें अव्यवस्था की जगह व्यवस्था कायम रहे।" जान डी.वी. ने कहा है "अनुशासन एक शक्ति है तथा काम करने के लिये उपलब्ध साधनों का सदुपयोग है।"

अनुशासन के कई रूप है, व्यक्ति की इच्छाओं को कुचलकर उसे किसी

1. "शिक्षा" स्वामी विवेकानन्द कृत, पृ. 52

निश्चित आचरण के विवश करना दण्डात्मक अनुशासन कहलाता है। आदर्श व्यक्तित्व से किसी को प्रभावित करना और तब उससे अपेक्षित व्यवहार की आशा करना प्रभावात्यक अनुशासन का प्रतीक है। सही अनुशासन के लिये बालकों को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये। आज के शिक्षा शास्त्री स्वअनुशासन पर बल देते हैं। वास्तविक अनुशासन के लिये स्वतन्त्रता और सच्ची स्वतन्त्रता के लिये अनुशासन आवश्यक है।

फ्रायवल बालक पर किसी भी प्रकार का बाहरी दवाब डालने के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार अनुशासन आदि स्वतन्त्रता का समन्वित रूप प्रयोज्य है। स्पेन्सर का कहना है प्रत्येक बालक को अपनी क्रियाओं का परिणाम अवश्य भोगना चाहिये। रूसो के अनुसार बालकों दंड को नही देना चाहिये। यथार्थ वाद के अनुसार छात्र अनुशासित समझा जाता है जो नियमों का पालन करता है वह कठिनाइयों से घबड़ाकर भागने की जगह उनसे लड़ता और उन पर विजय पाता है। यथार्थवादियों के अनुसार परिस्थितियों से समायोजन ही अनुशासन है। प्रयोजनवादी किसी भी प्रकार के अनुशासन में विश्वास नहीं करते। डी. वी. सामाजिक वातावरण व द्वारा अनुशासन स्थापित करना चाहते है।

सर्वोदय दर्शन मानता है कि बालक को अच्छा या बुरा बनाने में उसका प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण उत्तरदायी होता है। इसीलिये सर्वोदयी विचारधारा में निष्ठा रखने वाला अध्यापक विद्यालयी वातावरण को निर्मल रखना पसंद करता है और इसके लिये प्रयत्न करता है। बालक का आचरण सबसे अधिक उसके अध्यापक द्वारा प्रभावित होता है। यदि किसी कारण अनुशासन भंग होता है तो उसके लिये अध्यापक अपने आचरण को दोषी ठहराता है और आत्मशुद्धि अथवा सत्याग्रह करता है जो वस्तुतः एक कठिन विधि है। वही अध्यापक आत्मशुद्धि कर सकता है जिसके मन में श्रद्धालु बालकों के प्रति सच्चे स्नेह एवं सहानुभूति की भावना होती है। इस तपस्या के फलस्वरूप छात्र का व्यवहार स्वतः अनुशासित हो जाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने शिष्य और गुरू के सम्बन्धों में अति उत्तम विचार प्रकट

किये हैं – "शिष्य और गुरू के लिये कुछ आवश्यक नियम है। शिष्य के लिये आवश्यकता है शुद्धता ज्ञान की सच्ची पिपासा और लगन के साथ परिश्रम की विचारवाणी और कार्य की पवित्रता नितांत आवश्यक है। ज्ञान पिपासा के सम्बन्ध में पुराना नियम यह है कि हम जो कुछ चाहते है वही पाते है। जिस वस्तु की हम अन्तःकरण से चाह नहीं करते, वह हमें प्राप्त नहीं होती। हमें तो अपनी पाशविक प्रकृति के साथ निरन्तर जूझे रहना होगा, सतत् युद्ध करना होगा और उसे अपने वश में लाने के लिये अविराम प्रयत्न करना होगा। कब तक! जब तक हमारे हृदय में उच्चतर आदर्श के लिये सच्ची व्याकुलता उत्पन्न हो जाए। जो शिष्य इस प्रकार अध्यवसाय के साथ लग जाता है उसकी अन्त में सफलता प्राप्ति निश्चित है।

कुछ लोग बालक को पूर्व स्वतन्त्रता प्रदान करने के समर्थक हैं तो कुछ लोग कठोर अनुशासन के। बालक के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास के लिये स्वतन्त्रता आवश्यक है। व्यक्तिगत रूचियों रूझानों, आवेगों तथा शारीरिक, मानसिक, नैतिक कलात्मक एवं सौन्दर्यात्मक शक्तियों का विकास स्वतन्त्र वातावरण के बिना सम्भव नही है। जब हम बालक को उसकी इच्छानुसार किसी क्रिया को करने की स्वतन्त्रता देते है तो वह उस क्रिया को खेल समझकर प्रशन्नतापूर्वक करता है। यही कारण है कि रूसो ने बाह्य बल तथा बंधन का विरोध किया है और बालक की पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थन किया है।

बालक के सर्वांगीण विकास के लिये स्वतन्त्रता के साथ अनुशासन भी आवश्यक है। आज के विकासशील युग में बालक को सच्चा मानव बनाने के लिये इन आदर्शों तथा गुणों का विकास करना परम आवश्यक है। अनुशासन के द्वारा बालक की मूल इच्छाओं आवेगों का परिमार्जन करके ऐसे गुणों तथा आदतों का विकास किया जा सकता है जिससे उसका व्यवहार समाज द्वारा स्वीकृत मानदण्ड के अनुसार बन जाये। स्वतन्त्रता बालक की वैयक्तिकता को प्रोत्साहित करती है और अनुशासन उसके

व्यक्तित्व को ऊंचा उठाने पर बल देता है। स्वतन्त्रता का समर्थन मनोविज्ञान करता है तथा अनुशासन का समाज शास्त्र। तात्पर्य यह है कि बिना स्वतन्त्रता के अनुशासन अपूर्ण है और विना अनुशासन के स्वतन्त्रता निरर्थक है। आवश्यकता इस बात की है कि स्वतन्त्रता तथा अनुशासन दोनों में समन्वय स्थापित किया जावे।

अनुशासन तथा व्यवस्था में भी अन्तर है। हरवार्ट ने बताया कि निर्देशन की सफलता के लिये स्कूलों की उच्चकोटि की व्यवस्था का होना आवश्यक है। अच्छी व्यवस्था की सहायता से ही अच्छे अनुशासन को उत्पन्न किया जा सकता है। हरवार्ट ने कहा है – "पाठ पढ़ाते समय कक्षा में शांति और व्यवस्था बनाये रखना शिक्षक के प्रति किसी भी प्रकार का असम्मान न होने देना शासन अथवा व्यवस्था है तथा शिक्षार्थियों को सुसभ्य अथवा सुसंस्कृत बनाने के लिये स्वभाव पर सीधा प्रभाव डालना प्रशिक्षण अथवा अनुशासन है।"

स्वतन्त्रता तथा अनुशासन में समन्वय आवश्यक है। बालक को अनियन्त्रित स्वतन्त्रता प्रदान करने से वह इतना स्वच्छन्द हो सकता है कि उसमें अहं की भावना विकसित हो सकती है और अनुशासन भी अपने चरम रूप में बालक की स्वतन्त्रता का हनन करके उसके व्यवहार में अवांछनीय बल प्रयोग द्वारा एक ही विशेष परिवर्तन करना चाहता है। इससे बालक में आत्म अनुशासन तथा पहलकदमी आदि गुण विकसित नही हो पायेंगे। इसीलिये बालक स्वतन्त्रता तथा अनुशासन दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने से बालक अपने जीवन के लक्ष्य प्राप्त करने के लिये सौद्देश्य क्रियाओं में भाग लेता रहेगा जिनके द्वारा स्वयं उसका तथा समाज का कल्याण होता रहेगा। अनुशासन के सम्बन्ध में डब्लू. वी. शोरिंग ने तीन प्रकार के अनुशासन का सुझाव दिया है –

1. सृजनात्मक 2. प्रतिबन्धात्मक तथा 3. उपचारात्मक।

शिक्षक विद्यार्थी सम्बन्ध

शिक्षक से यह आशा की जाती है कि वह बालक तथा समाज दोनों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये बालक के साथ प्रेम और सहानूभूति का व्यवहार करें। यही नहीं वह बालक के सामने ऐसे सुन्दर तथा आदर्श पूर्ण वातावरण भी प्रस्तुत करें कि उसमें आत्म–दर्शन तथा स्वतन्त्र चिन्तन के द्वारा आत्म–नियंत्रण तथा आत्म–अनुशासन आदि गुणों का विकास सहज में हो जाये।

जब बालक में गन्दी आदतों का प्रभाव होता है उस स्थिति में शिक्षक को सतर्क रहने की आवश्यकता है उसका कर्त्तव्य है कि वह बालक का उचित रूप से संवेगात्मक विकास करे क्योंकि वैयक्तिक अनुशासन विकसित होने से बालक का मानसिक तथा संवेदात्मक विकास पूर्ण रूप लेकर उसमें अच्छे और बुरे की समझ पैदा करता है।

वर्तमान युग में "डण्डा छूटा बालक बिगड़ा" के सिद्धान्त को तिलांजलि दी जानी चाहिये। कक्षा में अनुशासन बनाये रखने के लिये शिक्षक को अपने व्यक्तित्व का प्रयोग करना चाहिये। उसे अपनी योग्यता, चरित्र, आचरण तथा आदर्शों के द्वारा इतने उत्तम वातावरण की रचना करनी चाहिये कि बालक स्वयं ही अनुकरण करके अपने चरित्र को शिक्षक के चरित्र के अनुरूप ढालने का प्रयास करें। शिक्षक के आदर्श व्यक्तित्व के प्रभाव से बालक में अनुशासनहीनता ही उत्पन्न नही हो और यदि किसी कारणवश हो जाये तो शिक्षक को बालकों के साथ प्रेम तथा सहानुभूति का व्यवहार करके उनके आदर का पात्र बनना चाहिये एवं अपने प्रशंसानीय व्यक्तित्व के प्रभाव से उनमें वांछनीय सुधार लाना चाहिये।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा का उद्देश्य बालक के आदर्श चरित्र का निर्माण करना है इसके लिये माता–पिता तथा गुरूजन सभी चरित्रवान हो तथा वे सभी अपने उच्च विचारों, आदर्शों तथा उपदेशों के द्वारा बालक के चारित्रिक विकास की

ओर ध्यान दें।

गांधी जी के शिक्षा–दर्शन का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि गांधी जी आदर्शवादी थे। वह शिक्षा में दंड के सख्त विरोधी थे, उनके शिक्षा दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद तथा प्रयोजनवाद की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। आदर्शवाद गांधी दर्शन का आधार है तथा प्रकृतिवाद एवं प्रयोजनवाद उसमें सहायक है। डॉ. एम.एस. पटेल ने लिखा है – "दार्शनिक रूप में गांधी जी की महानता इसमें है कि उनके शिक्षा दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और प्रयोजनवाद की मुख्य प्रवृत्तियां अलग और स्वतन्त्र नही है। वरन् वे सब मिल जुलकर एक हो गई है, जिससे ऐसे शिक्षा दर्शन का जन्म हुआ है जो आज की आवश्यकताओं के लिये उपयुक्त होगा तथा मानव अपनी आत्मा की सर्वोच्च आंकाक्षाओं को सन्तुष्ट करेगा।"

ठा. रवीन्द्र नाथ टैगोर तत्कालीन शिक्षा का घोर विरोध करते थे उनके अनुसार शिक्षा का सही उद्देश्य बालक को जीवन तथा विश्व के स्वर के मिलन में पूर्णतया अवगत कराया जाये तथा दोनों के मेल के मध्य सन्तुलन स्थातिप कराया जाय। टैगोर ने इस आदर्श को अध्यापन में अपने विश्वभारती में पूरा किया। उन्होंने स्वयं लिखा है –"प्रकृति के पश्चात बालक की सामाजिक व्यवहार की धारा को सम्पर्क में लाना चाहिये।" इस उपलब्धता के लिये शिक्षक का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

श्री अरविन्द घोष ने लिखा है "बालक को माता–पिता अथवा शिक्षक की इच्छानुकूल ढालना अन्धविश्वास तथा जंगलीपन है। माता–पिता इससे बड़ी भूल और कोई नहीं कर सकते कि पहले से ही इस बात की व्यवस्था करें कि उनके पुत्र में विशिष्ट गुणों क्षमताओं तथा विचारों का विकास होगा। प्रकृति को स्वयं अपने धर्म का त्याग करने के लिये बाध्य करना उसे स्थायी हानि पहुंचाता है, उसके विकास को अवरूद्ध करना तथा उसकी पूर्णता को दूषित करना है।"

घोष ने भी शिक्षक पर इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व डाला है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं सिखाता, प्रत्येक व्यक्ति अपने आप स्वयं ही सीखता है। बाहरी शिक्षक तो केवल सुझाव ही प्रस्तुत करता है जिससे भीतरी शिक्षक को समझने और सीखने के लिये प्रेरणा की जाती है। इस सम्बन्ध में उन्होंने भारतीयों को समय–समय पर सचते करते हुये कहा –"तुमको कार्य के प्रत्येक क्षेत्र को व्यावहारिक बनाना पड़ेगा। सम्पूर्ण देश का सिद्धांतो के ढेरों ने विनाश कर दिया है।"

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा का अर्थ केवल सूचनाओं से ही नहीं है जो बालक के मस्तिष्क में बलपूर्वक ढूंसी जाती है। उन्होंने लिखा है –"यदि शिक्षा का अर्थ सूचनाओं से होता तो पुस्तकालय संसार के सर्वश्रेष्ठ संत होते तथा विश्वकोष ऋषि बन जाते। स्वामी जी के अनुसार "शिक्षा उस सन्निहित पूर्णता का प्रकाश है जो मनुष्य में पहले से ही विद्यमान हैं।" शिक्षक को इस दृष्टिकोण से बालक में सन्निहित गुणों को विकसित करने पर बल देना चाहिये।

स्वामी जी ने शिक्षक और शिष्य के विषय पर अपनी पुस्तक शिक्षा में लिखा है –"मेरे विचार के अनुसार शिक्षा का अर्थ है –'गुरू–गृह–वास। शिक्षक अथवा गुरू के व्यक्तिगत जीवन के बिना कोई शिक्षा नहीं हो सकती। शिष्य को बालव्यस्था से ऐसे व्यक्ति (गुरू) के साथ रहना चाहिये जिनका चरित्र, जाज्वल्यभान अग्नि के समान हो, जिसमें उच्चतम शिक्षा का सजीव आदर्श शिष्य के सामने रहे। हमारे देश में ज्ञान का दान सदा त्यागी पुरूषों द्वारा होता आया है। ज्ञानदान का भार पुनः व्यक्तियों के कन्धों पर पड़ना चाहिये।

भारतवर्ष की पुरानी शिक्षा प्रणाली वर्तमान प्रणाली से बिल्कुल भिन्न थी। विद्यार्थियों को शुल्क नहीं देना पड़ता था, ऐसी धारणा थी कि ज्ञान इतना पवित्र है कि

उसे किसी मुनष्यों को बेचना नही चाहिये। ज्ञान का दान मुक्त हस्त होकर बिना कोई दाम लिये करना चाहिये। शिक्षकगण विद्यार्थियों को उनसे शुल्क लिये बिना ही अपने पास रखते थे, इतना ही नहीं बहुतेरे गुरू तो अपने शिष्यों को अन्न और वस्त्र भी देते थे और उसी से वे अपने शिष्यों का पालन–पोषण करते थे। पुराने जमाने में शिष्य गुरू के आश्रम को 'समित्पाणि' होकर (हाथ में समिधा लेकर) जाता था और गुरू उसकी योग्यता का निश्चय करने के पश्चात उसके कटि प्रदेश में तीन लड़वाली पुंज मेखला बांधकर उसे वेदों की शिक्षा देते थे। यह मेखला तन–मन और वचन को वश में रखने की उसकी प्रतिज्ञा की चिन्ह स्वरूप थी।

गुरू के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि उन्हें शास्त्रों का मर्म ज्ञान हो। वैसे तो सारा संसार, बाइबिल, वेद, कुरान पढ़ता है, पर वे तो केवल शब्दराशि है, धर्म की सूखी ठठरी मात्र है। जो गुरू शब्दाडम्बर के चक्कर में पड़ जाते है, जिनका मन शब्दों की शक्ति में बह जाता है, वे भीतर का मर्म खो बैठते हैं। जो शास्त्रों के वास्तविक मर्मज्ञ है।, वे ही असल में सच्चे धार्मिक गुरू है।

गुरू के लिये दूसरी आवश्यक बात है – निष्पापता। बहुधा प्रश्न पूंछा जाता है "हम गुरू के चरित्र और व्यक्तित्व की ओर ध्यान ही क्यों दें।" यह ठीक नहीं है। .... गुरू को पूर्णरूप से शुद्धचित्त होना चाहिये तभी उनके शब्दों का मूल्य होगा।

तीसरी आवश्यक बात है उद्देश्य के सम्बन्ध में। गुरू को धनमान या यज्ञ सम्बन्धी स्वार्थ सिद्ध के हेतु धर्म शिक्षा नहीं देनी चाहिये। उनके कार्य तो सारी मानव–जाति के प्रति विशुद्ध प्रेम से प्रेरित हों। .... शिष्य होना आसान नहीं है। पहली शर्त यह है कि जो शिष्य सत्य को जानना चाहता है, वह इस लोक अथवा परलोक में कुछ प्राप्त करने की सभी इच्छाओं को त्याग दे। .... किसी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से परिचालित होने पर मन की सारी शक्तियां बर्हिमुखी होकर इतस्ततः स्ततः बिखर जाती है, वे शक्तियां फिर तुम्हारे पास लौटकर नहीं आती। परन्तु यदि उनका

निग्रह किया जाये, तो उससे बल की अभिवृद्धि होती है। इस आत्म निग्रह से ऐसी महान इच्छाशक्ति का प्रादुर्भाव होता है जो बुद्ध और ईसा जैसे चरित्र का निर्माण करती है।

दूसरी शर्त यह है कि शिष्य को अपनी अन्तरिन्द्रियों और बहिरिन्द्रयों को नियन्त्रित करने में समर्थ होना चाहिये। .... और शिष्य की सहनशक्ति भी महान होनी चाहिये। .... शिष्य की अगली शर्त जो पूरी करनी है, वह यह है कि उसमें मुक्त होने की आकांक्षा अत्यन्त तीव्र हो। ....''

स्वामी जी आगे गुरू के साथ सम्बन्ध के बारे में कहते हैं – ''गुरू के साथ हमारा सम्बन्ध ठीक वैसा ही है, जैसा पूर्वज के साथ उसके वंशज का। गुरू के प्रति विश्वास, नम्रता, विनय और श्रद्धा के बिना हममें धर्मभाव पनप ही नहीं सकता। जिन देशों में इस प्रकार के गुरू–शिष्य–सम्बन्ध की उपेक्षा हुई है वहाँ धर्मगुरू एक वक्ता मात्र रह गया है। मनुष्य पर यह भी सत्य है कि किसी के प्रति अत्यधिक अन्धी भक्ति से मनुष्य की प्रवृत्ति दुर्बलता और व्यक्तित्व की उपासना की ओर झुकने लगती है। अपने गुरू की पूजा ईश्वर–दृष्टि से करो, पर उनकी आज्ञा का पालन आखें मूंदकर न करो। प्रेम तो उन पर पूर्णरूप से करो, परन्तु स्वयं भी स्वतन्त्र रूप से विचार करो।

गुरू को शिष्य की प्रवृत्ति में अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिये। सच्ची सहानुभूति के बिना तुम अच्छी शिक्षा कभी नहीं दे सकते। 'न बुद्धिभेदं जनयेतु' – किसी की इच्छाओं को डवाडोल करने का प्रयत्न मत करो। यदि हो सके तो उसे कुछ उच्चता भाव दो, पर देखकर उसका भाव कहीं नष्ट न कर देना। सच्चा गुरू तो वह है, जो अपने को तुरन्त शिष्य की सतह तक नीचे ला सकता है और अपनी आत्मा को. शिष्य की आत्मा में प्रविष्ट कर सकता है तथा शिष्य के मन द्वारा देख और समझ सकता है। ऐसा ही गुरू यथार्थ में शिक्षा दे सकता है, दूसरा नहीं।''[1]

निष्कर्ष निकलता है स्वामी जी ने गुरू और शिष्य के सम्बन्ध में पुरानी शिक्षा

1. ''शिक्षा'' स्वामी विवेकानन्द कृत, पृ. 36

प्रणाली को अधिक महत्व दिया है और आध्यात्मिक शिक्षा पर उनका अधिक बल है। वह शिष्य में गुरू के सम्मान का स्थान तथा गुरू में शिष्य के प्रति अभिभावक की भावना का प्रतिपादन करते हैं। अध्यापक के भले बुरे व्यवहार और आचरण का प्रभाव बालकों पर निश्चित रूप से पड़ता है। कक्षा में कक्षा के बाहर, खेल के मैदान में सभी जगह अध्यापक अपने शिष्यों के सामने आदर्श व्यवहार प्रस्तुत करता है और उनसे भी ऐसे ही व्यवहार की आशा करता है। जहाँ तक संभव हो पाता है प्रत्येक अध्यापक छात्रों के अभिभावकों से सम्पर्क स्थापित करता है और उनको बालकों की प्रगति एवं विकास से परिचित कराता है। साथ ही विद्यालय की परम्पराओं, समाज के मूल्यों और आदर्शों के विषय में विस्तारपूर्वक समझाता है।

बालक की शिक्षा व्यवस्था में अध्यापक का यथेष्ट महत्व है। वह बालक का सच्चा हितैषी और मार्गदर्शक होता है। वह उसके सम्पर्क में आकर अपने व्यक्तित्व के गुणों द्वारा उन पर प्रभाव डालता है। बालक भी प्रायः अपने अध्यापक को आदर्शों का प्रतीक तथा नेता मानकर उसके पदचिन्हों पर चलने का प्रयास करता है। अध्यापक विद्यालय में सर्वत्र एक आदर्श प्रस्तुत करता है। वह बालकों के व्यक्तित्व और सामूहिक व्यवहार का अध्ययन करता है। अध्यापक समाज की सांस्कृतिक प्रगति एवं प्रतिमानों से बालकों को परिचित कराता है। उन्हें अच्छी आदतें सिखाता है। अध्यापक एक नहीं अनेक तरीकों से बालक की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

अध्यापक शिक्षा की प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है। प्राचीनकाल में अध यापक का स्थान काफी महत्वपूर्ण था गुरू साक्षात पर बृम्ह समझा जाता था। उत्तरोत्तर उसका महत्व घटता गया। आज की शिक्षा में बालक की प्रधानता है। अध्यापक न हो तो काम चल सकता है। यह सब होने पर भी अध्यापक बालक का मार्गदर्शक है। बालक के चतुर्दिक विकास में उसका बहुत बड़ा हाथ होता है। वह बालक के लिये उपयुक्त वातावरण का सृजन करता है ताकि उसकी छिपी हुई शक्तियां बाहर आकर

विकसित हो सकें।

सन्त विनोबा भावे ने इस सम्बन्ध में सर्वाधिक गम्भीर रूप से विचार किया है उन्होंने कहा है – "शिक्षकों में अपने विद्यार्थियों के लिये अनन्य निष्ठा होनी चाहिये। विद्यार्थियों को महसूस होना चाहिये कि हमारी उन्नति और विकास के अतिरिक्त इस शिक्षक को जिन्दगी में और किसी चीज में दिलचस्पी नहीं है। अगर ऐसी वृत्ति और निष्ठा हो तो वह अपने पास जो अच्छी–से–अच्छी चीज है, उसे वह विद्यार्थी के पास पहुँचायेगा और उसे आनन्द आयेगा – जैसे माँ को बच्चे पान कराते समय आनन्द आता है। शिक्षक का यह मुख्य गुण है कि उसमें ज्ञान और वात्सल्य हो। अगर ऐसा हो, तो शिक्षक आज की हालत में भी कुछ कर सकते हैं। उनकी निष्ठा विभाजित नहीं होनी चाहिये। इसलिये मैं मानता हूँ कि वानप्रस्थी ही शिक्षक हो सकता है। हमारे यहाँ वानप्रस्थाश्रम एक स्वतन्त्र आश्रम था। बृह्मचर्याश्रम विद्या का आश्रम था। गृहस्थाश्रम नागरिक का आश्रम था। वानप्रस्थाश्रम शिक्षक का आश्रम था। सन्यासाश्रम आत्मज्ञान और विश्वोद्धार का आश्रम था। अतः वानप्रस्थी ही शिक्षक की हैसियत रख सकते थे।

नये समाज की रचना में अध्यापक का योग बताते हुये विनोबा जी कहते है "जो नया समाज हम बना चुके, वह तो पुराना हो गया। इसलिये पुनः नया समाज बनाने का काम शेष रह ही जाता है। नयी तालीम का मतलब है नित्य नये समाज की रचना करने वाली तालीम। ऐसी तालीम ऐसे अनुभवियों के हाथों में होनी चाहिये जो अनुभव–सम्प्रदान–समर्थ है।"

शिष्य कैसा होना चाहिये इस पर विचार करते समय हमें ध्यान आता है कि शिक्षक की महत्ता प्राचीनकाल में अतीव थी। कबीरदास तो ईश्वर से भी बड़ा गुरू को मानते हैं। वह कहते हैं कि गुरू ही तो बृम्ह तक पहुँचाने, बृम्ह को प्राप्त करने का मार्ग बताता है।

"गुरू गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पायं बलिहारी गुरू आपनो, जिन

गोविन्द दियो बताये।

गुरू आश्रमों के उदात्त गौरव को समझा जा सकता है। उपनिषद में तो शिष्य गुरू के चरणों की अत्यन्त श्रद्धा से प्रेरित होकर नतमस्तक बैठता है फिर ऐसे शिष्य को गुरू हर्ष और उल्लास सहित जितना ज्ञान प्रदान कर सकता है कराता है।

आज के समय विद्यार्थियों में वह श्रद्धा नही है जो पहले थी। विद्यार्थी अधिक उद्दंड, कुरीतियों से ग्रसित और अनुशासनहीन होता जा रहा है। यह स्थिति अधिकांश विद्यार्थी–वर्ग के लिये है। जिनके मन में शिक्षक के प्रति सम्मान व श्रद्धा नहीं है। इन विद्यार्थियों के राजनीति तथा अन्य अतिरेक गतिविधियों में ज्यादा रूचि है इसीलिये अध्यापक वर्ग भी सही दिशा में विद्यार्थियों को शिक्षित करने में रूचि नहीं रखते है। उनका शिक्षण कार्य मात्र जीविकोपार्जन का साधन बनकर रह गया है। एक शिक्षा–दान करने जैसे पवित्र कार्य के प्रति उनमें रूचि नही है।

गाँधी जी गुरू शिष्य सम्बन्धों में बहुत ही नसीहतपूर्ण विचार प्रकट किये है। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा "मेरे ख्याल से शिक्षक ही विद्यार्थियों की पाठ्य पुस्तक है। मेरे शिक्षकों ने पुस्तकों की मदद से मुझे जो सिखाया था वह मुझे बहुत कम याद रहा है पर उन्होंने अपने मुँह से जो सिखाया था, उसका स्मरण आज भी बना हुआ है। बालक आँखों से जितना ग्रहण करते हैं, उसकी अपेक्षा कानों से सुनी हुई बात को वे थोड़े से परिश्रम से और बहुत अधिक मात्रा में कर सकते हैं। मुझे याद नहीं पड़ता कि मैं बालकों को एक भी पुस्तक पूरी तरह पढ़ा पाया था।"[1]

गाँधी जी के उक्त विचार अध्यापक के उच्च चरित्र की ओर इशारा करते हैं कि उसका आचरण व्यवहार और ज्ञान इतना आकर्षक हो कि बालक स्वतः ही उस पर आचरण करने के लिये अपना गौरव महसूस करें।

---

1. "सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा" मोहनदास करम चन्द्र गांधी कृत का उद्धरण, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन, पृ. 309

गाँधी जी बालकों की आत्मा को शिक्षित करने को भी महत्वपूर्ण और आवश्यक मानते थे। उन्होंने लिखा है – "आत्मा की शिक्षा एक बिल्कुल भिन्न विभाग है। इसे मैं टालस्टाय आश्रम के बालकों को सिखाने लगा उसके पहले ही जान चुका था। आत्मा का विकास करने का अर्थ है चरित्र का निर्माण करना, ईश्वर का ज्ञान पाना, आत्मज्ञान प्राप्त करना। इस ज्ञान को प्राप्त करने में बालकों को बहुत ज्यादा मदद की जरूरत होती है और इसके बिना दूसरा ज्ञान व्यर्थ है, हानिकारक भी हो सकता है ऐसा मेरा विश्वास था।"[1]

गाँधी जी शिष्य को दण्डित करने घोर विरोधी थे। इसका एक मार्मिक चित्र व उनकी आत्मकथा में है। उन्होंने लिखा है – "आश्रम एक युवक बहुत ऊधम मचाता था, झूठ बोलता था, किसी से दवता नहीं था और दूसरों के साथ लड़ता–झगड़ता रहता था। एक दिन उसने बहुत ही ऊधम मचाया। मैं घबरा उठा। मैं विद्यार्थियों को कभी सजा न देता था। इस बार मुझे बहुत क्रोध हो आया। मैं उसके पास पहुँचा। समझाने पर वह किसी प्रकार समझता ही न था। उसने मुझे धोखा देने का प्रयत्न किया। मैंने अपने पास पड़ा हुआ रूल उठाकर उसकी बांह पर दे मारा। मारते समय मैं कांप रहा था। इसे उसने देख लिया होगा। मेरी और से ऐसा अनुभव किसी विद्यार्थी को इससे पहले नहीं हुआ था। विद्यार्थी रो पड़ा। उसने मुझसे माफी मांगी। उसे डंडा लगा और चोट पहुंची, इसमें वह नहीं रोया था अगर वह मेरा मुकाबला करना चाहता तो मुझसे निबट सकने की शक्ति उसमें थी। उसकी उम्र कोई सतरह साल की रही होगी। उसका शरीर सुगठित था पर मेरे रूल में से मेरे दुःख का दर्शन हो गया। इस घटना के बाद उसने फिर कभी मेरा सामना नहीं किया। लेकिन उसे रूल मारने का पछतावा मेरे दिल में आज तक बना हुआ है। मुझे भय है कि उसे मारकर मैंने आत्मा का नहीं, बल्कि अपनी पशुता का दर्शन कराया था।

1. "मंदिर अहमदाबाद" मोहनदास करम चन्द्र गांधी कृत का उद्धरण, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन, पृ. 309

बालकों को मारपीट कर पढ़ाने का मैं हमेशा विरोधी रहा हूँ। मुझे ऐसी एक ही घटना याद कि जब मैंने अपने लड़कों में से एक को पीटा था। रूल से पीटने में मैंने उचित कार्य किया था या नहीं, इसका निर्णय मैं आज तक नहीं कर सका हूँ। इस दण्ड के औचित्य के विषय में मुझे शंका है, क्योंकि इसमें क्रोध भरा था और दण्ड देने की भावना थी। यदि उसमें केवल मेरे दुःख का ही प्रदर्शन होता तो मैं उस दण्ड को उचित समझता पर उसमें विद्यमान भावना भिन्न थी। इस घटना के बाद तो मैं विद्यार्थियों को सुधारने की अच्छी रीति सीखा। यदि इस कला का उपयोग मैंने उक्त अवसर पर किया होता, तो उसका कैसा परिणाम होता यह मैं कह नहीं सकता। वह युवक तो इसी घटना को तुरन्त भूल गया। मैं यह नहीं कह सकता कि उसमें बहुत सुधार हो गया पर इस घटना ने मुझे इस बात को अधिक सोचने के लिये विवश किया कि विद्यार्थी के प्रति शिक्षक का धर्म क्या है। उसके बाद युवकों द्वारा ऐसे ही दोष हुये, लेकिन मैंने फिर कभी दण्ड नीति का उपयोग नहीं किया। इस प्रकार आत्मिक ज्ञान देने के प्रयत्न में मैं स्वयं आत्मा के गुण को अधिक समझने लगा।"[1]

महात्मा गाँधी जो राजनैतिक और महान शिक्षाशास्त्री थे ने शिक्षा में दण्डनीति को नकारा है। उनके अनुसार शिक्षक का चरित्र इतना उदात्त एवं प्रभावशाली होना चाहिये कि जिसके प्रभाव में आकर शिष्य स्वयं शिक्षक के अनुसार आचरण करने मैं गौरव महसूस करे। शिक्षक का रूप एक दर्पण के समान हो जिसमें झांककर शिष्य अपना रूप शिक्षक समान बनाने का सतत प्रयत्न करें। गाँधी जी दण्डनीति में हिंसा का रूप देखते थे। वह अहिंसा और सत्य के पुजारी थे।

शिक्षक के उत्तरदायित्व के प्रति गाँधी जी ने राष्ट्रीय शिक्षा परिषद की अध्यक्ष की हैसियत से दिये गये व्याख्यान में कहा है – "शिक्षक वेतन को गौण समझकर शिक्षा को ही मुख्य समझे। सार यह कि शिक्षा ही शिक्षक का धर्म माना जाना चाहिये। यह

1. "सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा" महात्मा गांधी कृत, पृ. 310-311

यज्ञ किये बिना जो शिक्षक खाये, उसे चोर समझना चाहिये।

"डा. जाकिर हुसैन ने भी अध्यापक के आचरण के सम्बन्ध में बहुत गम्भीर विचार प्रकट किये है। उन्होंने 26 अप्रैल 1936 ई. को आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से अपने प्रसारण में कहा है –

"अच्छे अध्यापक बच्चों की स्वाभाविक इच्छाओं को मारे बिना और उन पर बेजा सख्ती किये बिना ही उनमें यह आदत डाल देते है कि हर बच्चा दूसरे के अधिकार का ध्यान रखे, अपनी स्वार्थ–भावना को समूह और मदरसे के लिये दबाना सीखे और दूसरों के विचारों से और हितों का सम्मान भी करे। मगर अच्छे अध्यापक कम होते है और प्रायः अनुशासन में अनुचित कठोरता ही ठीक जँचती है। उन अध्यापकों में बहुतरे ऐसे होते है जिनका प्रारम्भिक जीवन माँ–बाप की मार खाते और अध्यापकों की डांट–झपट सहते कटा। अब हुकूमत का मौका मिला तो दिल खोलकर हुकूमत करना चाहते है और यह मर्ज कुछ ऐसा है कि ज्यों–ज्यों हुकूमत का मौका बढ़ता है, यह मर्ज बढ़ता जाता है। बहुतेरे ऐसे होते हैं कि सुस्ती और आलस्य की वजह से उत्साह और कर्मशक्ति की कमी से, वह यही अच्छा समझते है कि काम एक डर्रे पर चल ले। कौन हर वक्त नई–नई बाते सोचे और नई–नई समस्यायें हल करे।" .... ईश्वर को ध न्यवाद है कि शिक्षा काम करने वाले अब अनुशासन की असलियत को समझने लगे हैं और शायद वह दिन अब दूर नहीं, जबकि मदरसे का अनुशासन हर सच्चे अनुशासन की तरह खुद बच्चों के इरादे पर निर्भर होगा और उनकी प्राकृतिक क्षमताओं के विकास का साधन बनेगा, न कि विनाश का कारण।

प्रत्यक्ष अनुशासन के भूत के अलावा मदरसों का प्रचलित पाठ्यक्रम भी बच्चों के विकास में बाधक होता है। मनुष्य–जीवन के इतिहास पर नजर डालिये इसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि वह जिन चीजों को पहले किसी काम का साधन बनाता है – होते–होते उसी साधन को खुद अपना लक्ष्य बना लेता है। साधन पास होता है

और लक्ष्य दूर। वरन् साधन ही नजर में रह जाता, लक्ष्य ओझल हो जाता है। अभावों की इसी कहानी में मदरसे का प्रबन्ध भी एक अध्याय है। इसने मदरसे अपनी आने वाली नस्लों का मानसिक विकास के लिये बनाये। इस प्रकार के विकास के लिये समाज ने अपनी बनाई हुई मानसिक (जहनी) वस्तुओं को साधन बनाया और ठीक बनाया। पर होते–होते में साधन खुद लक्ष्य बन गये। भाषा साहित्य, इतिहास, गणित और धर्म ये सब इसलिये मदरसों में पहुँचे कि बच्चे के विकास का साधन बने। पर, अब वहाँ ये शासक हैं और बच्चा शासितः बच्चा वहाँ इसलिये जाता है कि उसका बोझ उठाये इसलिये नहीं कि ये बच्चे का बोझ हल्का करे। अब कोई नहीं देखता कि इन साधन से मानसिक विकास होता भी है कि नहीं। ये साधन तो लाल किताब में लिखे हैं इन्हें कौन छेड़ सकता है। इनका प्रयोग करने से अध्यापकों को तनख्वाह मिलती है–मदरसे को सहायता मिलती है। यह कौन देखे कि इन विषयों के ऊँचे–ऊँचे ढेर के नीचे कितने होनहार मस्तिष्क घुट–घुटकर खत्म हो जाते हैं। जीवन भर शिक्षा–दीक्षा का काम करते हैं, पर यह सोचने का मौका किसे मिलता है कि भला मस्तिष्क का विकास होता कैसे है माना कि यह विरोधी बात है कि शरीर की तरह जो भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न गिजाओं से पलता और बढ़ता है, आदमी का मस्तिष्क भी उन चीजों से पलता–बढ़ता है और अपनी प्राकृतिक शक्तियों को बढ़ाता है। जो इसके पहले समाज में दूसरे आदमियों ने अपने मानसिक श्रम से उत्पन्न की थी उन चीजों में भाषा और साहित्य भी है, रस्म व रिवाज भी है। ललितकलायें भी है, इमारतें भी यंत्र भी है, कल और उद्योग भी–यानी सब कुछ जिसको पूर्वजों के मानसिक प्रयास ने कोई ऐसा रूप दे दिया है, जो उस मस्तिष्क तक पहुँचाया जा सकता है। वह सब उसके मानसिक विकास के लिये मौजूद है। इसलिये कि बनाने वाले के मस्तिष्क ने उसमें अपनी जो–जो शक्तियां निहित की है सुला दी हैं। वे सब उस बच्चे के मस्तिष्क में आकर खिलती–जगती है, तो इससे उसका विकास होता है। याद रखने की बात यह

है कि विकास या तरबियत दस्तरख्वान पूर जो–जो अनगिनत गिजायें चुनी हुई है, हरेक मस्तिष्क उन सब खाकर नहीं पनप सकता। कुछ उसे अनुकूल पड़ती है, कुछ नहीं। पर ऐसा क्यों। वह चूँकि उन चीजों में जो–जो शक्तियां छिपी है जो ताकतें सधी हुई है, वे जिस मस्तिष्क का प्रतिबिम्ब है उसमें और उस बच्चे के मस्तिष्क के प्राकृतिक रूप में कुछ न कुछ समानता जरूर होनी चाहिये। इस उपयुक्त और अनुकूल स्वाभाविकता की ऑस में बच्चे के मन की कली खिल उठती है और फिर उसके सारे जीवन को अपनी सुवास से सुवासित कर देती है। ऐसा ही सामंजस्य रखने वाले दीपक से उस बच्चे का हृदय–दीपक भी जल उठता है – जो संसार के अंधेरे में डूबी हुई हरेक चीज को, हरेक जगह को प्रकाशित कर देता है। .... मदरसे का काम यह है कि बच्चों की मानसिक बनावट का अन्दाज करके उस चीज या उन चीजों से इनके विकास की व्यवस्था करे, जो इनके लिये उपयुक्त हों, वर्ना हम रोज देखते हैं कि गलत कोशिशें केवल बेकार और बेसूद ही नहीं होती, बल्कि उन चीजों में असफलता मिलने से – जिनसे बच्चों का कोई सम्बन्ध नहीं, पर जिनका जुआ उसकी गर्दन पर बेकार रखा हुआ है – बच्चा हतोत्साह और निराश हो जाता है और मास्टर साहब के नम्बरों और रिमार्कों और माँ–बाप की जी तोड़ने वाली चेतावनियों से अपनी कमियों का यकीन करके, उसकी कितनी असाधारण क्षमताओं का खून रोज हमारी आँखों के सामने होता है। आज उस्दात कामयाब कोशिश के जादू और सफल काम के तिलिस्म को समझता हो, तो जो कि मंद बुद्धि के बालकों तक को देखते–देखते कहीं से कहीं पहुँचा देता है। तो केवल पाठ्यक्रम की रस्मी पाबंदी से इस प्रकार उनकी क्षमताओं का ह्रास न करे। अध्यापक यह समझ लेंगे कि वे किसी ऐसे कारखाने के काम करने वाले ही नहीं, जिसमें वे सब माल एक ही ठप्पे और एक मार्के का निकलना जरूरी है, बल्कि जो अनेक प्रकार की क्षमतायें इनके हाथ में सौंप दी जाती है, उन्हें अधिक–से–अधिक उन्नत बनाने में योग देना इनका सबसे बड़ा कर्त्तव्य है।

इन बुनियादी गलतियों के अलावा मदरसों में अध्यापकों से कुछ और गलतियां ऐसी होती है, जिनसे बच्चे के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उनमें एक बहुत ही साधारण भूल – पक्षपात और अन्याय की है। बच्चे जब अध्यापक का अनुचित पक्षपात देखते हैं, तो उन पर बड़ों से कही अधिक इसका प्रभाव पड़ता है। वे अभी प्रारम्भिक जीवन के निकट होते है औरर दुनियां के अन्याय का अनुभव न होने की वजह से उन्हें अपनी सादगी में यह चीज बहुत खलती है और चूँकि अध्यापक उनके लिये बडों की दुनिया का प्रतिनिधि होता है इसलिये उस पर से भरोसा उठ जाता है और यों समझिये कि सब बड़ों की न्यायप्रियता की पोल उनकी नजर में खुल जाती है। बच्चे पर अध्यापक के पक्षपात, अन्याय और धार्मिक कट्टरता का इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि वह प्रायः जीवन भर दूर नहीं होता और मदरसे के बहुत से दूसरे अच्छे प्रभाव भी इस कटु अनुभव के कारण मिट जाते हैं।

फिर दंड विधान में भी अध्यापक से ऐसी गलतियां होती है कि उचित विकास का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। दंड का अगर कोई शिक्षा और विकास सम्बन्धी महत्व है, तो बस यही कि वह एक प्रत्यश्चित करने का उपाय है, जिससे मन की खटक दूर हो जाती है। इसलिये दंड कभी डराने–धमकाने का साधन न बनना चाहिये, बल्कि इसे अपराध के अनुभव से मुक्त करने का साधन होना चाहिये, वर्ना यह विकास की राह में साधक होता है। उचित और हितकर दंड तभी संभव है, जबकि बच्चे को अपने अपराध का ज्ञान हो जाये इस पर खेद और लज्जा का अनुभव हो और उसके मन में आप ही प्रायश्चित और पश्चाताप की भावना जग उठे, वरन दंड फिर एक आंतक ही है सुधार का साधन नहीं और शारीरिक दंड चूँकि प्रायः प्रायश्चित का रूप धारण नहीं कर सकता, इसलिये विकास के लिये सदा प्रतिकूल पड़ता है। शारीरिक दंड प्रायः बच्चों के अनादर की भावना पैदा करता है। किसी को अपमानित करके उनके शिष्टाचार की क्षमता और आत्मिक शक्तियों को उभारा नहीं जा सकता फिर यह दंड

शरीर को कष्ट देता है और शारीरिक कष्ट बिल्कुल एक मशीन की तरह हमारा सारा ध्यान अपनी ओर खींच लेता है और आत्मा की सभी शक्तियों को विद्रोही बना देता है। विद्रोह का यह भाव दंड मिलने के बाद भी विरोध के रूप में विद्यमान रहता है और इस तरह दंड देने का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। इस तरह की ओर गलतियां मदरसे में होती है, जिनसे बच्चे के मस्तिष्क का रूप गलत सोचों में ढल जाता है और वह फिर सारे जीवन को उसी के रंग में रंगना चाहता है।"[1]

जाकिर साहब ने अपने भाषण जो 31 मई सन 1942 को आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित किया गया था कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। 'नन्हा मदरसे चला' चला विषय को लेकर उन्होंने कहा है – "इस समय जब मैं बच्चों के अभिभावकों और उनके अध्यापक को लक्ष्य करता हूँ, यदि निवेदन किये बिना नहीं रह सकता कि आप किसी तरह की मौलिक भ्रांतियों से युक्त कर लें बच्चे को मनुष्य का अग्रदूत (पेशस) समझें उसे वे सहारे खुद ही बढ़ने दे, उसकी प्राकृतिक क्षमताओं और प्रवृत्तियों का सम्मान करें और समझें कि यह छोटा सजीव अपने विकास की क्रियात्मक पूर्ति की ओर खुद कदम उठाता है। इसे सहारा दीजिये, रास्ते से कांटे हटा दीजिये, मगर इसके चलने की दिशा तो न बदलिये। न इसकी ओर इतना अधिक ध्यान दीजिये कि यह फिर खुद अपनी ओर ध्यान ही न दे सके, न इतनी उदासीनता ही रखिये कि इसकी वे आवश्यकतायें ही पूरी न हो, जिनमें वह सचमुच आपके आधीन है।

अध्यापकों से भी जिनके मदरसे में बच्चे इसलिये भेजे जाते हैं कि समाज की दृष्टि में घर (होम) शिक्षा विकास के कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सकता, मेरी प्रार्थना है कि आप भी अपने इस शुभ कार्य का भौतिक सिद्धान्त उसी आदर और सम्मान की भावना को बनाये। यह सिद्धान्त यदि आपके मस्तिष्क में बैठ गया तो शिक्षा

1. "बच्चों का विकास" विषय डा. जाकिर हुसैन के भाषण का अंश जो 26 अप्रैल 1936 को आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित हुआ।

के काम में आपका सारा रवैया ही बदल जायेगा। आप अपने साथियों को भेड़ों का समूह न समझेंगे, बल्कि उनमें हर बच्चे की विशेष क्षमताओं और मुख्य आवश्यकताओं का ध्यान रखेंगे।"[1]

डा. जाकिर साहब के उक्त विचारों का सार यह है कि अध्यापक को शिष्यों का सम्मान उचित अनुपात में – जितनी की आवश्यकता है करना लाजमी है। उन्हें हेय दृष्टि से देखना या उन्हें काबिल समझकर उनमें हीन भावना पैदा करने से बालक का भविष्य चौपट हो जायेगा। शिक्षक ही विद्यार्थी का उत्साहवर्धन करके उसकी कमजोरियों को नगण्य प्रदर्शित करके विद्यार्थी को आगे बढ़ाने का हौसला स्थापित कर सकता है और जब अध्यापक का स्नेह आदर और संरक्षण का आभास विद्यार्थी के हृदय में पैठ करेगा तो विद्यार्थी स्वयं ही अनुशासित, आज्ञाकारी और शिक्षक के प्रति सेवा–भाव से परिपूर्ण होकर उसके अन्दर विनम्रता, विनम्र–भावना एवं सामाजिकता के गुणों का विकास होगा। निष्कर्ष यह है कि अध्यापक अपना कर्त्तव्य अपने शिष्यों के प्रति पित्र भाव से निर्वहन करें तो स्वमेव विद्यार्थी के लिये एक सीमा–रेखा की स्थापना होगी और उसे अपने तथा शिक्षक के कार्यों का पूरा–पूरा ज्ञान होगा। विद्यार्थी अपने शिक्षक के प्रति स्वाभाविक रूप से आचरण करेगा – किसी भय या दबाववश नहीं। अनुशासनबद्ध रहकर शिक्षक का सम्मान उसके आदेशों को आदर्श मानकर उनका पालन करना और शिक्षक के दिशा–निर्देशों पर अपने भावी जीवन का विकास करना उसका लक्ष्य बन जायेगा। अगर शिक्षक में दुर्गुण हैं और उनका प्रदर्शन बालक के समक्ष होता है तो निश्चय रूप से कौतूहलवश बालक उनकी नकल करेगा और वैसा ही आचरण करने में अपना गौरव समझेगा।

यहाँ यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि बालकों की आयु क्रम के अनुसार

1. "नन्हा मदरसे चला" विषय पर डा. जाकिर हुसैन के भाषण का अंश जो 31 मई 1942 आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित हुआ।

ही शिक्षक का आचरण शिष्यों के प्रति निर्धारित किया जा सकता है। प्रारम्भिक कक्षाओं में जब बालकों की आयु बहुत कम होती है शिक्षकों को उनके साथ पिता समान व्यवहार करना चाहिये। प्रयास तो यह रहे कि बालक अपने घर–परिवार एवं स्कूल–परिवार में समानता पाये और उसके अपने मानसिक और शारीरिक विकास में कोई अड़चन प्रकट न हो। वयस्क और ऊँची कक्षा के छात्रों के प्रति अध्यापकों का आचरण मित्र–भाव को लेकर हो। अध्यापक अपने आचरण और सीख से विद्यार्थी को उचित और अनुचित का आभास कराये जिससे विद्यार्थी अपनी भूलों को समझ सके और उन्हें दूर करने के लिये स्वमेय प्रयासरत हो जाये। विद्यार्थियों में उत्साहवर्धन उनके उज्जवल भविष्य का आभास वर्तमान समय की प्रतियोगिताओं की बाध्यता की जानकारी देकर उनका सही दिशा–निर्देशन करना है। अध्यापक का परम एवं पुनीति कर्त्तव्य है। मात्र जीविकोपार्जन का साधन समझकर और किसी प्रकार कक्षाओं में समय बिताकर मूल्यहीन आचरण करके यदि अध्यापक अपने वेतन के लिये अध्यापन कार्य करता है तो निश्चय रूप से अध्यापक पूरी तरह अपने कर्त्तव्य से विमुख है और इसे सही माने में अध्यापक नहीं कहा जा सकता है।

संत विनोबा भावे ने भी इस विषय पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये है कि आचार्य अपने शिष्यों को किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न होने देने के लिये सदैव उद्यत रहते थे। गुरूकुल आश्रमों में गुरू–शिष्य में पिता–पुत्र का सम्बन्ध होने के कारण शिष्यों की आपत्ति या सुख के समय गुरू, पिता–माता के समान ही दुखी या सुखी हुआ करते थे। शिष्यों के सम्पूर्ण कार्यों का उत्तरदायित्व गुरूओं पर था। वे अपने शिष्यों के आध्यात्मिक, चारित्रिक, नैतिक, मानसिक, शारीरिक और व्यावसायिक आदि सभी प्रकार की उन्नति की चेष्टा में लगे रहते थे।

शिष्य भी सदैव अपने आचार्यों को प्रसन्न रखने की चेष्टा में प्रयत्नशील रहते थे। वे पिता से अधिक अपने गुरू की आज्ञा मानते थे। गुरू उनके लिये देवतुल्य थे।

तैत्तिरीयोपनिषद (1-11) में शिक्षकों को देव–तुल्य बतलाया गया है "आचार्यो देवभव"

यही सही कि यह उदात्त भाव का सम्मान किया जाये लेकिन वर्तमान समय पूर्व–युग सा नही है और बहुत बदल गया है इसलिये गुरू–आश्रमों या गुरूकुल की व्यवस्था न तो आज सम्भव है और न समयाकूल है। लेकिन गुरू–आश्रमों के नैतिक सिद्धान्तों को अधिकांशतः अपनाया जा सकता है।

डा. राधाकृष्णन ने भी प्राचीन भारत में धार्मिक शिक्षा की प्रमुखता की प्रशंसा की है। ऋषियों के आश्रमों तथा गुरूकुलों में प्रत्येक बालक को धार्मिक, नैतिक, शारीरिक, व्यावसायिक और व्यावहारिक शिक्षा प्रदान की जाती थी जिसमें छात्र यह ज्ञान ग्रहण करते थे कि स्वयं असुविधा और कष्ट झेलकर भी दूसरों को सुख पहुँचाना चाहिये तथा सहनशीलता का व्यवहार करना चाहिये।

अरविन्द घोष ने शिक्षा में बालक के स्थान को प्राथमिकता दी है। उनके अनुसार बालकों को शिक्षकों पर इतना आश्रित और अवलम्बित नहीं बना दिया जाये कि बालक शिक्षकों के विचार के सर्वथा दास हो जाये। शिक्षक का कार्य मार्गदर्शक और सहायक का है। उन्हें स्वेच्छानुसार निर्मित करने से अधिक श्रेयकर है कि स्वयं की प्रवृत्तियों के अनुसार उनको विकसित होने का अवसर दिया जाये। शिक्षक बालकों पर ज्ञान का बोझ न डालें अपितु उनकी आंतरिक शक्तियों का पता लगायें और तदनुरूप ऐसे साधन जुटाए, जिसमें बालक बिना किसी त्रुटि और अवरोध के स्वतः ज्ञान की उपलब्धि करें। अध्यापक से बच्चे के मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने की आशा नहीं की जाती। वस्तुतः उसे यह दिखलाना चाहिये कि बच्चा किस प्रकार ज्ञान के साधनों को पूर्ण करे। इस प्रकार शिक्षक का प्रधान कार्य केवल ज्ञान प्राप्त करने का ढंग बतलाना है, विद्यार्थी स्वतः अपने लिये ज्ञान प्राप्त कर लेंगे।

स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने गुरूकुलों में इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने की पूरी चेष्टा की कि शिक्षकों और विद्यार्थियों का सम्बन्ध, मधुरता और निश्छलता की

आधारशिला पर अवस्थित होगा। शिष्यों के पुत्र के रूप गुरू देखें तथा शिष्य अपने गुरूओं को देव तुल्य।

उक्त महान शिक्षा शास्त्रियों के विचारों पर सूक्ष्य दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि देश के प्रथम तीन राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद, डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन तथा डा. जाकिर हुसैन के इस विषय पर बहुत स्पष्ट विचार रहे है। तीनों ही राष्ट्रपतियों ने महात्मा गाँधी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को पूर्णरूपेण अंगीकार किया है। शिक्षा में दंड विधान का अस्वीकार करना, शिष्य और शिक्षक के मध्य मधुर और आत्मीय सम्बन्ध होना शिक्षक का अपने शिष्यों के प्रति माता–पिता तुल्य संरक्षण प्रदान करना और उनके हितों और सुविधाओं के प्रति जागरूक रहना आवश्यक माना है। डा. राधाकृष्णन महात्मा गाँधी के विचारों के अति निकट बालकों में अध्यात्मवाद की शिक्षा के पोषक व समर्थक थे जिससे बालकों की नैतिकता का विकास हो और देश के लिये अच्छे व चरित्रवान नागरिक हो।

शिक्षा का माध्यम

भारत के समस्त शिक्षा शास्त्रियों ने एक मत से शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को स्वीकार किया है। विदेशी–भाषा के ज्ञान से न तो बालक का देश के प्रति स्वावाभिक लगाव होगा और न वह देश की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का विचार था कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया जाये। हिन्दी की व्यापकता को उन्होंने स्वीकार किया था। वे चाहते थे कि प्रत्येक प्रांत में इसको पूर्ण प्रशय दिया जाये, वहाँ के निवासी इसकी पूर्ण जानकारी कर और हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि में सहयोग करें।

इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शिक्षा के माध्यम को विदेशी भाषा में होना अस्वीकार किया है। उनका विचार था कि विदेशी भाषा सीखने के पहले राष्ट्रभाषा सीखनी चाहिये। इसके बाद इच्छानुकूल जो चाहे विदेशी भाषा पढ़े। विदेशी भाषा

एच्छिक हो, प्रतिबन्ध स्वरूप किसी पर बोझ नही।

पंडित मदन मोहन मालवीय हिन्दी भाषा के महान उन्नायकों में थे। सन 1918 में भारतीय कांग्रेस के मंच से हिन्दी का सर्वप्रथम प्रयोग उनके ही द्वारा हुआ था। उन्होंने सभापति पद से अपना भाषण हिन्दी में किया था। मालवीय मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे। राष्ट्रभाषा के रूप में भी हिन्दी ही उन्हें मान्य थी। महामना ने कहा है – ''भविष्य में हिन्दुस्तान की उन्नति हिन्दी को अपनाने से ही हो सकती है।''

मातृभाषा अन्य सभी विषयों के ज्ञानोपार्जन का साधन होती है। मातृभाषा सरलतम भाषा होती है अतः उसके द्वारा पढ़ने में बालकों को अभिरूचि जाग्रत होती है। महात्मा गाँधी ने भी कहा कि ''शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जानी चाहिये, क्योंकि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने से बालक में परिचित भाषा की दुरूहता के कारण विचारों को स्पष्टता नहीं होती। मातृभाषा को बच्चा जन्य से ही वातावरण से सीख लेता है। वह उस भाषा में अपने विचारों को स्पष्टतः व्यक्त कर सकता है।''

प्रत्येक जाति के पास उसकी मातृभाषा का साहित्य होता है। मातृभाषा को ही अगर राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने का अवसर प्राप्त हो तो यह विशेष है।

हिन्दी भाषा के भिन्न–भिन्न अंगों के समन्वयीकरण के आधार पर हिन्दी–शिक्षण को अत्यधिक महत्वपूर्ण बनाया जा सकता है।

स्वामी श्रद्धानन्द उर्दू के एक ओजस्वी लेखक होते हुये भी हिन्दी के प्रति आपके हृदय में असाधारण श्रद्धा थी। पंजाब में आर्य समाज द्वारा हिन्दी को जो व्यापक प्रचार हुआ, उसका श्रेय आपको ही है। हिन्दी को अपनाने के बाद आपने कभी व्यक्तिगत व्यवहार में भी उर्दू अथवा अंग्रेजी से काम नहीं लिया। महात्मा गाँधी के एक अंग्रेजी पत्र का हिन्दी में उत्तर देते हुये आपने उन्हें लिखा था – ''जो व्यक्ति हिन्दी को देश की भाषा बनाना चाहता है, उसको अधिकार नहीं कि वह दूसरी भाषा में पत्र व्यवहार करे।'' स्वामी जी के आदेशानुसार कांगड़ी गुरूकुल के समस्त कार्यों का

माध्यम हिन्दी ही स्वीकृति था। हिन्दी जब अपने प्रारम्भिक अवस्था में थी, स्वामी जी ने उसके उन्नयन के लिये अपना सफल प्रयास किया। हिन्दी को वह राष्ट्रीय स्तर पर ले आये। हिन्दी जगत उनके ऋण से कभी मुक्त नहीं होगा।

शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में अरविन्द घोष महात्मा गाँधी के समान ही प्राथमिक अवस्था में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा का होना स्वीकार करते थे। अरविन्द घोष के विचारानुसार मातृभाषा द्वारा बालक अपनी आंतरिक मनोवृत्तियों एवं भावनाओं का प्रकटीकरण सुगमता और सरलतापूर्वक करने में सक्षम हो सकता है। अतः जहाँ तक सम्भव हो मातृभाषा द्वारा ही उनको ज्ञान की उपलब्धि कराई जावे। तत्पश्चात उन्हें उनके साहित्य के रूचिकर एवं महत्वपूर्ण भागों की शिक्षा देनी चाहिये।

प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद द्वारा समय–समय पर दिये गये कुछ भाषणों का संकलन 'साहित्य शिक्षा और संस्कृति' के नाम से प्रकाशित किया गया है। पृष्ठ पथ पर राजेन्द्र प्रसाद ने उर्दू और हिन्दी भाषा के सामंजस्य के सम्बन्ध में कहा है कि "समझौते का एक सुन्दर और युक्ति–युक्त उपाय श्रीयुत रामदास गौड़ ने बताया है। उनकी योजना इस प्रकार है।[1]

"संस्कृत के 31 हजार उद्भव और चार हजार तत्सम शब्द जो फरंहगे आसफिया" में आये हुये है, और 'हिन्दी शब्द सागर' में आये हुये सभी अरबी–फारसी और दूसरे विदेशी शब्द अगर इकट्ठे कर लिये जाये तो 40 हजार से कुछ ऊपर ही ऐसे शब्द मिल जायेंगे, जिनके हिन्दी होने में कोई हिन्दी बाला आपत्ति न करेगा और जिनके उर्दू होने में किसी उर्दू वाले को मलाल नहीं हो सकता। फिर तो उतने शब्द दो बड़ी जातियों को मिलाने के लिये कम न होंगे। इन 40 हजार शब्दों में आप हिन्दू–धर्म और मुसलमानी मजहब के जितने ख्याल है – दर्शन, तर्क, विज्ञान आदि जितने विषय है – सबका वर्णन ऐसे ढंग पर कर सकते है कि सर्वसाधारण और पढ़े लिखे हिन्दुओं और

1. "साहित्य शिक्षा और संस्कृति" डा. राजेन्द्र प्रसाद कृत, पृ. 44

मुसलमानों को बराबर लाभ होगा।" आगे डा. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा है कि "भाषा से भी अधिक जटिल प्रश्न, मेरी समझ में लिपि का है। अगर उर्दू की सब किताबें देवनागरी में छपती तो उनमें से अधिक को हिन्दी जानने वाले पढ़ और समझ लेते मगर मुसलमान समझते है कि हिन्दुस्तान में इस्लामी सभ्यता का दारोमदार फारसी लिपि पर है और इसलिये यद्यपि उर्दू और फारसी भाषा में उतना ही भेद है जितना हिन्दी और फारसी में, तथापि फारसी लिपि में लिखी जाने के कारण वे उर्दू को अपनी समझते है। इस प्रकार हिन्दू भी हिन्दी को अपनी समझते है। इसका निपटारा इसी से हो सकता है कि दोनों यथासम्भव दोनों लिपियों को सीखे। पर यह सबके लिये आसान नही है। दूसरा उपाय यह है कि हिन्दी जानने वाले कुछ विद्वान उर्दू साहित्य का अध्ययन करे और उसके अच्छे–अच्छे ग्रन्थों को कठिन शब्दों के शब्दार्थ के साथ देवनागरी अक्षरों में छापे।"

उन्होंने आगे कहा है कि "मैं दो–एक बातें और कहें बिना इस भाषण को समाप्त नहीं कर सकता। मेरा विश्वास है कि जब तक अपनी भाषा हमारे यहाँ के बच्चों को शिक्षा न दी जायेगी तब तक व न तो अनुभवी और प्रतिभाशाली विद्वान ही हो सकते है और न साहित्य के कुछ जमा मिलाकर उसकी वृद्धि करने की योग्यता ही प्राप्त कर सकते है। विदेशी भाषा सीखने का भार यों ही भारी है और उसका बोझ और भी बढ़ जाता है जब उसी के द्वारा सभी विद्याओं को प्राप्त करना होता है। इसलिये देश के अनुभवी शुभ चिन्तक और धर्मज्ञ शिक्षक बहुत दिनों से कहते आये है कि हमारे देश की पाठशालाओं और विद्यालयों ने मातृभाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनना चाहिये। पर यह काम कितने ही कारणों से, जिनमें अपने कुछ भाइयों का विरोध भी है, आज तक पूरा न हो सका, खुशी की बात है कि हाल में बिहार शिक्षा–विभाग की ओर से कई सरकारी और कितने ही अर्द्ध–सरकारी स्कूलों में प्रवेशिका–कक्षा तक हिन्दी द्वारा शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया है। आशय है, इसका फल अच्छा होगा और शेष विद्यालयों

में भी शिक्षा का माध्यम देशी–भाषा बहुत शीघ्र हो जायेगी। शुरू में कुछ दिनों तक पुस्तकों के नहीं रहने के कारण कठिनाई पड़ेगी, किन्तु आरम्भ होने पर पुस्तकें स्वयं तैयार होने लगी और बड़ी शीघ्रता के साथ जो कमी है वह पूरी हो जायेगी। बिहार–विद्यापीठ में हिन्दी के माध्यम से शिक्षा देने का प्रयत्न किया गया है। उच्च से उच्चकोटि की शिक्षा इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति इत्यादि विषयों में हिन्दी द्वारा ही दी जाती है। यदि सरकारी विश्वविद्यालय इसका अनुकरण करता और हिन्दी को उच्च शिक्षा के लिये माध्यम बना लेता, तो आज शिक्षा की उन्नति कहीं अधिक हुई रहती और जो कठिनाइयां आज दिखाई जा रही हैं वे आज तक बहुत अंशों में दूर हो गई होती।

अपने नागपुर भाषण में राजेन्द्र प्रसाद ने कहा है[१] – "इसलिये अगर हिन्दी में कुछ ऐसे शब्द आ जावें जो किसी दूसरी भाषा के लिये गये हों, तो भी वह हिन्दी ही रहे और जितना जिन्दा भाषायें है वे अपने शब्द–कोष को बराबर बढ़ाती जाती है और उनके कवि तथा लेखक दूसरी भाषा के नये–नये शब्दों का प्रयोग अपनी रचना में करते रहते है। बाहर की बात जाने दीजिये, हिन्दुस्तान की भी बंगला, मराठी, गुजराती आदि प्रायः सभी भाषाओं में दूसरी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है। उर्दू वाले भी इसमें किसी से पीछे नही है।" आगे उन्होंने कहा है कि "आज के युग में, जब दुनिया से वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण दूरी और समय का भेद उठता जा रहा है कोई भी भाषा दूसरी भाषाओं के सम्पर्क से अपने को अछूती नहीं रख सकती। यदि वह ऐसा प्रयत्न करे तो संसार की दौड़ में बहुत पीछे रह जायेगी और उसके लिये उन्नति के दरवाजे बन्द हो जायेंगे। हिन्दी भाषा के गुणों में एक विशेष गुण यह है कि हिन्दुओं की भाषा होती हुई भी, उसने अरबी–फारसी के ही नहीं, बल्कि तुर्कों, पुर्तगाली, अंग्रेजी इत्यादि के शब्दों को भी अछूत नहीं समझा। यदि ऐसा होता तो कितने ही शब्द जो हमारे घरों में पहुँच गये, आज न होते और उनके पर्यायवाची शब्द

1. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पच्चीसवें नागपुर–अधिवेशन के सभापति पद से भाषण 1936

हमारे शायद इतने सुगम न मिलते। इस प्रकार के शब्द प्रायः मनुष्य जीवन के सभी कामों से सम्बन्ध रखते है और उनके बिना जीवन–निर्वाह कठिन हो जाता है।

अपने भाषण में आगे उन्होंने कहा है कि ''यह साधारण भाषा की बात मैं कर रहा हूँ। वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों का तो अलग ही कोष और भण्डार है और उसकी संख्या तो दिन–दिन बढ़ती जाती है। जो नई चीज अविष्कृत होती है और जो नये यंत्र और उनकी नई क्रियायें होती है उन सबके लिये नये शब्द तो बनते ही जा रहे हैं। यही जीती–जागती भाषा और जाति का चिन्ह है।

हिन्दी भी यदि जीती–जागती भाषा होना चाहती है तो उसे अपने शब्द भण्डार को बढ़ाना पड़ेगा। बहिष्कार की नीति को वह कदापि स्वीकार नहीं कर सकती और न विदेशी शब्दों को बाहर रखकर वह अपनी उन्नति कर सकती है। हिन्दी संस्कृत नहीं है। हिन्दुस्तान में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिख बसते है और तो भी वह हिन्दुस्तान है। उसी प्रकार हिन्दी में सभी भाषाओं से उत्तम शब्द हम लेंगे और तो भी वह हिन्दी रहेगी। उसमें ऐसे शब्द को पचाने की शक्ति होनी चाहिये। उसके लेखकों को ऐसे शब्दों का ज्ञान होना चाहिये। इसलिये हिन्दी–उर्दू के झगड़े में तथ्य नहीं देखता हूँ। हिन्दी में जितने फारसी और अरबी के शब्दों का समावेश हो सकेगा उतनी ही वह व्यापक और प्रौढ़ भाषा हो सकेगी। हमको तो यह गर्व मानना चाहिये कि हम केवल संस्कृति के ही नहीं, अन्य भाषाओं के शब्दों को भी अपना जामा पहनाकर अपना लेते है और अपने शब्द–भण्डार को बढ़ा सकते है। .... इसका अर्थ इतना ही मात्र है कि जो शब्द प्रचलित हो गये है उनको तो रखना ही चाहिये और उनके बहिष्कार का प्रयत्न हास्यापद है। मेरे एक श्रद्धेय मित्र ने इस बहिष्कार के काम को इतनी दूर तक पहुँचाया था कि रूमाल जैसे छोटे और सुगम शब्द को छोड़कर उन्होंने उसके बदले मुख मार्जन – वस्त्र खण्ड का व्यवहार उचित समझा था। मैं उस प्रकार के बहिष्कार को हिन्दी के प्रति अन्याय समझता हूँ। इतना ही नहीं मैं तो यह भी चाहता

हूँ कि ऐसे शब्दों को जो आज प्रचलित नहीं है, पर अच्छे है, जिनसे हमारा काम ठीक निकल सकता है हम अपनी भाषा में दाखिल कर लें और प्रचलित कर दें।

हिन्दी के शब्द–भण्डार की पूर्ति संस्कृत से तो होनी ही चाहिये पर यदि सुगम और छोटे शब्द जिनसे हमारा अर्थ ठीक निकल सकता हो – दूसरी भाषा के भी हों, तो उनको लेने में हिचक नहीं होनी चाहिये। विशेषकर जब हम हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा मानते है, तो हमको इस पर अवश्य ध्यान देना होगा कि किन शब्दों के समावेश से उसका प्रचार अधिक हो सकेगा।

आज से 12 वर्ष पहले राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने हिन्दुस्तानी की नींव डाली थी। उनकी भाषा में अधिकतर वे ही शब्द आने पाये है जो रोजमर्रा की बोलचाल के है। एक जगह वे लिखते हैं "पंडित लोग सोचते हैं कि जितने असली संस्कृत शब्द। चाहे वह समझ आये चाहे नही। लिखे जाये उतनी ही उनकी नामवरी का सबब है और इसी तरह मौलवी लोग फारसी और अरबी शब्दों के लिये सोचते है। गरंज पुल बनाने के बदले दोनों खंदक को गहरा और चौड़ा करते जा रहे हैं।"

डा. साहब के विचार से हमें अरबी–फारसी के शब्द प्रांतीय भाषाओं – गुजराती, मराठी, बंगाली, पंजाबी और दक्षिणी प्रांत की भाषाओं के जो शब्द आम प्रचलन में आ गये है और उनके ठीक पर्यायवाची शब्द हिन्दी में नहीं मिलते है उन्हें हिन्दी में अपना लिया जाये। ऐसे नये शब्दों को भी जो नये भावों को व्यक्त करते है लेने में हिचकना नहीं चाहिये। अंग्रेजी राज्य में बहुत से अंग्रेजी शब्द भी प्रचलन में आये हैं। जैसे ट्रेन, स्टेशन, टाइम, प्लेटफार्म, टिकट, लालटेन, डिक्वी आदि को बहिष्कार न किया जाये बल्कि हिन्दी शब्द–कोष का अंग मान लिया जाये। ऐसे प्रचलित विदेशी शब्दों को ले लेना ही उचित है।

राजनैतिक और वैज्ञानिक शब्द सभी भारतीय भाषाओं में गढ़े जा रहे है। सभी भाषाओं में नये शब्द यथा–साध्य एक ही होंगे। यदि हिन्दी तथा सभी प्रांतीय

भाषाओं के विद्वान मिलकर ऐसे नये शब्दों की जगह एक ही शब्द प्रचलित करे और सभी समाचार–पत्र उनका व्यवहार करने लगे तो वे शीघ्र ही स्वीकृत हो जायेंगे।

ग्राम्य बोली में भी ऐसे शब्द है जिनका अर्थ सुन्दर और व्यापक है और जिनसे ठीक पर्यायवाची शब्द संस्कृत–हिन्दी में नहीं मिलते है। घरों के व्यवहार की चीजों के लिये शब्द है। गाँवों में खेती के सामान, बुनाई–कताई के यन्त्र और उनके एक–एक के लिये अलग–अलग नाम प्रचलित है।

राजेन्द्र प्रसाद ने अपने उक्त भाषण में कहा है कि "मैं चाहता हूँ कि हिन्दी को व्यापक और सर्वदेशीय भाषा राष्ट्र–भाषा बनाने के लिये उसकी शब्दावली बढ़ाई जाये और उसमें संकोच और संकीर्णता न करके जहाँ से ऐसे अच्छे शब्द मिल सके, जिनका सुगमता से प्रचार हो सकता हो, हम ले लेंगे। तभी यह भाषा हिन्दुस्तान भर की राष्ट्रीय भाषा होने का दावा साबित कर सकेगी। सभी प्रचलित भाषायें इसी प्रकार से उन्नति करती है और यही रास्ता है जिस पर चलकर हिन्दी अपना नाम सार्थक कर सकेगी। ऐसा होने से हिन्दी–उर्दू का झगड़ा भी बहुत अंशों में मिट जायेगा।"

निष्कर्ष यह निकलता है कि यथा–सम्भव हिन्दी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने पर ध्यान देना चाहिये। हिन्दी हिन्दुस्तान में बहुसंख्यक भारतवासियों की भाषा और बोली है। इसे समृद्ध किया जाये और राष्ट्र–भाषा होने का नाम सार्थक किया जाये। लेकिन हिन्दी भाषा के प्रभाव से यह कदापि नही होना चाहिये कि विभिन्न प्रांतों में वहाँ अपनी बोलचाल की भाषा है और प्रांतीय भाषायें हैं। इन खंडों में शिक्षा का माध्यम वहाँ की स्थानीय भाषाओं में प्रभावी किया जाये साथ ही साथ हिन्दी एवं अन्य भाषाओं के ज्ञान की वृद्धि के लिये वैकल्पिक विषयों को शिक्षा में सम्मिलित किया जाये।

डा. राजेन्द्र प्रसाद ने लखनऊ विश्वविद्यालय के अपने दीक्षांत–भाषण[१] दिनांक २० दिसम्बर १९४६ में कहा है कि "किन्तु जीवन की सफलता प्राप्त करने के

लिये विश्वविद्यालयों में आज तक जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती है उसमें आवश्यक सुधार करने की आवश्यकता है। अंग्रेजी सल्तनत ने भारत में विश्वविद्यालयों का प्रारम्भ और संगठन मुख्यतः अपने राज्य के संचालन की दृष्टि से किया था। अंग्रेजी राजतन्त्र चलाने के लिये उन्हें ऐसे पढ़े–लिखे नवयुवकों की जरूरत थी जो अंग्रेजी भाषा की मार्फत उनके दफ्तरों का कार्य योग्यतापूर्वक कर सके और एक साथ ही अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव भी हिन्दुस्तान में फैलाने में मदद दें। एक विदेशी सत्ता के लिये ऐसा करना स्वाभाविक ही था। हमारी शिक्षा–पद्धति का सम्बन्ध राष्ट्रीय जीवन से नहीं के बराबर था।"

इसी भाषण में उन्होंने 'यूनीवर्सिटी कमीशन' की सिफारशें (1) उच्च शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा है। लेकिन कुछ या सभी विषयों में इच्छानुसार राज–भाषा माध्यम द्वारा भी शिक्षा दी जा सकती है। (2) विश्वविद्यालयों में तीन भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है (क) प्रादेशिक भाषा (ख) राज–भाषा हिन्दी और (ग) अंग्रेजी। हिन्दी और अंग्रेजी सिखाने की व्यवस्था हाईस्कूल वर्गों से ही शुरू की जानी चाहिये। (3) पारिभाषिक शब्दावली भारत की सभी भाषाओं के लिये एक सी हो। वैज्ञानिक व टेक्नीकल विषयों के लिये अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली को स्वीकार किया जाये। यद्यपि शब्दों की बनावट देशी भाषाओं के व्याकरण व ध्वनि–शास्त्र के अनुरूप हो।

उन्होंने कहा है कि "मेरी राय में कमीशन की उक्त सिफारिशें सामान्य रूप से संतोषजनक है। जहाँ तक उच्च शिक्षा के माध्यम का सवाल है यह स्पष्ट है कि वह अंग्रेजी नहीं हो सकती। अंग्रेजी माध्यम को जल्द से जल्द हटाने की कोशिश करना नितांत आवश्यक है। उसकी जगह मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा का माध्यम प्रारम्भ होना चाहिये। कुछ शिक्षा–शास्त्रियों का ख्याल है कि उच्च शिक्षा का माध्यम राष्ट्र–भाषा होनी चाहिये, ताकि देश की सांस्कृतिक एकता कायम बनी रहे और विद्यार्थी व अध

1. लखनऊ विश्वविद्यालय में दिया गया दीक्षांत भाषण, 20 दिस. 1949

यापक भारत की एक यूनीवर्सिटी से दूसरी यूनीवर्सिटी में अध्ययन के लिये आ जा सके। लेकिन मेरी राय में हर एक विद्यार्थी का हक है कि वह अपनी मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा द्वारा ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर सके, विशेषकर जबकि हमारी प्रांतीय भाषायें पर्याप्त ढंग से विकसित हो चुकी हैं। हाँ अगर कोई विद्यार्थी कुछ या सभी विषयों को राष्ट्र–भाषा द्वारा पढ़ना चाहे, तो उसे आवश्यक सुविधा मिल जानी चाहिये। लेकिन राष्ट्र–भाषा द्वारा ही उच्च्व शिक्षा अनिवार्य करना सर्वथा अनुचित होगा। हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि राष्ट्रभाषा का उपयोग अन्तर प्रांतीय व्यवहार के लिये हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रांतीय भाषाओं का स्थान ले ले। इसलिये अगर उच्च्व शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा रहे और साथ–साथ अन्तर प्रांतीय व्यवहार की दृष्टि से राष्ट्र–भाषा को अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाये तो किसी तरह की शिकायत की गुजांयश नही रह जाती। राष्ट्र–भाषा की शिक्षा यूनीवर्सिटी कक्षाओं तक ऊँचे स्टेंर्डड की दी जानी चाहिये, ताकि आवश्यकता पड़ने पर प्रादेशिक शिक्षा विद्यालयों के विद्यार्थी अखिल भारतीय शिक्षण संस्थाओं में राष्ट्र–भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा ग्रहण करने योग्य बन जाये। इन अखिल भारतीय संस्थाओं का माध्यम राष्ट्र–भाषा रखना होगा, यह मेरी दृष्टि में निर्विवाद है।"

डा. जाकिर हुसैन उर्दू एवं अंग्रेजी के विद्वान थे लेकिन शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में सन 1957 साल के नवम्बर माह के अंत में बुनियादी शिक्षा सम्मेलन का बारहवां अधिवेशन मुजफ्फरनगर जिलान्तर्गत तुर्की में सम्पन्न हुआ था। डा. जाकिर हुसैन उस समय बिहार के राज्यपाल थे। अधिवेशन का उद्‌घाटन करते हुये उन्होंने अपना एक भाषण प्रस्तुत किया था जिसके कुछ अंश भाषा के सम्बन्ध में हैं। बुनियादी शिक्षा में भाषा के प्रश्न पर उन्होंने कहा है कि "दूसरी जड़ की बात तो उस योजना में थी, जिसे गाँधी जी ने बनवाया था और जो हरिपुर कांग्रेस में मंजूर हुई थी, यह कि सात साल की यह शिक्षा मातृभाषा के द्वारा होगी। देखिये तो इसमें भी गाँधी जी की

अहिंसा की झलक है। सामाजिक हिंसा कभी–कभी यह रूप भी लेती है कि एक समाज दूसरे समाज पर या एक ही समाज का एक अंग दूसरे के सर पर उसकी मरजी के खिलाफ अपनी भाषा थोपना चाहता है। यों तो आदमी अपने काम के लिये अपनी बाते समझने और दूसरों को समझने के लिये दूसरों की भाषायें भी सीखते ही है, और ऐसा न करें, तो बहुत से काम ही न चले। पर बच्चा अपनी माँ की भाषा सबसे पहले सीखता है। माँ के दूध के साथ यह भी इसकी घुटी घुटी में घुल जाती है। इसी के द्वारा वह अपने वातावरण को पहचानता है, आदमियों और चीजों से अपने सम्बन्ध को समझता है, उसी में सोता है और उसके विचार किसी के शब्दों का ओढ़ना ओढ़ते हैं। उसे बचपन में दूसरी भाषा के द्वारा सब कुछ सिखाने की कोशिश उसके साथ बड़ी ज्यादती है। उस उसूल को भी सभी ने माना है कि अगर कहीं इसमें कुछ असर है, तो उसको जरूर ठीक करना चाहिये। इस पर अड़ना बुनियादी शिक्षा की अहिंसक सह के खिलाफ है।"

"हाँ जैसा कि मैंने कहा, आदमी दूसरी भाषायें भी सीख सकता है, अगर उसे सब कुछ उसी में सीखना न पड़े। प्रश्न है कि बुनियादी शिक्षा के जमाने में कोई दूसरी भाषा सीखनी चाहिये या नहीं। बुनियादी शिक्षा का जो कार्यक्रम पहले बना था उसमें कोई दूसरी भाषा नहीं रखी गई थी, सिवा इसके कि जिन बच्चों की भाषा हिन्दी नहीं है उन्हें ऊपर के 2, 3 दरजों में राष्ट्रभाषा हिन्दी सीखनी होगी और यह बात समझ में भी आती है। बुनियादी शिक्षा तो बुनियादी शिक्षा है, इसमें वह सिखाने और वह बनाने का प्रबन्ध होगा, जो देश में सवों का जानना है और हर देश वाले को बनना है। देश की अलग–अलग भाषायें बोलने वालों को नजदीक लाने के लिये एक प्रदेश और दूसरे प्रदेश वालों से रिश्ता जोड़ने के लिये राष्ट्रभाषा कुछ न कुछ तो सवों को आनी ही चाहिये। इसीलिये ऐसा रखा गया था। किसी और भाषा का जानना सब हिन्दुस्तानियों के लिये कब जरूरी है। बेशक अंग्रेजी का हमारे देश में खासा चलन है और भी बस

गिनती के आदमी उसे बोलते समझते है। पर अंग्रेजी राज्य के कारण कुछ ऐसा है कि ये सब ऊँचे जगहों पर है। इसलिये उन्हें कभी–कभी ऐसा लगता है, जैसे अंग्रेजी ही देश की भाषा हो। पर कोई भी सोचेगा, तो देख लेगा कि हर हिन्दुस्तानी को अंग्रेजी जानना आवश्यक नहीं है। हमारे पढ़े लिखे किसानों को, हमारे पढ़े लिखे कारखानों में काम करने वालों को हमारे करोड़–दर–करोड़ पढ़े लिखे दूसरे धंधे वालों को अंग्रेजी की भला क्या जरूरत होगी। उनके लिये उनकी अपनी भाषा और राष्ट्रभाषा सब कामों के लिये बस है। इसलिये बुनियादी शिक्षा के कार्य क्रमों अंग्रेजी को स्थान नहीं दिया गया और ठीक नहीं कि बुनियादी शिक्षा हमारे जीवन में कोई अलग टापू नहीं है, जिसका बाकी जीवन से कुछ सम्बन्ध न हो। अगर बाकी कार्यों को इसकी वजह से बदलना होगा तो शायद दूसरे कामों के कारण बुनियादी शिक्षा को भी थोड़ी बहुत रियायत करनी होगी। जब तक देश के विश्वविद्यालयों में शिक्षा अंग्रेजी भाषा में चलती है। जब तक हिन्द सरकार का बहुत काम अंग्रेजी में होता है, जब तक प्रदेश प्रदेश के बीच अंग्रेजी चलती है, जब तक कानून वाले अंग्रेजी कानून से कार्य करते है, ऊँची अदालतों में पैरवी अंग्रेजी में होती है और फैसले अंग्रेजी में दिये जाते है जब तक वैज्ञानिक साहित्य से हमारी प्रदेशीय भाषायें और हिन्दी भाषा मालामाल नहीं कर दी जाती उस वक्त तक, शायद यही सूरत होगी कि जो लोग ऊपर की शिक्षा विश्वविद्यालयों में पायेंगे उन्हें अंग्रेजी पहले से सीखनी होगी। अच्छा होता कि बुनियादी शिक्षा के समाप्त होने के बाद अंग्रेजी सीखते और मैं समझता हूँ कि अगर सेकेन्डरी और कालेजों में इस काम का रखा जाता और अंग्रेजी के शिक्षकों को अच्छी तरह तैयार किया जाता, भाषायें पढ़ाने के नये–नये और अच्छे तरीकों को अपनाया जाता तो जितनी अंग्रेजी इस उच्च शिक्षा के लिये चाहिये वही सिखाई जा सकती थी। पर यह शिक्षकों का और तरीकों का सुधार नजर नहीं आ रहा है और जल्दी में होना मुश्किल भी है। इसलिये शायद अंग्रेजी सीखने की मुद्दत को बढ़ाना होगा और बुनियादी शिक्षा के आखिर तीन

दरजों–छठवें, सातवें, आठवें में इसका प्रबन्ध करना होगा। यह नहीं कि सबको अंग्रेजी सीखनी पड़े। इसलिये कि बिल्कुल जरूरी नही है। जो करोड़ों बच्चे बुनियादी शिक्षा के आगे जाना ही नही चाहते है उनको इसकी कोई जरूरत ही नहीं। हाँ जो चाहते हैं उनके लिये इंतजार कर देना होगा और इस तरह अंग्रेजी शायद बुनियादी शिक्षा के आखिर तीन वर्षों में आप्शनल विषय की हैसियत से जगह पा जायेगी। इस विषय पर भी इस सम्मेलन में सोच विचार करना चाहिये।''
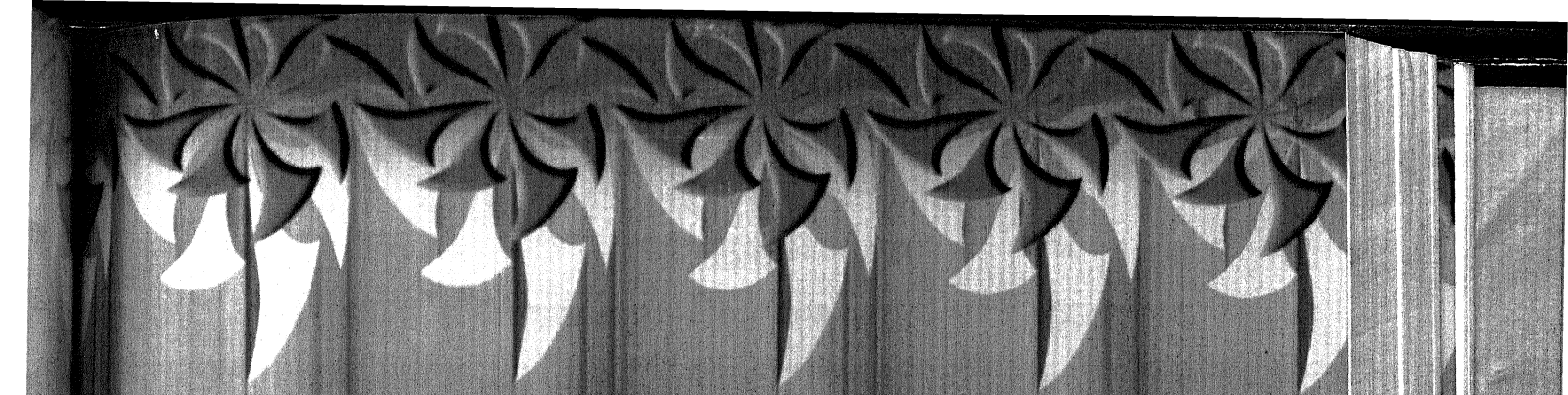
डा. जाकिर हुसैन देश में प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से प्रारम्भिक शिक्षा के हिमायती थे लेकिन कुछ परिस्थितियों का मूल्यांकन करते हुये उन्होंने प्रकटतः प्रारम्भ में अंग्रेजी भाषा के उपयोग का वर्जित नहीं माना। उनके विचार से जब तक विश्वविद्यालयों में शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से है, सरकार का काम जहाँ तक अंग्रेजी माध्यम से आवश्यक है और न्यायालय कार्यों में अंग्रेजी स्थान नहीं बदलता है वैज्ञानिक शब्दावली में परिवर्तन नहीं होता है तब तक अंग्रेजी भाषा को रियायत देना मुनासिब होगा और जैसी ही प्रदेशीय भाषायें और हिन्दी भाषा शब्दावली और व्याकरण में परिपूर्ण हो जाती है शनैः शनैः अंग्रेजी भाषा का स्थान इन प्रादेशिक भाषाओं और हिन्दी भाषा को ग्रहण करना होगा।

डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध अधिक कुछ नहीं कहा है। वह महान दार्शनिक थे और संस्कृति और दर्शन के प्रखर विद्वान। उन्हें अंग्रेजी भाषा पर आधिपत्य था।

भारत में डा. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा–आयोग की नियुक्ति सन 1947 में हुई थी। शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग ने कहा "शिक्षा केवल मस्तिष्क का प्रशिक्षण नहीं, अपितु आत्मा का प्रशिक्षण भी है। इसका उद्देश्य ज्ञान तथा विवेक दोनों को प्रदान करना है। अतः हम दोनों की व्यवस्था करें।'' डा. राधाकृष्णन शिक्षण–संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा भी प्रदान करने के पक्ष में थे। डा. साहब भारतीय

परम्परा के अनुरूप सरल जीवन और उच्च विचार के आदर्श को मान्यता देते है। उनके अनुरूप शिक्षा का उद्देश्य केवल परीक्षा उत्तीर्ण करना अथवा पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर लेना नही है अपितु शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य मस्तिष्क की आंतरिक शक्तियों को विकसित, प्रशिक्षित एवं अनुशासित करने के साथ–साथ बालकों को स्वतन्त्रता प्रदान कर रूढ़िवादिता के अंत तथा प्रकृति से निकटता प्राप्त करना है। इसी के साथ डा. साहब नैतिकता को मनुष्य के सामाजिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास का आधार मानते है। वह समाज को एक श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित रूप में विकसित देखना चाहते थे जिसमें उच्च आदर्श मानवता के श्रेष्ठ गुणों से आबद्ध हो, जिस उच्च समाज के व्यक्ति वर्ग, वर्ण आदि की संकीर्णता में अपने अमूल्य समय और अनमोल जीवन का नाश न करते हो।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि डा. साहब ने शिक्षा के माध्यम पर अधिक कुछ नहीं कहा लेकिन शिक्षा के माध्यम से धर्म और दर्शन की शिक्षा पर विशेष बल दिया है। यह निर्विवाद है कि वह अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार नहीं करते थे।

सप्तम अध्याय

वर्तमान समस्याओं के निदान में शैक्षिक विचारों की महत्ता एवं प्रासंगिकता

सप्तम अध्याय

वर्तमान समस्याओं के निदान में शैक्षिक विचारों की महत्ता एवं प्रासंगिकता

प्राथमिक शिक्षा

वर्तमान समस्याओं के निदान में शैक्षिक विचारों की महत्ता और प्रासंगिकता पर विचार करने के लिये हमें महान शिक्षाशास्त्रियों के विचारों का अध्ययन करना होगा।

शिक्षा के सम्बन्ध में विनोबा जी के विचार हैं कि शिक्षण की परीक्षा उनकी लम्बाई–चौड़ाई से नहीं, उसकी गहराई से होती है। अध्ययन में मूल्य परिमाण का नहीं। महत्व की वस्तु है गहराई। एकाग्रतापूर्वक अध्ययन के बगैर ज्ञान नहीं मिल सकता। केवल ऊपर–ऊपर से बहुत सा पढ़ने में अनेक दोष रह जाते हैं। उसमें न तो मनुष्य किसी बात को पूरी तरह ग्रहण कर पाता है और न इस तरह केवल पढ़ा हुआ याद ही रहता है। अध्ययन वही सही है जिसमें मन की चंचलता कम हो दृढ़ता बढ़े, चिन्तन का विकास हो, विवेक जागृत हो और मनुष्य में स्वतन्त्रता आये। शिक्षण से मनुष्य में नम्रता और स्वावलम्बन भी आना चाहिये। इस सम्बन्ध में विनोबा जी कहते है "विद्यार्थी को नम्र तो होना चाहिये, परन्तु साथ ही अपने उद्देश्य पर दृढ़ स्वाध्यायी धैर्यशाली और निर्भयी होना चाहिये। वह बुद्धिमान तथा विचार का पक्का हो। जीवन में विजयशाली वीर की तरह प्रवेश करे। वेदाध्ययन पूरा करके गुरूकुल से विदा होकर संसार में लौटने वाले स्नातक के मुख से धर्मशास्त्रों ने कहलाया है "चारों दिशाओं से पृथ्वी मेरे सामने नतमस्तक हो। जब मनुष्य के पास इस प्रकार का ज्ञान होगा तभी उसके द्वारा संसार की कुछ सेवा बन सकेगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विनोबा जी ने अनुशासन और सच्चरित्रता पर विशेष जोर दिया है। उन्होंने युवकों से चाहा है कि वे साहस सेवा और बलिदान की भावना, सहिष्णुता, कर्मठयता, आत्मसंयम, ईमानदारी, विनय और मन तथा विचारों की पवित्रता

जैसे गुण ग्रहण कर विकसित करें। विनोबा जी अपने को जन्मतः विद्यार्थी मानते थे वह मानते है कि जीवन में आनन्द तभी आ सकता है जब शिक्षा प्रकृति के साथ जुड़ी होगी अर्थात "सच्ची शिक्षा प्राकृतिक वातावरण में सम्भव है।" शिक्षा का प्रारम्भ इन्हीं मूलभूति आदर्शों एवं आचार नियमों के अन्तर्गत होने से ही विद्यार्थी का चारित्रिक विकास होगा और एक अच्छे नागरिक का योगदान देश-हित में होगा।

विनोबा जी का बुनियादी शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्तों पर अपना मौलिक चिन्तन है। उन्होंने कहा है "बुनियादी शिक्षा की सहायता से हम अपने जीवन का सम्पूर्ण ढांचा बदल सकते है। सवाल मेरा और आपका नही है। यह समस्या सारे संसार के सामने है। शिक्षा के अन्दर से कृत्रिमता को हटाकर उसे जितनी मात्रा में हम प्रकृति के साथ जोड़ सकेंगे, उतनी मात्रा में हम उन्नति कर सकेंगे। जबाव हमें इस सवाल का देना है कि शहरी क्षेत्रों में बुनियादी शिक्षा का रूप क्या हो। शहरों में रहने वाले लोगों पर मुझे बड़ी दया आती है। क्योंकि वे प्रकृति से बिछुड़ गये है। अंधों, गूंगो, बहरों और अविकसित बुद्धि वालों को शिक्षित करने के लिये हमें एक विशेष पद्धति से काम लेना पड़ता है। प्रकृति से बिछुड़ जाने के कारण शहरी जनता भी इसी प्रकार के एक अभाव का शिकार है। इसलिये उनके शिक्षण का भी हमें कोई उपाय खोजना होगा और ऐसी योजना तैयार करनी होगी, जिससे वह भी प्रकृति से सीधे सम्पर्क में आ सके।"

विनोबा जी के उक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि वह कुत्रिमता से बहुत दूर थे। बुनियादी तौर पर शिक्षा के प्रारम्भ को वह स्वाभाविक, कुदरत के नियमों के अनुसार शुरू किये जाने के समर्थक थे।

स्वामी विवेकानन्द ने प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचार प्रकट किये है। "तुम किसी बालक को शिक्षा देने में उसी प्रकार असमर्थ हो, जैसे कि किसी पौधें को बढ़ाने में। पौधा अपनी प्रकृति का विकास आप ही कर लेता है। बालक भी अपने आपको शिक्षित करता है। पर हाँ तुम उसे अपने ही ढंग से आगे बढ़ने में सहायता दे सकते हो। तुम जो कुछ कर सकते हो, वह निषेधात्मक ही होगा

विधि–आत्मक नहीं। तुम केवल बाधाओं को हटा दे सकते हो, और बस ज्ञान अपने स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जायेगा। जमीन को कुछ पोली बना दो, ताकि इसमें से उगना आसान हो जाये। उसके चारों और घेरा बना दो और देखते रहो कि कोई उसे नष्ट न कर दे। उस बीज से उगते हुये पौधों की शारीरिक बनावट के लिये मिट्टी, पानी और समुचित वायु का प्रबन्ध कर सकते हो, और बस यहीं तुम्हारा कार्य समाप्त हो जाता है। वह अपनी प्रकृति के से ही सबको पचाकर बढ़ेगा। बस ऐसा ही बालक की शिक्षा के बारे में है। शिक्षक ऐसा समझकर कि वह शिक्षा दे रहा है, सब कार्य बिगाड़ डालता है। समस्त ज्ञान मनुष्य के अन्तर में अवस्थित है उसे केवल जागृति–केवल प्रबोधन की आवश्यकता, और बस इतना ही शिक्षक का काम है। हमें बालकों के लिये केवल इतना ही करना है कि वे अपने हाथ पैर, आँखों के उचित प्रयोग के लिये अपनी बुद्धि का प्रयोग करना सीखे।

किसी ने एक को सलाह दी कि गधे को पीटने से वह घोड़ा बन सकता है। गधे के मालिक ने उसे घोड़ा बनाने की इच्छा से इतना पीटा कि वह बेचारा मर ही गया। तो इस प्रकार लड़कों को ठोंक–पीटकर शिक्षित बनाने की जो प्रणाली है, उसका अन्त कर देना चाहिये। माता–पिता के अनुचित दबाव के कारण हमारे बालकों को विकास का स्वतन्त्र अवसर प्राप्त नहीं होता। हर एक में ऐसी असंख्य प्रवृत्तियां रहा करती है, जिनके विकास के लिये समुचित क्षेत्र की आवश्यकता होती है। सुधार के लिये बलात उद्योग करने का परिणाम सदैव उलटा ही होता है। यदि तुम किसी को सिंह बनने न दोंगे, तो वह सियार ही बनेगा।

हमें विधायक विचार सामने रखने चाहिये। निषेधात्मक विचार लोगों को दुर्बल बना देते हैं। क्या तुमने यह नहीं देखा कि जहाँ माता–पिता पढ़ने–लिखने के लिये अपने बालकों के सदा पीछे लगे रहते हैं और कहा करते है कि तुम कभी कुछ सीख सकते, तुम गधे बने रहोगे – वहाँ बालक यथार्थ में वैसे ही बन जाते है। यदि तुम उनसे सहानुभूति भरी बातें करो और उन्हें उत्साह दो समय पाकर उनकी उन्नति होना

निश्चित है। यदि तुम उनके सामने विधायक विचार रखो तो उनमें मनुष्यत्व आयेगा और वे अपने पैरों पर खड़ा होना सीखेंगे। भाषा और साहित्य काव्य और कला हर एक विषय में हमें मनुष्यों को उनके विचार और कार्य की भूलें नहीं बतानी चाहिये, वरन उन्हें वह मार्ग दिखा देना चाहिये जिससे वे इन सब बातों को और भी सुचारू रूप से कर सके। विद्यार्थी की आवश्यकता के अनुसार शिक्षा में परिवर्तन होना चाहिये। अतीत जीवनों ने हमारी प्रवृत्तियों को गढ़ा है इसीलिये विद्यार्थी को उसकी प्रवृत्तियों के अनुसार मार्ग दिखाना चाहिये। जो जहाँ पर उसे वहीं से आगे बढ़ाओ। हमनें देखा है कि जिनको हम निकम्पा समझते थे उनको भी रामकृष्णदेव ने किस प्रकार उत्साहित किया और उनके जीवन का प्रभाव बिल्कुल बदल दिया उन्होंने कभी भी किसी मनुष्य की विशेष प्रवृत्तियों को नष्ट नहीं किया। उन्होंने अत्यन्त पतित मनुष्यों के प्रति भी आशा और उत्साहपूर्ण वचन कहे और उन्हें ऊपर उठा दिया।"

स्वामी जी के उक्त विचारों से शिक्षा क्षेत्र में छाई धुंध मिट जाती है और एक प्रकाशमय विस्तार सामने प्रकट होता है। स्वामी जी चाहते हैं कि बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सहज विकास होने दिया जाये उसके विकास में माता–पिता, परिवार और शिक्षक का सहयोगात्मक योगदान हो। जबरन या बल प्रयोग कर बालकों को अपने अनुसार शिक्षा नहीं दी जानी चाहिये। बालकों में मूलभूत जन्मजात जो गुण व प्रवृत्तियां है वह स्वाभाविक रूप से अपना स्वमेव विकास करेंगी। शिक्षक का कार्य उसे दिशा निर्देशन करना है। शिक्षा में दंड–विधान के स्वामी जी घोर विरोधी है। किसी बालक को मारपीट कर या बल प्रयोग कर उसे उठाया नहीं जा सकता है बल्कि विपरीत परिणाम यह होगा कि उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ कुंठित होंगी और वह जीवन में विकास कर आगे नहीं बढ़ सकेगा और इस प्रकार उसका विकास का मार्ग अवरूद्ध हो जावेगा।

महात्मा गाँधी केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं थे बल्कि वह एक बड़े समाज सुधारक, धर्म तथा दर्शन के ज्ञाता थे। उन्होंने अपने समय की पुस्तकीय, सैद्धान्तिक,

संकुचित और परीक्षा प्रधान शिक्षा में सुधार हेतु अनेक सुझाव दिये थे और अन्त में १६३७ में एक राष्ट्रीय शिक्षा योजना प्रस्तुत की थी जिसे बेसिक शिक्षा कहते है। यह योजना भारत के आम आदमियों की मूलभूत आवश्यकताओं के सामने रखकर बनाई गई थी यह हमें हमारी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तैयार करती है। उच्च शिक्षा कें संदर्भ में गाँधी जी ने विशेष रूप से कुछ नहीं कहा है।

उनके शब्दों में "साक्षारता न तो शिक्षा का अंत है और न प्रारम्भ यह केवल एक साधन है जिसके द्वारा पुरुष और स्त्रियों को शिक्षित किया जा सकता है।" गाँधी जी के अनुसार कर के सीखना और स्वयं के अनुभव से सीखना ही उच्च सीखना होता है। ज्ञान को पूर्ण इकाई के रूप में प्रस्तुत करना एवं उसे किसी क्रिया के माध्यम से विकसित करना उनकी शिक्षण विधि के मुख्य आधार थे। वह इस बात पर बल देते थे कि बच्चों को जो कुछ सिखाया जाये वास्तविक ढंग से सिखाया जाये इसलिये वह किसी हस्त–कौशल अथवा उद्योग कार्य प्राकृतिक पर्यावरण या सामाजिक पर्यावरण को शिक्षा का केन्द्र बनाने और समस्त ज्ञान एवं क्रियाओं को उसके माध्यम से विकसित करने पर बल देते थे। इस प्रकार शिक्षण करने से बच्चों की शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में समन्वय होता है, वे श्रम के महत्व को समझते है और व्यावहारिक जीवन के लिये तैयार होते है।

एक तो बालकों को शिक्षित करने के लिये उन्होंने बेसिक शिक्षा योजना प्रस्तुत की। यह शिक्षा की राष्ट्रीय योजना थी जिसमें 7 वर्ष से 14 वर्ष तक के बालकों की अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा पर बल दिया गया था। इस शिक्षा को गाँधी जी ने हस्त कौशल पर केन्द्रित किया। एक तो इसलिये कि हस्त कौशल हमारे जीवन के आधारभूत कार्य हैं और दूसरे इसलिये कि उनके द्वारा विद्यालयों का खर्च निकल सकता है और यह शिक्षा सबके लिये सुलभ की जा सकती है।

गाँधी जी की नयी तालीम को बहुत से लोग प्रारम्भिक शिक्षा के लिये तो उसे उपयोगी मानते है, लेकिन उच्च शिक्षा के लिये प्रचलित पुस्तकीय पद्धति को ही ठीक

समझते है। कई लोगों की मान्यता है कि तालीम के प्रश्न पर गाँधी जी ने केवल प्रारम्भिक शिक्षा पर ही विचार किया था। लेकिन ऐसा सोचना गाँधी जी के साथ अन्याय है। शुरू से ही उन्होंने माना था कि नयी तालीम का क्षेत्र समाज के हर स्तर पर है। उनके अनुसार नयी तालीम का क्षेत्र जन्म से मृत्यु तक है। उनके लिये शिक्षा सम्पूर्ण जीवन का पर्याय थी। उस वक्त उन्होंने मुख्य रूप से 7 से 15 वर्ष की उम्र के स्तर की ही चर्चा की।

गाँधी जी ने उत्पादन की प्रक्रिया तथा सामाजिक वातावरण शिक्षा के दो मुख्य माध्यम चुने। उत्पादन को उन्होंने जिन्दा रहने की चेष्टा के साथ जोड़ दिया यानी उन्होंने ऐसा उद्योग चुना जो बालकों की तत्कालिक आवश्यकताओं से जुड़ा हुआ हो। इसलिये उन्होंने बुनियादी तालीम का प्रथम माध्यम बागवानी और कटाई को रखा।

डा. जाकिर हुसैन कमेटी ने ऐसी प्रणाली तथा अभ्यास की खोज की, जो वर्तमान प्रणाली से मिलती जुलती हो, लेकिन लक्ष्य की ओर एक कदम आगे हो। पुरानी तालीम में प्राइमरी, सेकेण्डरी और कालेज के जो दर्जे है कमेटी ने उसी तरह के दर्जे रखने की सिफारिश की। उसने बुनियादी के बाद उत्तर बुनियादी की बात की। फिर बाद में नर्सरी स्कूल के स्थान पर पूर्व–बुनियादी के दर्जे रखे गये। योजना–समिति की रिपोर्ट को देखने से स्पष्ट मालूम हो जायेगा कि सारी योजना पुरानी तालीम से एक ही कदम आगे बढ़ने की है। नई तालीम की योजना के अनुसार जीवन के विभिन्न कर्म ही शिक्षण के विषय होने चाहिये। खेती उद्योग, सामाजिक व्यवस्था आदि।

इस बात का हमेशा ख्याल रखना होगा कि बाल–मंदिर का लक्ष्य उद्योग का शास्त्रीय ज्ञान नही है, लक्ष्य है उद्योग के लिये संस्कार–निर्माण तथा उसकी कला का प्राथमिक बोध कराने का अतएव बच्चा देखकर जितना सीख सीखने देना चाहिये। कोई बात वकायदा सिखाने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। वस्तुतः बागवानी और उद्योग की प्रक्रिया बच्चों के लिये उत्पादन की प्रक्रिया नहीं होगी, केवल काम में दिलचस्पी पैदा करने की होगी। इसलिये इन सारे कामों को इस तरह संगठित करना होगा,

जिसमें बच्चे उसे खेल समझे।

बच्चे चाहे जितना सामान तोड़ते–फोड़ते रहे या चीजों को इधर–उधर बिखेरते रहे, उन्हें डांटा–डपटा न जाये। शिक्षक को साथ रहकर चीजों का सही उपयोग बताना चाहिये और व्यवस्था का संस्कार डालना चाहिये। बच्चों को संगीत नृत्य कहानी आदि के माध्यम से शिक्षित करना चाहिये।

डा. सलामत उल्ला ने लिखा है – बेसिक शिक्षा आठ वर्ष की अनिवार्य शिक्षा बालकों को समस्त मूलभूत योग्यताओं, कुशलताओं तथा दृष्टिकोणों को एकतंत्रीय समाज की स्थापना तथा उसको दृढ़ बनाने के लिये अनिवार्य है, को सुसज्जित करती है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण सहयोगी ढंग से अपने कार्य को करने तथा समाज में व्यक्तिगत रूप से अपने दायित्वों को पूर्ण करने की योग्यता है। बेसिक शिक्षा इसको प्राप्त करने के लिये विद्यालय में सामाजिक रूप से लाभप्रद क्रियाओं को प्रदान करती है।"

बुनियादी शिक्षा पद्धति के पाँच प्रमुख सिद्धान्त है। वर्धा–सम्मेलन ने गम्भीर विचार–विमर्श के पश्चात इन्हें स्वीकार किया गया है। इन सिद्धान्तों पर ही गाँधीवादी शिक्षा–दर्शन की आधारशिला अवस्थित है। ये सिद्धान्त निम्नलिखित है –

1. सात वर्षों की निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा
2. मातृ भाषा द्वारा शिक्षा
3. किसी मूल उद्योग के आधार पर शिक्षा
4. समवायी शिक्षा
5. स्वावलम्बी शिक्षा

मूल उद्योग पर आधारित शिक्षा के सम्बन्ध में डा. जाकिर हुसैन ने स्पष्ट कहा है कि जो काम का स्थान रखा गया है, वह केवल शिक्षा दृष्टि से ही है। अतः उसके आर्थिक पहलू पर जरूरत से अधिक बल देने से शिक्षा नहीं हो सकती।

स्वावलम्बन किस हद तक हो तथा स्वावलम्बन के फेर में कहीं शैक्षिक पहलू

का ह्रास न हो, इस पर जोर दिया गया है। अरविन्द घोष के अनुसार बालक की प्रारम्भिक शिक्षा में यह आवश्यक है कि बालकों को शिक्षक पर इतना आश्रित और अबलम्बित न बना दिया जाये कि वे उन्हें जैसा चाहे घुमा दें, अर्थात बालक शिक्षकों के विचार के सर्वथा दास हो जाये। शिक्षक का कार्य मार्गदर्शक और सहायता का है। उन्हें स्वेच्छानुसार निर्मित करने से अधिक श्रेयस्कर है कि स्वयं की प्रवृत्तियों के अनुसार उनकी विकसित होने का अवसर दिया जाये। शिक्षक और अभिभावक बालकों पर ज्ञान का बोझ नहीं लादे, अपितु उनकी आंतरिक शक्तियों का पता लगावे और तदनुरूप ऐसे साधन जुटावें, जिससे बालक बिना किसी त्रुटि और अवरोध के स्वतः ज्ञान की उपलब्धि करे। अध्यापक से बच्चे के मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने की आशा नहीं की जाती। वस्तुतः उसे यह दिखलाना चाहिये कि बच्चा किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करने का ढंग बतलाता है, विद्यार्थी स्वतः अपने लिये ज्ञान प्राप्त कर लेंगे।

डा. राधाकृष्णन "सरल जीवन और उच्च्व विचार" के आदर्श को मान्यता देते है। भारतीय आध्यात्मवाद भी इसी की शिक्षा देता है। हमें अपनी अवांछनीय अप्राकृति असामाजिक इच्छाओं और तृष्णाओं को दबाकर उनका दमन कर सरलता की ओर उन्मुख होना पड़ेगा। चरित्र निर्माण के लिये आवश्यक है कि शिक्षा की बुनियाद में इन सिद्धान्तों का समावेश किया जाये।

डा. जाकिर हुसैन ने अपने एक प्रसंग में "बच्चा भी एक व्यक्तित्व है, वह कोई बेजान चीज नहीं, खिलौना नहीं, गुड़िया नहीं।" उनके अनुसार बच्चा के विकास के लिये उसके व्यक्तित्व की रक्षा करना आवश्यक है। बच्चा को अपना माल समझकर उस पर अपना जोर चलाना बच्चों के विकास के लिये घातक है। अपने छोटे होने, कमजोर होने, बड़े भाई से दबे होने, चाहते भाई की सौतेली बहन होने और माँ–बाप की तरफ से हेटा समझे जाने का ख्याल उसके दिल में बैठ जाता है, तो वह उसका सारा जीवन उसी के हटाने, मिटाने की फिक्र में और यत्न करने में लग जाता है। इस प्रकार की गलतियां माँ–बाप और शिक्षक से भी होती है। विद्याधन के लिये बुनियादी

सवाल यह है कि शिक्षक जानकारी कर कि जिस प्रकृति ने बच्चे को बनाया है। उसका पता लगाये उस पर ध्यान दे उसको सहारा दे। शिक्षक का प्राथमिक और प्रमुख्य कार्य है। डा. साहब ने बच्चों पर अनुचित दबाव डालने और उन्हें एक निर्धारत परम्परा पर जबरदस्ती के ठूंसने के प्रयास का तीव्र विरोध किया है। इसमें बच्चे की प्रतिभा कुंठित हो जाती है और माता–पिता की इच्छाएं भी कभी पूरी नहीं हो पाती।

बच्चों के विकास और उनकी शिक्षा–व्यवस्था के सम्बन्ध में डा. साहब के आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित व्याख्यान अत्यन्त प्रासंगिक है। उन्होंने कहा है कि – "इसके बिल्कुल विपरीत एक भूल माँ–बाप और बड़ों से यह होती है कि वे बच्चों को हीन और तुच्छ समझते है। अपना बड़प्पन जताने के लिये इन्हें बेचारा बच्चा ही मिलता है। बुद्धू है, गधा है, निकम्मा है किसी मतलब का नहीं – 'यानी बात–बात पर बरस पड़ते हैं, उसे शर्मिन्दा करते है। सबके सामने उसके दोष गिनवाते है उनका अपमान करते है। ये ही बच्चे जिन पर बड़ों की देखरेख रहती है। बड़े होकर किसी चीज को अच्छा नहीं समझते हरेक को उटकाते है। न किसी की तारीफ करते हैं, नतारीफ सुन ही सकते है। बचपन में उन्हें अपमानित किया गया था, अब ये इसका बदला लेते है और सबको बुरा समझते है। दुनिया से जैसे इनको अनवन होती है। बच्चे को बचपन में अपमानित और निराश करके बुजुर्ग उसकी सारी जिन्दगी की खुशी का बेकार बना सकते है।

बचपन में कुछ मौके ऐसे आते है, जबकि बच्चे को अपनी कमियों का दूसरों से हीन होने का तीव्र अनुभव हो जाता है। यही समय बच्चे को सहारा का होता है। इस समय की थोड़ी सी मूल या असावधानी से उनके मानसिक जीवन के एक अपूरणीय क्षति पहुँच सकती है।" आगे उन्होंने कहा है कि "हाँ क्या कीजिये। मामला कुछ यों ही है। न जरूरत से ज्यादा तारीफ बच्चे के लिये अच्छी है, न बेजा सख्ती न इतना गिराइएं कि फिर कदम ही न उठा सके, न इतना चढ़ाइए कि जमीन पर पाँव ही न रखे। छोटी सी बात है, अगर वह समझ में आ जाए। यानी बच्चे को ईश्वर का अंश समझए। वह

आपकी सम्पत्ति है न वह आपका खिलौना। वह तो आपके पास ईश्वर और मनुष्यता की धरोहर है। उसको जो सहज वृत्तियां प्रकृति ने प्रदान की है।, उन्हें न बहुत उकसाकर बिझड़िए न बहुत दबाकर और हाँ इस बात का दूसरा पहलू भी याद रहे कि अगर बच्चा आपका खिलौना नही है, तो आप भी ईश्वर के अंश है बस कुछ अधिक अनुभवी। न आप उस पर जुल्म करें न वह आप पर। न आप उससे खेंले न वह आपसे। दोनों का एक दूसरे का भरोसा हो, प्रेम हो और अगर ईश्वर दे तो आपमें कुछ थोड़ी–सी और समझ बस।"

डा. साहब एक भाषण 10 मार्च 1936 को आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रसारित हुआ। "बच्चों का विकास" विषय पर उन्होंने बहुत महत्वपूर्ण विचार रखे है उसका कुछ अंश इस प्रकार है "अधिक परिवार वाले परिवारों में प्रायः इस बात से बच्चों की मानसिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ता है कि उनका स्थान उन बच्चों में क्या है ? प्रायः सबसे छोटा बच्चा या तो सबसे तेज होता है या बिल्कुल निकम्मा। कारण स्पष्ट ही है। यह सबसे कम उम्र का होता है इसलिये सबसे आगे बढ़ना चाहता है। अगर क्षमता है और परिस्थिति अनुकूल है तो वह तेजी से बढ़ता है और सबसे आगे निकल जाता है। अगर शक्तियां उत्साह साथ नहीं देती, तो वह बिल्कुल शिथिल होकर निराशा से कंधा डाल देता है। सबसे छोटे बच्चे के लिये खतरा भी है कि कुछ न हो, और यह संभावना भी कि सब कुछ हो जाये। इसकी अपेक्षा सबसे बड़ा बच्चा प्रायः शक्ति का पुजारी बल प्रयोग का समर्थक सरकार और कानून का साथी होता है, क्योंकि इसने अपने पूर्ण महत्व की महिमा देखी है और जब दूसरे बच्चों के जन्म लेने से यह अधिकार या महत्व कुछ छीना गया, यह अब से उसे और भी कीमती समझने लगा है।"

26 अप्रैल सन 1936 ने आल इण्डिया रेडियो से प्रसारित भाषण के कुछ अंश इस विषय पर महत्वपूर्ण है –

"बच्चे पर अध्यापकों के पक्षपात, अन्याय और धार्मिक कट्टरता का इतना

गहरा प्रभाव पड़ता है कि यह प्रायः जीवन भर दूर नहीं होता और मदरसे के बहुत से दूसरे अच्छे प्रभाव भी इस कटु अनुभव के कारण मिट जाते हैं।

फिर दंडविधान में भी अध्यापक से ऐसी गलतियां होती है कि उचित विकास का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। दंड का अगर कोई शिक्षा और विकास सम्बन्धी महत्व है, तो बस यही कि यह एक प्रायश्चित करने का उपाय है, जिससे मन की खटक दूर हो जाती है। इसलिये दंड को कभी डराने–धमकाने का साधन न बनाना चाहिये। बल्कि इसे अपराध के अनुभव से मुक्त करने का साधन होना चाहिये, वर्ना यह विकास की राह में बाधक होता है। उचित और हितकर दंड तभी संभव है, जब कि बच्चे को अपने अपराध का ज्ञान हो जाए, इस पर खेद और लज्जा का अनुभव हो और इसके मन में आप ही प्रायश्चित और पश्चाताप की भावना जग उठे, वरन दंड फिर एक आतंक ही है, सुधार का साधन नहीं और शारीरिक दंड सदा प्रतिकूल पड़ता है। शारीरिक दंड प्रायः बच्चों में अनादर की भावना पैदा करता है। किसी को अपमानित करके उनके शिष्टाचार की क्षमताओं और आत्मिक शक्तियों को उभारा नहीं जा सकता। फिर यह दंड शरीर को कष्ट देता है और शारीरिक कष्ट बिल्कुल एक मशीन की तरह हमारा सारा ध्यान अपनी ओर खींच लेता है और आत्मा की सभी शक्तियों को विद्रोही बना देता है। विद्रोह का यह भाव दंड मिलने के बाद विरोध के रूप में विद्यमान रहता है और इस तरह दंड देने का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। इस तरह की ओर बहुत सी गलतियां मदरसे में होती है, जिनसे बच्चे के मस्तिष्क का रूप गलत सांचे में ढल जाता है और वह फिर सारे जीवन को उसी रंग में रंगना चाहता है।

डा. जाकिर हुसैन ने बच्चों की शिक्षा प्रारम्भ करने और उनका विकास स्वाभाविक रूप होने के लिये अपने श्रेष्ठ सुझाव दिये है। आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से दिनांक **31 मई 1942** में प्रसारित उनके भाषण के कुछ अंशों का उल्लेख किया जाना उचित है। उन्होंने कहा है कि "बच्चे को मनुष्य का अग्रदूत (पेशरू) समझें अपने सहारे खुद भी बढ़ने दे, उसकी प्राकृतिक क्षमताओं और प्रवृत्तियों का सम्मान करें, और

समझें कि यह छोटा जीव अपने विकास की क्रियात्मक पूर्ति की ओर खुद कदम उठाता है। इसे सहारा दीजिये, रास्ते से कांटे हटा दीजिये, मगर इसके चलने की दिशा तो न बदलिये। न इसकी ओर इतना ध्यान दीजिये कि यह फिर खुद अपनी ओर ध्यान ही न दे सके, न इतनी उदासीनता ही रखिये कि इसकी वे आवश्यकतायें भी पूरी न हों, जिनमें यह सचमुच आपके आधीन है। न लाड़ प्यार ज्यादती से इसे 'मिर्जा फोमा' बनाइये, न ऐसा ही कि आपकी कठोरता के कारण यह जिन्दगी कम–से–कम आदमियों से घृणा करने लगे।"

महान शिक्षाविदों के उक्त विचारों के प्रकाश में निष्कर्ष यह निकलता है कि वर्तमान शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं को निदान के लिये इन शैक्षिक विचारों का समन्वय करते हुये शिक्षानीति पुख्ता की जाये। सामाजिक और पारिवारिक सौहार्द के लिये गुरूकुल पद्धति के अनुरूप विद्यालय का वातावरण बनाया जाये। कृत्रिमता से दूर रहा जाये। विद्यालयों में स्वअनुशासन पर ध्यान दिया जाये और शिक्षा को प्राकृतिक वातावरण से जोड़ा जाये। बच्चों के विकास में आ रही बाधाओं को हटाना ही हमारा कर्त्तव्य होना चाहिये, ज्ञान अपने–अपने स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जायेगा। बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सहज विकास होने दिया जाये। इन महान शिक्षा–शास्त्रियों ने शिक्षा में दंड–विधान के घोर विरोधी किया है। किसी बालक को मार–पीटकर या बल प्रयोग कर उसे उठाया नहीं जा सकता बल्कि विपरीत परिणाम होगा कि उसके स्वाभाविक प्रवृत्तियां विकास कर आगे नहीं बढ़ सकेंगी और इसके विकास का मार्ग अवरूद्ध हो जायेगा। गाँधी जी ने शिक्षा के साथ हस्त कौशल पर भी बल दिया और हस्त कौशल को शिक्षा के साथ जोड़ने का जोरदार समर्थन किया है और नई तालीम में उसे मुख्य आधार के रूप में लिया है। डा. राधाकृष्णन ने शिक्षा में सरल जीवन और उच्च्व विचार के आदर्शों को मान्यता दी है।

माध्यमिक शिक्षा

महात्मा गाँधी के शब्दों में उत्तर बुनियादी तालीम का लक्ष्य "एक ऐसे नये समाज का निर्माण करना है जिसकी नींव न्याय पर हो – जिसमें अमीर और गरीब का भेद–भाव न हो, जहाँ सबको आजादी का हक हासिल हो और अपनी उन्नति का विश्वास हो।" इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये सामाजिक जीवन और सामाजिक कार्यों को शिक्षा के एक प्रधान माध्यम के रूप में ग्रहण करना होगा। ग्रामीण कार्यों को भी उत्तर बुनियादी तालीम के माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाये। सामुदायिक सफाई, सामुदायिक भोजन सम्बन्धी कार्य, अतिथि–सेवा, सामुदायिक स्वास्थ्य–रक्षा की व्यवस्था, सामूहिक प्रार्थना और उत्सव, पर्वादि के आयोजन द्वारा विद्यार्थियों में सहयोगी और सामाजिक वृत्ति पैदा होती और उन्हें इन सबके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है। शिक्षार्थी लोग गाँव की खेती, गाँव के जीवन और गाँव की समस्याओं के निकट सम्पर्क में आकर ग्राम–निर्माण और ग्रामोन्नति के कार्यों में सहायता पहुँचायेंगे तो उन्हें ग्राम–निर्माण और सामुदायिक सेवा कार्यों का ज्ञान प्राप्त होगा और उनमें समाज–सेवा की उपयोगी वृत्तियां पैदा होगी।

नई तालीम में विशेषतः उत्तर–बुनियादी में पुरानी पद्धति के अनुसार परीक्षा लेना वांछनीय और फलदायक नही है। आत्म–समीक्षा की पद्धति अधिक उन्नति पद्धति है। डा. आर्थर ई. मार्गन (चेयरमेन टेनीसी वैली ट्रस्ट, अमेरिका) ने भारतीय विश्वविद्यालय आयोग के सदस्य के रूप में उसके लिये जो स्मृतिपत्र तैयार किया (सन 1949) उसमें ग्रामीण–भारत की उच्च शिक्षा की योजना तैयार करने के प्रसंग में उत्तर–बुनियादी शिक्षा (माध्यमिक शिक्षा) कैसी होनी चाहिये उसका एक चित्र अंकित किया। एक विदेशी मनीषी के मत से वर्तमान स्थिति में इस देश की माध्यमिक शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिये।

उन्होंने लिखा है "ग्रामीण माध्यमिक विद्यालय (जहां सम्भव हो) आवासीय होना चाहिये। 150 छात्रों के एक विद्यालय के लिये, स्थिति के अनुसार 40 से 50 एकड़

तक भूमि रहेगी। इसमें 10-15 एकड़ भूमि विद्यालय–भवन, छात्रावास खेल का मैदान, कारखाना और शिक्षालय के लिये तथा बाकी भूमि कृषि वन और चारागाह के लिये रहेगी। सुयोजित आधुनिक युग को जैसा होना चाहिये, उसके अनुसार ही जहाँ तक सम्भव हो योजना बनाकर विद्यालय के मैदान रास्तों और घरों का निर्माण करना होगा। छात्र–छात्राओं के अपने गाँव कैसे होने चाहिये, इसके लिये विद्यालय दृष्टांत स्वरूप होगा। विद्यालय की जीवन यात्रा आदर्श गाँव की भांति चलेगा।

माध्यमिक विद्यालयरूपी गाँव भूमि और घर आदि को छोड़कर अन्याय सभी विषओं में यथासम्भव स्वावलम्बी होगा। सुयोजित तथा सुव्यवस्थित शिल्प की सहायता से यह स्वावलम्बन सहज–साध्य हो जायेगा। विद्यालय के लिये आवश्यक खाद–पदार्थों का अधिकांश विद्यालय में ही उत्पन्न होगा। भूमि से किस प्रकार अधिकाधिक फसल प्राप्त की जा सकती है, यह बात छात्र विद्यालय से सीखेंगे। माध्यमिक विद्यालय को वर्तमान संसार के साथ कदम मिलाकर चलना चाहिये।

अध्ययन के समय छात्रगण सर्वांगीण संतुलित शिक्षा प्राप्त करेंगे। वे भूगोल, भूतत्व और ज्योतिष–शास्त्र का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करेंगे। प्राणिशास्त्र से भी वे परिचित रहेंगे। वे अपने प्रदेश, भारत और संसार के इतिहास के सम्बन्ध में साधारण ज्ञान प्राप्त करेंगे। अच्छे साहित्य से भी परिचित रहेंगे। व्यावहारिक कार्य के लिये उन्हें गणित सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान रहेगा। प्रादेशिक और राष्ट्रीय राज–व्यवस्था के सम्बन्ध में उन्हें आधार व ज्ञान रहेगा। शरीर–चर्चा–सम्बन्धी शिक्षा सार्वजनिक होनी चाहिये।

बुनियादी माध्यमिक शिक्षा को यदि स्वावलम्बी बनाना है तो उससे सम्बद्ध सारी जीवन–यात्राओं का स्तर सीधा–सादा होना चाहिये। कुछ विश्वविद्यालयों के भवन राजप्रसादों की भांति है। बुनियादी माध्यमिक विद्यालय को राजप्रसाद की परम्परा त्याग देना चाहिये। सरल आडम्बरहीन और अल्पव्ययी जीवन–यात्रा शुद्ध, सुविधाजनक और आकर्षक हो सकती है। वस्त्र साधारण और सुरूचि–सम्पन्न होने चाहिये। आवश्यक वस्त्र साधारणतः विद्यालय में ही तैयार होना चाहिये। इन विद्यालयों में सीधे–सादे ढंग

का भोजन तैयार किया जाना चाहिये। भोजन स्वास्थ्यवर्धक हो और उसमें भोजन की इच्छा भी पूरी होनी चाहिये। माध्यमिक विद्यालय रूपी भाव इस बात का दृष्टान्त उपस्थित करेगा कि वे किस प्रकार उन्नति करके समृद्धिशाली बन सकता है। विनोबा जी के अनुसार नयी तालीम में एक निर्दिष्ट आयु तक स्वावलम्बी बनाने के लिये शिक्षा की व्यवस्था की जाती है और उसके बाद छात्र को स्वावलम्बी मानकर वैसे उच्च स्तर के शिक्षाक्रम का निर्माण किया जाता है, वह हमारे देश की प्राचीन परम्परा के अनुरूप ही है।

जनवरी 1944 में केन्द्रीय सरकार के शिक्षा–परामर्शदाता मंडल ने युद्धोत्तर–शिक्षा विकास की एक योजना तैयार की। सार्जेन्ट साहब उस केन्द्रीय शिक्षा–परामर्शदाता मंडल के संयोजक थे। इसलिये इस योजना को "सार्जेण्ट स्कीम" या "सार्जेण्ट–योजना" के नाम से जाना गया। उस समय तक महात्मा गाँधी की बुनियादी या बेसिक शिक्षा का नमूना आ गया था। उसमें थोड़ा परिवर्तन करके सार्जेण्ट साहब ने अपनी शिक्षा योजना में शामिल किया। सार्जेण्ट साहब ने जब उच्च विद्यालय (हाईस्कूल) स्तर की शिक्षा के बारे में विचार किया, तब उनके सामने उत्तर बुनियादी शिक्षा की रूपरेखा नहीं थी। उन्होंने हाईस्कूल शिक्षा के उस स्वरूप का समर्थन नहीं किया जो एक लम्बे समय से प्रचलित था। उनके विचार से हाईस्कूल के शिक्षाक्रम में ऐसे अनेक व्यावहारिक विषय शामिल होने चाहिये, जिसके कारण विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा न पाने पर भी हाईस्कूल उत्तीर्ण छात्र प्रत्यक्ष जीवन क्षेत्र में विविध व्यवसायों में प्रवेश पाने के योग्य बन सके।

इन शिक्षा–योजनाओं का जिस समय निर्माण किया था, उस समय भारत स्वाधीन नहीं था। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार ने पूर्ववर्ती भारत–सरकार द्वारा अपनायी गयी प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा–स्तर की दोनों योजनाएं स्वीकार की।

1956 में सेवाग्राम में जो अखिल भारतीय उत्तर–बुनियादी सम्मेलन आयोजित

हुआ, उसमें नम्रता एवं दृढ़ता के साथ यह विचार व्यक्त किया गया "भारत सरकार को अब इस बात को स्वीकार कर लेना चाहिये कि माध्यमिक शिक्षा का रूप भी बुनियादी तालीम का ही विकसित रूप हो और विश्वविद्यालय की शिक्षा भी नयी तालीम के सिद्धान्तों पर ही आधारित हो।" इसी कारण सम्मेलन ने भारत–सरकार से सिफारिश की "वह माध्यमिक और विश्वविद्यालय की शिक्षा में इस तरह के परिवर्तन करने का शीघ्र निश्चय करे और उसको कार्यान्वित करने का आवश्यक प्रबन्ध करे।

मुदालियर आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के विषय में संस्तुति की। सम्पूर्ण शिक्षा पर विचार करने के लिये कोठारी आयोग का प्रतिवेदन एक विशाल ग्रन्थ है। आयोग ने विज्ञान की शिक्षा पर बल दिया है शिक्षा के व्यवसायीकरण और कृषि शिक्षा की बात की है, कार्यानुभव को शिक्षा के सभी स्तरों पर अंगीकार करने का सुझाव दिया है, सामान्य विद्यालय प्रणाली की बात की है और विद्यालय–संकुल का सुझाव दिया है। आयोग ने शिक्षा की उत्पादकता से सम्बद्ध करने, राष्ट्रीय एकता के लिये सामान्य भाषा–नीति विकसित करने, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तीव्र गति प्रदान करने के लिये शिक्षा–नीति का विकास करने एवं अध्यापक–शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने की संस्तुति की है।

1952-53 मुदालियर 'माध्यमिक शिक्षा आयोग' की रिपोर्ट में इस प्रकार का कथन मिलता है।

"भारत ने अभी हाल में अपनी राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त की है और सावधानीपूर्वक विचार करने के बाद अपने को धर्म–निरपेक्ष जनतान्त्रिक गणराज्य में रूपान्तरित करने का निश्चय किया है। इसका अभिप्राय है कि शिक्षा प्रणाली को अपना योगदान नागरिकों की आदतों, अभिवृत्तियों, चारित्रिक गुणों के विकास में अवश्य करना चाहिये, जो इसके नागरिकों को जनतान्त्रिक नागरिकता के उत्तरदायित्वों को योग्यतापूर्वक धारण करने में तथा एक व्यापक राष्ट्रीय तथा धर्म–निरपेक्ष दृष्टिकोण के उद्विकास में बाधा डालने वाली हानिकारक प्रवृत्तियों का सामना करने में समर्थ बनायेगी।" (मुदालियर

माध्यमिक शिक्षा आयोग रिपोर्ट पृ. 19)

1964-65 के कोठारी आयोग की रिपोर्ट में हमें नीचे लिखे शब्द मिलते हैं –

"हमारी राय में इसलिये शिक्षा को रूपान्तरित करने से उसे लोगों के जीवन, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के साथ जोड़ने से तथा इसके द्वारा हमारे राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये आवश्यक सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूपान्तरण का एक शक्तिशाली साधन बनाने से बढ़कर कोई सुधार नही हैं।"

संविधान के अनुच्छेदों 1, 14, 15, 16, 17, 24, 26, 28, 29, 30, 41, 45, 46, 246, 337, 338, 340, 343, 344, 345, 346, 347, 350 तथा 351 में शिक्षा के विविध पक्षों की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। ब्रिटिश भारत में प्रमुख गोखले (1910 अनिवार्य तथा निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा) तथा महात्मा गाँधी (1993 बेसिक शिक्षा) है। इन सबमें शिक्षा आयोग (1964-65) सम्भवतः एक ऐसे आयोग था जिसने शिक्षा के सभी स्तरों तथा सम्बन्धित पेशे पर अपना विशद विवेचन प्रस्तुत किया और एक बीस–वर्षीय योजना भी प्रस्तुत की।

भारत में माध्यमिक शिक्षा का इतिहास आज से करीब 93 वर्ष पुराना है। इस प्रकार की शिक्षा का सर्वप्रथम प्रयोग हण्टर आयोग (1882) ने किया।

स्वतन्त्रता के उपरान्त सर्वप्रथम ताराचन्द्र समिति (1948) ने शिक्षा क्षेत्र में उल्लेखनीय सिफारशें की। वर्ष 1952-53 में "माध्यमिक शिक्षा आयोग" का गठन किया गया।

दुर्भाग्य से भारत में ब्रिटिश शासकों द्वारा इसके प्रतिकूल प्रक्रिया अपनाई गई। इस देश में अंग्रेजी शासन प्रारम्भ होने से पूर्व हिन्दी पाठशालाओं तथा मुस्लिम मकतब के मदरसों द्वारा जनसाधारण को प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर की शिक्षा उपलब्ध थी।

असन्तुलित परिमाणात्मक विकास के कारण माध्यमिक शिक्षा का स्तर

निरंतर गिरना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त माध्यमिक शिक्षा के परम्परागत ढांचे उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण–विधि एवं परीक्षा प्रणाली ने देश की आवश्यकताओं के अनुकूल मूलभूत परिवर्तन न होने के कारण इसके दोष पूर्ववत बने हुये हैं तथा यह निरर्थक सिद्ध हो रही है। आज की माध्यमिक शिक्षा मुख्यतः पुस्तकीय एवं परीक्षा नियन्त्रित है जो केवल कालेज शिक्षा के लिये ही तैयारी का माध्यम है। व्यावसायीकरण के अभाव तथा जीवन से असम्बद्ध होने के कारण माध्यमिक शिक्षा का अपेक्षित परिणाम नहीं मिल पाया है।

कोठारी शिक्षा आयोग (1966) ने माध्यमिक शिक्षा के पुर्नगठन एवं स्तरीत्रयन की दिशा में 10+2+3 शिक्षा योजना को अपनाये जाने की अभिशंसा की। इस सूत्र के अनुसार 10 वर्षीय सामान्य विद्यालयी शिक्षा 2 वर्षीय व्यावसायिक एवं अकादमिक दो धाराओं में विभक्त विशेषीकृत उच्च माध्यमिक शिक्षा तथा 3 वर्षीय स्नातक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। 10 वर्षीय सामान्य शिक्षा में कार्यानुभव एवं शारीरिक शिक्षा अभिन्न अंग है। विशेषीकरण कक्षा 9 की अपेक्षा कक्षा 11 से प्रारम्भ करना है। शुक्ला राष्ट्रीय शिक्षा समिति ने भी इस योजना की पुष्टि की है। NCERT द्वारा प्रस्तुत 10 वर्षीय सामान्य विद्यालयी शिक्षाक्रम पर राष्ट्रीय सम्मेलनों में विचार विमर्श हुआ है। सभी राज्यों ने सिद्धान्ततः इसे स्वीकार किया है। केन्द्रीय शिक्षा बोर्ड ने इस पाठ्यक्रम को 1975-76 सत्र से लागू भी किया है।

6 से 8 मार्च 1976 तक दिल्ली में 10+2+3 योजना पर विचार विमर्श हेतु देश के सभी जिला–शिक्षा अधिकारियों का एक सम्मेलन बुलाया गया था जिसको प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी ने सम्बोधित करते हुये कहा था "अत्यन्त खेद है कि हमने 3 दशक परम्परागत अनुपयोगी ऐसी शिक्षा पद्धति को अपनाकर व्यर्थ नष्ट कर दिये जिसने बालकों व नवयुवकों में हिंसा की प्रवृत्ति उत्पन्न की है। विद्यालयों में बालकों को इस प्रकार शिक्षित किया जाना है जिससे कि उनमें देश के प्रति सम्मान, गौरव एवं आत्म विश्वास की भावना विकसित हो। यदि बालक को उत्तरदायितव पूर्ण विधि से

शिक्षित किया जाता है, तो निश्चित रूप से उसमें उत्तरदायित्व की भावना जागृत होगी।'' ये राष्ट्र माध्यमिक शिक्षा की वर्तमान असन्तोषजनक स्थिति को दर्शाता है।

आशा है माध्यमिक शिक्षा के विकास की भावी दिशा स्वाधीनोत्तर काल में अब तक हुई प्रगति का समुचित पुनर्वीक्षण एवं पुर्नमूल्यांकन कर पुर्नगठन द्वारा निर्धारित की जायेगी जिससे कि वह दोष मुक्त हो, देश के प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण युवा पीढ़ी का निर्माण कर सके।

उच्च शिक्षा

भारत के शिक्षाशास्त्रियों ने उच्च शिक्षा के पाँच उद्देश्यों की ओर संकेत किया है –

1. सत्यान्वेषण में प्रवृत्त करना।
2. उचित नेतृत्व का निर्माण करना।
3. विविध व्यवसायों के लिये प्रशिक्षण प्रदान करना।
4. समानता तथा सामाजिक न्याय की अभिवृद्धि हेतु प्रयत्नशील बनाना।
5. नूतन जीवन–दृष्टि एवं नवीन जीवन–मूल्यों के विकास हेतु प्रोत्साहन देना।

उच्च शिक्षा से अभिप्राय विश्वविद्यालय शिक्षा बी. ए. और उसमें आगे की डिग्रियां दिलाने वाली शिक्षा से रहता है। वे ही छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करते है जो प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर चुके होते है। इस प्रकार उच्च शिक्षा और माध्यमिक एवं प्राथमिक शिक्षा का सम्बन्ध अन्योयाश्रित ठहरता है। नीचे से जैसा छात्र आएगा उसी के अनुरूप उसको शिक्षा प्रदान की जा सकेगी। विश्वविद्यालयीय शिक्षा स्तर को ऊँचा करने के लिये उसके नीचे की कोटियों की शिक्षा के स्तर को ऊपर उठाना होगा। परन्तु सामूहिक शिक्षा तथा शिक्षा–प्रसार के युग में यह असम्भव है क्योंकि ऐसा करने से शिक्षा–प्रसार की गति मन्द पड़ जायेगी।

विश्वविद्यालय शिक्षा स्तर पर विचारार्थ एवं उसको उच्चतर रूप प्रदान करने के उपायों के शोधार्थ कई आयोगों, जाँच समितियों एवं उपसमितियों की स्थापना की जा चुकी है। राधाकृष्णन कमीशन, यूथम कमीशन आदि।

उच्च शिक्षा की प्रशासनिक व्यवस्था में पूर्णरूपेण परिवर्तन किये बिना शिक्षा समाज की आवश्यकता और आकांक्षाओं को पूर्ण नहीं कर सकती और न ही समाजवादी समाज के निर्माण में योगदान दे सकती है।

उच्च शिक्षा में प्रशासन की सुविधा और विकास की दृष्टि से एक विचार यह हो सकता है कि विश्वविद्यालय संकाय के आधार निर्मित कर दिये जाये, जैसे – कला,

विज्ञान, वाणिज्य, कृषि संकाय आदि। कला संकाय के अन्तर्गत इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र, भाषा, कला आदि विषयों के विश्वविद्यालय दूसरे प्रकार के विश्वविद्यालयों में भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, जीव विज्ञान आदि प्राकृतिक विज्ञान विषयों का अध्ययन–अध्यापन की व्यवस्था हो। इन विश्वविद्यालयों को विषयों के आधार पर संगठित करने का भी विचार हो सकता है। इसके अनुसार इस प्रकार के विश्वविद्यालयों को शिक्षा–परिषद के नाम से जाना जा सकता है। इसमें जैसे – सामाजिक विज्ञान परिषद, प्राकृतिक विज्ञान परिषद आदि। शैक्षिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण इन योजनाओं पर विज्ञानों की परिषद में विचार कर किया जा सकता है।

उच्च शिक्षा के लक्ष्यों पर पुनः विचार होना चाहिये। आज की उच्च शिक्षा का लक्ष्य युवा छात्रों की सांस्कृतिक एवं व्यावसायिक आकांक्षाओं को पूरा करना होना चाहिये। आज छात्र उपेक्षित है आज तो विश्वविद्यालय का प्राध्यापक अपने विभागाध्यक्ष की स्वार्थ–पूर्ति में लगा हुआ है। छात्र की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के प्रति वह संवेदनशील नही है।

"महाविद्यालयों को केवल कक्षाओं अथवा छात्रावासों के रूप में नहीं अपितु एक ऐसे जीवित समाज के रूप में कार्य करना चाहिये जहाँ छात्र प्रजातंत्रीय जीवन–पद्धति में संस्कारित होने के अवसर प्राप्त कर सके।" राधाकृष्णन आयोग की इस संस्तुति पर आचरण करके महाविद्यालय समाज–सेवा के क्षेत्र में कुछ कार्य कर सकते हैं।

विश्वविद्यालय शिक्षा के चार प्रमुख कार्य हो सकते है जो कि प्रशासनिक क्षमता के अभाव में भारतीय विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय पूर्ण करने में असमर्थ रहे है। वे निम्नलिखित हैं –

1. छात्र की शैक्षिक एवं व्यावसायिक आकांक्षाओं की पूर्ति करना।
2. समुदाय की शैक्षिक एवं व्यावसायिक आकांक्षाओं की पूर्ति करना।
3. सेवारत व्यावसायियों को नवीनतम ज्ञान एवं शोध से अवगत कराना।
4. शोध निबंध आदि के द्वारा अपने प्राध्यापकों का शैक्षिक एवं बौद्धिक विकास

करना।

इन कार्यों को पूरा करने के लिये भारत सरकार की एक योजना है – खुला विश्वविद्यालय ऐसे विश्वविद्यालय आज सफलतापूर्वक एवं कुशलता से इस कार्य को अन्जाम दे रहे है। ऐसे खुले विश्वविद्यालयों की योजना का संकेत 'यूनेस्को' द्वारा गठित अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा आयोग ने भी दिया है।

उच्च शिक्षा का अपना विशिष्ट महत्व है, जिसमें कोई व्यक्ति असहमत नहीं हो सकता। भारत में उच्च शिक्षा की विशेषज्ञता के दृष्टिकोण से (1) मानविकी विज्ञान (2) प्रौद्योगिकी (3) चिकित्सा आदि क्षेत्रों में रखकर, सबका समुचित विकास किये जाने पर बल दिया जा रहा है।

शिक्षाविदो की सर्वसम्मत राय के अनुसार शिक्षा आर्थिक विकास एवं सामाजिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में असंदिग्ध महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आज का जागरूक नेतृत्व एवं शिक्षाविद् अब शिक्षा को 'अनुत्पादक' कहने की भूल नहीं करता अपितु कहा जाने लगा है कि उत्पादन के स्रोत में शिक्षा का अपरिहार्य स्थान है, क्योंकि विभिन्न कार्यों के लिये आवश्यक संस्थान एवं कुशल व्यक्तियों की उपलब्धि शिक्षा ही कराती है। साथ ही जनमानस में समुचित अभिरूचि कार्य–कुशलता निपुणता तथा उत्कृष्ट व्यक्तित्व का सृजन भी शिक्षा पर निर्भर है। राष्ट्र के 'सुविज्ञ' एवं शिक्षित नागरिक राष्ट्रीयता के आधार–स्तम्भ होते हैं, अतः कोई जागरूक राष्ट्र अपने 'नियोजन कार्यक्रमों' में शिक्षा की उपेक्षा नहीं कर सकता।

शोध–कार्य हमारी उच्च शिक्षा का एक सशक्त पक्ष है – 'शोधकार्य' जिसके बिना प्रगति का रथ गतिमान होता प्रतीत नहीं होता। मानविकी के क्षेत्र में – हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत के अतिरिक्त समाज विज्ञान, राजनीति विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि में उच्च स्तरीय शोध हुये हैं।

हमारी प्रगति की उपलब्धियां इसलिये प्रभाव शून्य होती रही है कि हम विदेशी चिन्तन के आधार पर गढ़ी हुई उच्च शिक्षा पद्धति को मृत सर्प की भांति गले

में लटकाये रहे। 1960 के पश्चात हमने चेतना की धारा को बदला और अपने उन राष्ट्रीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में उच्च शिक्षा को ढालने का कार्यक्रम बनाया, जिनसे राष्ट्रवाद की भावना पनपें और आत्म निर्भरता की भावना जागृत हो।

भौतिक सुविधाओं को बढ़ाना, पाठ्यक्रमों को सामयिक चिन्तनधारा से जोड़कर परीक्षा प्रणाली में ऐसे सुधार करना जिनसे युवा वर्ग की कर्मशक्ति बढ़े और विश्वास जगे, श्रेष्ठ पाठ्य–पुस्तकों का प्रकाशन–अध्यापन की सुधरी पद्धति को अपनाना तथा अध्यापकों की आर्थिक तथा योग्यता–स्थित को बढ़ाना आदि कुछ ऐसी महत्वपूर्ण उपलब्धियां हैं, जिन्हें साठोचरी प्रगति के नापने का पैमाना कहा जा सकता है।

भारत में जब स्वतन्त्रता के पश्चात प्रगति की ओर कदम बढ़ाये तो उसने अपनी शिक्षा के विस्तार की ओर बहुत ध्यान दिया। फलस्वरूप प्रत्येक स्तर पर शिक्षा का फैलाव बढ़ गया। उच्च शिक्षा में भी बहुत प्रगति हुई। इस प्रगति ने एक ओर देश की सम्पन्नता के द्वार खोले तो दूसरी ओर एक गम्भीर समस्या को जन्म दिया। वह थी – पढ़े लिखों की बेरोजगारी।

अब जो कमजोरियां हमारी उच्च शिक्षा में है उनकी ओर भी हमें ध्यान देना चाहिये। हमने पिछले वर्षों में अन्धाधुन्ध कालेज खोल दिये है। नये–नये विश्वविद्यालय स्थापित कर दिये है। देश में निर्धनता का बोलबाला होते हुये भी हमने इस ओर गहन रूप से ध्यान नहीं दिया है कि उच्च शिक्षा के क्या उद्देश्य होने चाहिये। इसकी रूपरेखा कैसे बनानी चाहिये तथा क्यों हमें केवल संख्या बढ़ाने पर बल न देकर शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाने की चेष्टा करनी चाहिये। परिणाम यह है कि आज हमारे सम्मुख युवकों की एक भीड़ खड़ी है जो विश्वविद्यालयों से मिले प्रभाव पत्रों को हिला–हिलाकर कह रहे हैं "हमें काम चाहिये – हमें काम चाहिये।" काम तो बहुत है पर जो काम वे चाहते है जिसकी लालसा मन में भर दी है वह दूर–दूर तक उपलब्ध नहीं है। न तो वे सफेदपोश सेवाओं के अतिरिक्त कुछ करने के काबिल रह गये हैं न ही इन सेवाओं में उन सबको लगाया जा सकता है। उच्च शिक्षा का यह पक्ष भयावना है।

हमें इस ओर ध्यान देना चाहिये कि उच्च शिक्षा की योजना इस प्रकार बनाई जाये कि इसका भयावना पक्ष समाप्त हो जाये। ऐसा उस समय ही सम्भव है जब उच्च शिक्षा के दोषों को दूर किया जा सके। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रधान डा. सतीश चन्द्र जी का कहना है कि "अधिकतर हमारी कमजोरियों को उच्च शिक्षा के विस्तार की तीव्रगति, जो शिक्षा के उच्च स्तर को बनाये रखना असंभव बना देती है, उस पर डाला जा रहा है किन्तु यह कुछ अंशों में ही सही है।

बेरोजगारी की समस्या केवल नये कालेजों इत्यादि पर रोक लगाकर दूर नहीं की जा सकती है। एक प्रशासक के नाते श्री सतीश चन्द्र का इस पर जोर देना उचित है कि नये कालेज न खोले जाये किन्तु वास्तव में समस्या इस हल से कहीं अधिक गम्भीर है। मुख्य प्रश्न तो यह है कि उच्च शिक्षा किसलिये। यदि यह केवल जीवन–यापन के लिये तैयार करने के लिये हैं तो इसका आयोजन इस प्रकार होना चाहिये कि छात्र को किसी–न–किसी व्यवसाय में शिक्षा मिले और वह विद्यालय से निकलकर उसमें लग जाये। यदि इसके लक्ष्य और अधिक गूढ़ है, यह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर बल देने की ओर है, उसको एक अच्छा व्यक्ति एक अच्छा नागरिक तथा संवेदनशील मानव बनाने का उद्देश्य रखती है जो अनेक क्षेत्रों में नेतृत्व लेकर राष्ट्र की विशेष रूप से और मानव जाति की सामान्य रूप से सेवा कर सके तो उच्च शिक्षा को व्यावसायिक शिक्षा से अलग करना होगा। किन्तु ऐसे पढ़े–लिखे व्यक्ति जीवन–यापन कैसे करेंगे ? क्या वह बेरोजगारी की समस्या को और बढ़ा नहीं देंगे।

इसका एक हल सम्भव है उस पर गूढ़ विचार की आवश्यकता है। व्यावसायिक शिक्षा १२वीं कक्षा तक दे देनी चाहिये। 12वीं कक्षा के बाद अधिकतर छात्रों को कार्य के संसार में प्रवेश पा जाना चाहिये, केवल उन्हीं छात्रों को आगे पढ़ाने को प्रोत्साहित करना चाहिये जिनमें गूढ़ ज्ञान ग्रहण करने की क्षमता हो। इस प्रकार न केवल शिक्षा का स्तर ऊँचा उठेगा वरन पढ़े लिखों की बेरोजगारी की समस्या भी बहुत कुछ दूर हो जायेगी।

देश में 10+2+3 की बहुत चर्चा है। 10+2 से कोई लाभ उस समय ही मिल सकता है जबकि माध्यमिक स्तर पर बड़े पैमाने पर व्यावसायिक शिक्षा का आयोजन हो। यदि 10+2 के बाद योग्य तथा अयोग्य दोनों प्रकार के विद्यार्थी 3 वर्ष के डिग्री कोर्स में प्रवेश पा जायेंगे तो इस प्रणाली को अपनाने से कोई हित नहीं हो सकेगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इस ओर अपनी पूरी सामर्थ्य से चेष्टा करें कि हमारी माध्यमिक शिक्षा का व्यावसायीकरण हो जाये और अधिकतर छात्रों के लिये यह औपचारिक शिक्षा की अंतिम सीमा हो जाये। माध्यमिक शिक्षा केवल उनके लिये उच्च शिक्षा का माध्यम रहे जो वस्तुनिष्ठ कसौटी पर उच्च शिक्षा के योग्य है। किन्तु ऐसा उस समय ही सम्भव होगा सब सरकारी और गैर सरकारी सेवाओं के लिये १२वीं कक्षा तक की योग्यता ही आवश्यक समझी जाये।

यह फिर दोहरा देना ठीक होगा कि उच्च शिक्षा का लक्ष्य किसी विशेष व्यवसाय के लिये तैयार करना नहीं होना चाहिये। यदि किसी व्यवसाय के लिये उच्च व्यावसायिक योग्यता आवश्यक है तो उसका प्रशिक्षण विशिष्ट व्यावसायिक केन्द्रों में होना चाहिये। उच्च शिक्षा और उच्च व्यावसायिक शिक्षा में हम विभेद करते हैं। उच्च व्यावसायिक शिक्षा ध्येय जब एकपक्षीय होगा, उच्च शिक्षा का लक्ष्य बहुपक्षीय होगा। व्यावसायिक शिक्षा में कला कौशल पर बल होगा जब कि उच्च शिक्षा में बहुरूपी ज्ञान पर।

डा. राजेन्द्र प्रसाद के कथनानुसार काम से ज्यादा काम के पीछे की भावना का महत्व होता है। जो काम शुद्ध ह्रदय से होता है, देखने में छोटा भले ही हो परन्तु उसका फल बड़ा महत्वपूर्ण होता है। बड़े से बड़ा काम अगर हीन आदर्श लेकर किया जाये तो उसकी कोई बड़ी कीमत नहीं हो सकती।"

अंग्रेजी शासनकाल में इस देश के भारतीय शैली के सभी उच्च शिक्षा के केन्द्र प्रायः उजड़ चुके थे और संस्कृत अथवा फारसी–अरबी के आधार पर चलाये जाने वाले सभी महाविद्यालय और मदरसे प्रायः निष्प्राण हो चुके थे, तो हमें अनुभव होता है

कि स्वाधीनता–प्राप्ति के पश्चात भारत की स्वाधीन स्थापित सरकार को, किस भांति, प्रायः नये सिरे से ही, अपनी उच्च शिक्षा के तन्त्र का विकास करना पड़ा। स्वाधीन भारत की उच्च शिक्षा के क्षेत्र में, महान उपलब्धियों का सही लेखा–जोखा प्रस्तुत करने के लिये यह भी देखना समीचीन होगा कि स्वाधीनता से पूर्व भारत में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में, ब्रिटिश शासन की कारगुजारी क्या थी और कितनी थी।

प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम प्रारम्भ होने से पहले भारत में, ब्रिटिश सत्ता की ओर से, एक भी विश्वविद्यालय की स्थापना नही की गई। सन 1857 में ब्रिट्रिश व्यापार तथा प्रशासन के तीन समुद्र तटवर्ती नगरों में तीन विश्वविद्यालय स्थापित किये गये। लगभग बीस वर्ष बाद सन 1887 में एक चौथा विश्वविद्यालय इलाहाबाद में और स्थापित किया गया। किन्तु वस्तुतः ये चारों सर्वप्रथम विश्वविद्यालय भी, आधुनिक अर्थों में, सुव्यस्थित शिक्षा–केन्द्र न होकर केवल परीक्षा लेने वाली संस्थायें ही थी। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने वाले युवक ब्रिटिश शासनतंत्र में छोटे पदों पर ही नियुक्त होते रहे। यद्यपि अंग्रेजों के सामने, अपने प्रारम्भिक विश्वविद्यालय स्थापित करते समय लन्दन विश्वविद्यालय का नमूना ही था किन्तु भारतीयों द्वारा ब्रिटिश शासन के विरूद्ध भयंकर संघर्ष के पश्चात उन्होंने भारत में उच्च शिक्षा की योजना को सन १६१३ तक प्रायः स्थगित ही रखा क्योंकि उन्हें इससे और भी अधिक सुनेतृत्व तथा सुव्यवस्थित विरोध की आशंका थी।

इस अवधि में भारतीय मध्यम वर्ग में पर्याप्त राष्ट्रीय भावना का विकास हो चला था और प्रबुद्ध शिक्षित वर्ग एवं तथाकथित नरमदल के नेताओं के निरंतर दबाव से विवश होकर उन्हें सन 1902 में एक "इण्डियन यूनीवर्सिटीज कमीशन" नियुक्त करना पड़ा। 1904 में उसकी सिफारिशों के आधार पर सरकार ने एक "भारतीय विश्वविद्यालय कानून" बनाया। सन 1913 में सरकार ने एक राष्ट्रीय उच्च शिक्षा सम्बन्धी नीति की घोषणा की जिसमें आधुनिक अर्थों वाले, सुव्यस्थित उच्च–शिक्षा केन्द्रों के रूप में विश्वविद्यालयों के विकसित किये जाने को लक्ष्य रूप में तथा सिद्धान्त

रूप में स्वीकृत किया गया तभी से धीरे–धीरे तत्कालीन उपर्युक्त चारों विश्वविद्यालयों में कुछ विकास कार्य किया जाने लगा। किन्तु वस्तुतः एक ऐसे शिक्षा उपनगर के रूप में सर्वप्रथम भारतीय विश्वविद्यालय की परिकल्पना को साकार करने का श्रेय भारत की तत्कालीन ब्रिटिश सरकार को न होकर महामना पं. मदन मोहन मालवीय को ही है, जिसमें कि विभिन्न ज्ञान–विज्ञानों के शिक्षण के लिये विभिन्न महाविद्यालयों का निर्माण एक ही क्षेत्र में किया गया तथा जिसे सुसम्पन्न पुस्तकालय, प्रयोगशालाओं, क्रीड़ागणों तथा छात्रावासों से मण्डित किया गया। उन्हीं के अध्यवसाय एवं उद्योग से, भारत की युग प्राचीन ज्ञान विज्ञान, चिन्तन–दर्शन तथा शिक्षण की राष्ट्रीय राजधानी, विश्वनाथपुरी काशी में सन 1916 में "बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय" की स्थापना की गई थी।

लगभग इसी समय "मैसूर विश्वविद्यालय" की स्थापना हुई, जो देशी रजवाड़ो के तत्वाधान में खुलने वाला सर्वप्रथम विश्वविद्यालय था। इसके दो वर्ष बाद सन 1918 में हैदराबाद में "उस्मानिया विश्वविद्यालय" स्थापित हुआ, जिसमें आगे चलकर पूरी पढ़ाई उर्दू के माध्यम से होने लगी। सन 1921 में मुस्लिम सुधारवादी नेता सर सय्यद अहमद खाँ द्वारा "अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय" की स्थापना की गई, जिसकी प्रेरणा उन्हें मालवीय जी से मिली थी। सन १९४६ तक भारत में ब्रिटिश सत्ता के अस्तित्व तक कुल 18 विश्वविद्यालय थे।

स्वाधीनता–प्राप्ति के पश्चात प्रथम दस वर्षों में ही भारतीय विश्वविद्यालयों की संख्या 38 तक पहुँच चुकी थी। दूसरे दशक में भी भारत की उच्चशिक्षा के क्षेत्र में प्रगति सराहनीय हुई इनकी संख्या 38 से बढ़कर 78 तक पहुँच चुकी थी। इस काल में विश्वविद्यालयों का विकास भारत के प्रायः प्रत्येक प्रांत और अचंल में हो गया।

भारतीय विश्वविद्यालीय नीति का अंतिम एवं आधुनिक पक्ष यह है कि उसमें साहित्य, संगीत, कला, समाज–विज्ञान, इतिहास, पुरातत्व, भौतिकी एवं रसायन आदि की परम्परागत ज्ञान–विज्ञान की शाखाओं के अतिरिक्त विश्व की औद्योगिक एवं आर्थिक विकास की होड़ में, तत्कालीन एवं आधुनिकतम राष्ट्रीय आवश्यकताओं के

अनुरूप, विशिष्ट शोध, अनुसंधान एवं उच्चस्तरीय शिक्षण पर विशेष बल दिया गया है। ऐसे विश्वविद्यालयों एवं उच्च स्तरीय शोध–संस्थाओं के विकास की ओर ध्यान दिया जा रहा है जो इंजीनियरिंग, औद्योगिक, यांत्रिकी, आयु विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, खनिज विज्ञान, तेल एवं प्राकृतिक गैस अनुसंधान कृषि सहायक सिंचाई तथा क्षेत्रीय समस्याओं के समाधान सम्बन्धी शोध एवं शिक्षण कार्य में संलग्न है। अणु विज्ञान, अन्तरिक्ष एवं उड्डयन विज्ञान तथा राष्ट्रीय सुरक्षा आपूर्ति सम्बन्धी उपकरणों के उत्तरोत्तर विकास में रत, उच्च स्तरीय शोध संस्थानों एवं शिक्षण केन्द्रों का भी विकास किया जा रहा है। संक्षेप में देश की आवश्यकता एवं प्रकृति को दृष्टिगत रखते हुये उच्च स्तरीय शिक्षा का उत्तरोत्तर विकास किया जा रहा है।

व्यावसायिक शिक्षा

व्यावसायिक शिक्षा का सूत्रपात्र वैसे बहुत पहले से हो गया था। पेस्टालाजी के जीवनकाल में इसका असरदार प्रारम्भ हुआ। 1775 से 1780 तक पेस्टोलाजी निर्धन बालकों के लिये एक स्वावलम्बी औद्योगिक विद्यालय का संचालन करते रहे। इस विद्यालय में एवं अनाथ बालकों को सम्पूर्ण कलाओं तथा कताई-बुनाई एवं खेती की शिक्षा दी जाती थी। इस विद्यालय में गर्मी के समय विद्यार्थी खेती का काम करते थे तथा शीत ऋतु में कताई-बुनाई की शिक्षा पाते थे। परन्तु अर्थाभाव के कारण विद्यालय बहुत दिनों तक चल नहीं सका और बन्द हो गया। पेस्टालाजी ने इस सम्बन्ध में लिखा है "वर्षों तक लगभग पचास भिखारियों के मध्य मैंने अपना जीवन-यापन किया। मैं अपने भोजन को बांटकर खाता था तथा उन भिखारियों को मनुष्यों के समान जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देने के लिये मैं स्वयं भिखारी बन गया।"

हरवर्ट स्पेंसर के अनुसार भावी जीवन को सफल तथा सुखमय बनाने के लिये जीविकोपार्जन की विधियों का ज्ञान प्रत्येक मानव के लिये आवश्यक है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये हरवर्ट स्पेंसर का विचार है कि बालकों एवं किशोरों को विज्ञान की शिक्षा दी जाये।

स्वामी दयानन्द गुरूकुल प्रथा के पोषक थे। उन्होंने बतलाया कि सर्वांग विकसित व्यक्तित्व के आदर्श नागरिकों के निर्माण के लिये यह परम आवश्यक है कि अपने देश में हम गुरू-गृह प्रणाली को प्रश्रय और प्रमुखता प्रदान करें। गुरूकुल शिक्षा-पद्धति द्वारा शिष्यों में शारीरिक श्रम, स्वानुशासन एवं उद्यमता का विकास होगा। उद्यमी बनकर वे अपनी भावी जीवन सुखमय बना सकेंगे।

इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर बालकों का सर्वांगीण विकास चाहते थे एकपक्षीय नहीं। उनके लिये बालकों के बौद्धिक और मानसिक के समान ही शारीरिक आत्मिक आध्यात्मिक एवं चारित्रिक पक्ष भी अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। शांति-निकेतन का शिक्षाकुंभ और पाठ्यक्रम उसी प्रकार निर्धारित किया गया था।

स्वामी विवेकानन्द भी प्राचीन भारतीय गुरूकुल शिक्षा–प्रणाली के समर्थक थे।

महात्मा गाँधी के सम्बन्ध में शिक्षाशास्त्री एम. एस. पटेल ने कहा है "गाँधी जी को उन महान शिक्षकों एवं धर्मोपदेशकों की गौरवपूर्ण मंडली में अनोखा स्थान प्राप्त है। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में नई ज्योति प्रदान की है।" गाँधी जी ने शिक्षा का तात्कालिक उद्देश्य मनुष्य को रोटी और रोजी की समस्या को हल करना बताया। उनका कहना है – "शिक्षा को बालकों की बेरोजगारी के विरूद्ध एक प्रकार की सुरक्षा देनी चाहिये। 6 वर्ष का कोर्स समाप्त करने के बाद 14 वर्ष की आयु में बालक को कमाने वाले व्यक्ति के रूप में विद्यालय से बाहर भेजा जाना चाहिये।"

वर्धा–सम्मेलन में महात्मा गाँधी ने जो भाषण किया था उसका कुछ अंश इस संदर्भ में आवश्यक है उन्होंने कहा था कि –

"तो सवाल होता है कि इस प्रारम्भिक शिक्षा का स्वरूप क्या हो ? मेरा जबाव यह है किसी उद्योग या दस्तकारी को बीच में रखकर उसके जरिये ही सारी शिक्षा दी जानी चाहिये। आप जानते है मेरे चार लड़के हैं। इनमें एक तो वागी हो गया है, बाकी तीनों मेरे साथ हैं। चन्द धन्धों की मार्फत मैंने उनको जो तालीम दी है, उससे उन्हें फायदा ही पहुँचा है। 'अपनी वकालत के दिनों में भी मैं घर पर कुछ न कुछ उद्योग किया करता था और बच्चों को भी बढ़ईगीरी की तालीम दिया करता था। जूते बनाने का काम भी मैंने श्री केलनवेक से सीखा, जो कुछ इसे 'टैफिस्ट मानेस्टरी' में सीखकर आये थे, क्योंकि यह लोग हिन्दुस्तानियों को सिखाते नहीं थे। इस तरह जिन्होंने मुझसे तालीम ली, मैं नहीं समझता हूँ कि उनकी दिमागी हालत कमजोर रही या कोई नुकसान उन्हें पहुँचा। टालस्टाय फार्म में भी शिक्षा का यही तरीका रहा। वहाँ तरह–तरह के लड़के थे, अच्छे, बुरे और बदमाश सभी जिनमें हिन्दू भी थे मुसलमान भी थे और पारसी भी थे। ये सब एक दूसरे के साथ मिल जुलकर रहते थे और अपने–अपने धर्मों का पालन करते थे। वजह इसकी यह भी थी कि मैंने उनको सिर्फ

किताबी तालीम नहीं दी, बल्कि साथ–साथ कुछ धन्धे भी सिखाए। जिनमें कुछ ने चमड़े का काम सीखा, कुछ ने बढ़ईगीरी सीखी और चंद ऐसे भी निकले, जो आज इन धन्धों के जरिये काफी कमा रहे हैं। इन सबको मैंने वही सिखाया, जो मैं खुद थोड़ा बहुत जानता था।

"लेकिन आज मैं जो चीज आपके सामने रखने जा रहा हूँ। वह पढ़ाई के साथ–साथ एक धंधा सिखा देने की चीज नहीं है। मैं तो अब यह कहना चाहता हूँ कि लड़कों को जो कुछ भी सिखाया जाये, सब किसी–न–किसी उद्योग या दस्तकारी के जरिये सिखाया जाये। आप यह कह सकते हैं कि मध्य युग में हमारे यहाँ लड़कों को सिर्फ धन्धे ही सिखाये जाते थे। मैं मानता हूँ। लेकिन, उन दिनों धंधों के जरिये सारी तालीम देने की बात लोगों के सामने न थी। धंधा सिर्फ धन्धे के ख्याल से सिखाया जाता था। हम तो धंधे व दस्तकारी की मदद से दिमाग को भी अलग बनाना चाहते हैं। आज हालत यह है कि लुहार का लड़का लुहारी नहीं जानता और सुनार का सुनारी छोड़ देता है। इन्होंने किताबी तालीम तो पायी, मगर अपने पेशे को भूल गये, उससे मुँह फेर लिया। अब गाँव छोड़कर शहर में बसते हैं और क्लर्की करते हैं। अगर वह पढ़ लिखकर भी अपने पुस्तैनी धन्धों को न छोड़ते और उनमें तरक्की करके दिखाते, तो आज हिन्दुस्तान जैसी बुरी हालत हो गई है वैसी न हो पाती। आज देहात में कहीं भी चले जाइये अच्छे बढ़ई लुहार या कारीगर के दर्शन नहीं होते। मेरे जो साथी गाँव में बैठकर काम कर रहे हैं, उनका यह भी तजुरवा है कि वहाँ जो बढ़ई वगैरा हैं, वे अपने धंधे के लिहाज से नाकामयाब से हैं। दूर क्यों जाये। इस चरखे को ही ले लीजिये, जो सारे हिन्दुस्तान में फैला हुआ था। मगर अंग्रेज इसे इग्लैण्ड ले गये और वहाँ इसमें इतनी तरक्की कर दी कि बड़ी–बड़ी मिलें खड़ी हो गई। मेरा आशय यह नहीं है कि उन्होंने जो कुछ किया, बहुत अच्छा किया। मगर, इसमें तो कोई शक नहीं कि जब उन लोगों ने इतनी तरक्की कर ली तो हम जो कुछ हमारा था, उसे खो बैठे।

'नई तालीम' पर गाँधी जी का स्पष्टीकरण इस प्रकार है "मेरा दृढ़ विश्वास

है कि इस प्रकार की शिक्षा से मस्तिष्क एवं आत्मा का सर्वोच्च विकास होगा। काश्तकारी यत्रवंत नहीं सिखाई जायेगी, बल्कि उसकी शिक्षा वैज्ञानिक ढंग से दी जायेगी। बालक काश्तकारी की प्रत्येक प्रक्रिया के कारण को समझता जायेगा।'' उदाहरण देते हुये उन्होंने कहा है कि ''एक साधारण बढ़ई किसी को बढ़ईगीरी का ज्ञान यत्रवंत देता है किन्तु वैज्ञानिक ढंग से बढ़ईगीरी की शिक्षा प्राप्त शिक्षक बालक की बढ़ईगीरी ज्ञान के साथ–साथ गणित, लकड़ियों के भेद लकड़ियों के उत्पादन–क्षेत्र आदि का ज्ञान भी प्राप्त करा सकते हैं। इस तरह दस्तकारी के ज्ञान के साथ–साथ गणित, भूगोल और कृषिशास्त्र आदि का ज्ञान किसी भी दस्तकारी से दिया जा सकता है। किन्तु दस्तकारी को हस्तकर्म–जैसा ज्ञान नहीं सिखाना होगा बल्कि उसे शिक्षा का केन्द्र बिन्दु मानकर सिखाया जायेगा। दस्तकारी द्वारा शिक्षा की पहली कसौटी यह होना चाहिये कि यदि राज्य बालक को सात वर्षों तक शिक्षा देने का भार लेता है, तो वह उस बालक को सात वर्षों के बाद उसके परिवार को उसकी उत्पादक इकाई बनाकर लौटा दे तथा उसकी दूसरी कसौटी यह होनी चाहिये कि उस दस्तकारी द्वारा प्राप्त ज्ञान से उसके मस्तिष्क, शरीर, आत्मा, लिखावट, सौन्दर्य–भावना आदि का पूर्णरूपेण विकास भी हुआ हो। जैसे–जैसे कुशल शिक्षक मिलते जायें, वैसे–वैसे शिल्प, लोहारगीरी, चमड़े के काम, ईंट बनाने एवं बर्तन बनाने आदि के कामों की शिक्षा स्कूलों में जारी करनी चाहिये।''

इस तरह गाँधी जी ने उद्योग को शिक्षा का माध्यम माना है। किसी न किसी दस्तकारी को केन्द्र में रखकर उसके सम्बन्ध में सारी जानकारी जैसे गणित, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि सम्बन्धित ज्ञान देना समझना चाहिये। वे मानते थे कि हस्त कर्म से मस्तिष्क और ह्रदय का सच्चा विकास हो सकता है।

सन 1902 में जामिया मिलिया में डा. जाकिर हुसैन ने अखिल भारतीय नई तालीम के द्वितीय सम्मेलन में शिक्षा में कर्म (श्रम) की व्याख्या इस प्रकार की है कि हम लोग केवल वर्तमान समय में शिक्षा का माध्यम कर्म की बात नहीं करते है बल्कि बहुत

दिनों से इसके विषय में लोग चर्चा करते चले आ रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति ने यह बात अपने ढंग से कही है। एक व्यक्ति के लिये 'कर्म' सिद्धांततः अनिवार्य है और उसकी मान्यता उसी रूप में मिलनी चाहिये। यह जरूरी है कि उसको पाठ्यक्रम का एक विषय रखा जाये। कार्य–तालिका में उसका निश्चित समय निर्धारित रहना चाहिये।

जाकिर साहब ने 'कर्म' द्वारा ज्ञान की ओर संकेत किया है। वे गाँधी जी की सोद्देश्यपूर्ण इकाइयों को ही शिक्षा का माध्यम मानते थे, अर्थात शिक्षा उन्हीं कर्मों द्वारा देना चाहिये, जिनसे बच्चे की व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। उत्पादक कर्म ही उपयोगी होता है।

इस पर अन्य देशों में चिन्तन हुआ है। रूस में ऐसे स्कूल खोले गये है, जहाँ शिक्षण का आधार उत्पादक श्रम को रखा गया है।

स्वावलम्बन किस हद तक है तथा स्वावलम्बन के फेर में कहीं शैक्षिक पहलू का ह्रास न हो इस पर जोर दिया जाता है। यदि काम का चुनाव शिक्षा की दृष्टि में किया जायेगा तथा वह समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल होगा तो इस खतरे से बहुत कुछ बचा जा सकता है। नई तालीम का उद्देश्य ही स्वावलम्बी व्यक्ति तथा उससे बने स्वावलम्बी समाज पैदा करना है। समाज के लोग आपस में मिल–जुलकर अपने भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा एवं स्वास्थ्य–सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करें, यही इसका लक्ष्य है। अतः स्वावलम्बन इस शिक्षा का आवश्यक सिद्धान्त है।

इस सम्बन्ध में वस्तुस्थिति यह है कि महात्मा गाँधी एक भविष्यदृष्टा थे। उनका सर्वप्रथम उद्देश्य था – 'भारत की भावी गरीबी को दूर करना' भारतवासियों को भोजन, वस्त्र और आवास की सुविधा मिल जाये, ऐसा वे अवश्य चाहते थे और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये उन्होंने पूरी चेष्टा की। उन्होंने बालक–बालिकाओं को सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश में शिक्षित बनाने का प्रयास किया है।

व्यावसायिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है कि वह बालकों को शांति एवं सरलतापूर्वक जीवन–यापन करने की क्षमता प्रदान करें, उन्हें इस योग्य बनाये कि वे

जीविकोपार्जन की समस्या को अपने व्यावहारिक ज्ञान के माध्यम से सुगमतापूर्वक सुलझा सके तथा अपने विद्यालयीय जीवन की समाप्ति के बाद उन्हें मात्र नौकरी का ही आश्रय न ढूंढना पड़े, अपितु प्राप्त शिक्षा के आधार पर वे अपनी रोजी–रोटी की समस्या का समाधान बिना किसी परिश्रम के स्वयं निकाल सके।

मध्यकालीन भारत में व्यावसायिक शिक्षा पर पूरा ध्यान दिया गया था। इस समय ज्योतिष व आयुर्वेद चिकित्सा के पठन–पाठन की उपयोगिता समझी गई। इस समय के विभिन्न उपयोगी शिल्पों, वास्तुकला, मूर्ति, कृषि, रत्न–परीक्षा, धातु–विज्ञान आदि पर बहुत पुस्तकें हैं।

इस्लामी शिक्षा के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर हम पाते है कि इस्लामी शिक्षा में सांसारिक एवं धार्मिक दोनों प्रकार की शिक्षाओं का सम्मिश्रण था। इसमें धार्मिक तथा भौतिक शिक्षा का समन्वित स्वरूप दिग्दर्शित होता है। धार्मिक शिक्षा के साथ–साथ जीवनोपयोगी शिक्षा का पूरा–पूरा प्रचलन था। कुरान के अनिवार्य अध्ययन के साथ–साथ कला–कौशल, चिकित्सा, कृषि, कानून, बहीखाता आदि विषयों का गंभीर अध्ययन कराया जाता था। इस युग में वास्तुकला एवं शिल्पकला का अच्छा विकास हुआ।

हंटर कमीशन (हंटर कमीशन की नियुक्ति 3 फरवरी 1982 में लार्ड रिपन द्वारा की गई थीं जिसने 8 महीने तक समस्त देश का दौरा कर 680 पृष्ठों में भारत शिक्षा–विकास के लिये सारगर्भित सुझाव की रिपोर्ट का प्रतिपादन किया था) ने हाईस्कूल के पाठ्यक्रम में औद्योगिक विषयों का समावेश किया था। इसने पाठ्यक्रम में व्यावसायिक विषयों जैसे कृषि, भौतिक विज्ञान, बहीखाता आदि को भी सम्मिलित करने पर बल दिया।

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने सन 1935 में व्यावसायिक शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी सम्मति देते हुये कहा "देश की वर्तमान आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये केवल बौद्धिक शिक्षा पर बल नहीं दिया जाये, अपितु व्यावहारिक तथा

व्यावसायिक शिक्षा पर भी बल दिया जाये।"

1937 में भारतीय शिक्षा की समस्याओं का अध्ययन करते हुये 'वुड एवड रिपोर्ट' ने व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा को अत्यधिक महत्वपूर्ण बतलाया। 5 अक्टूबर 1934 को तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति हुई थी, जिसने अपनी सिफारिश में बताया कि पांचवीं से आठवीं कक्षा तक अनिवार्य व्यावसायिक शिक्षा हो।"

1944 में सार्जेण्ट योजना ने अपनी रिपोर्ट में व्यावसायिक शिक्षा की महत्ता प्रतिपादित करते हुये हाईस्कूल की शिक्षा का विभाजन दो रूपों में कर दिया। प्रथम टेकनिकल तथा दूसरा एकेडेमिक (साहित्यिक)

यदि व्यावसायिक शिक्षा को इसके वास्तविक रूप में संगठित किया जाये, बालक को उसकी रूचि के अनुरूप व्यवसाय चुनने का अवसर दिया जाये तथा व्यवस्थित उचित शिक्षाप्रणाली अपनायी जाये, तो जिन बुराइयों और त्रुटियों की कल्पना की जाती है वे कदापि उत्पन्न नहीं होंगी। व्यावसायिक शिक्षा बालकों को स्वावलम्बी बनाने के साथ–साथ उचित अर्थ में शिक्षित भी बना सकेगी।

रॉवेल, जिनके शैक्षणिक आदर्शों से लॉक और रूसो जैसे शिक्षाशास्त्री भी प्रभावित हुये थे, बच्चों को उनके वातावरण से सम्बन्धित वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कराना चाहते थे। वे बच्चों और किशोरों के व्यावसायिक शिक्षा के समर्थक थे। लॉक ने व्यावसायिक शिक्षा की अनिवार्यता का अनुभव किया था, अतः उन्होंने इसको अपने पाठ्यक्रम का प्रमुख विषय बनाया। पेस्टालॉजी भी – शिक्षा को पूर्णता व्यावहारिक बनाने के पक्ष में थे। उनकी इच्छा थी व्यवसाय और शिक्षा को एक रखा जाये। प्राचीन मिश्र की शिक्षा भी व्यावहारिक कार्यों द्वारा होती थी। वहाँ के बालकों में यह क्षमता उत्पन्न की जाती थी कि वे तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली शिक्षा को ही नही ग्रहण करें अपितु उन बातों को भी सीखें जिनसे उनकें भविष्य का निर्माण हो।

मि. डेवेन पोर्ट का विचार है कि "किसी भी व्यक्ति को बिना व्यवसाय के

शिक्षा तथा बिना शिक्षा के व्यवसाय नहीं चुनने देना चाहिए। यदि स्कूल बच्चों को कुछ व्यावसायिक ज्ञान प्रदान करेगा, तो वे अपनी जीविका के लिए धनार्जन करने में सफल होंगे। इस प्रकार वे अपनी दैनिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में रूकावट नहीं अनुभव करेंगे।" व्यावसायिक शिक्षा की महत्ता का अनुभव यूरोप और अमेरिका जैसे प्रगतिशील देशों में की गई है।

वर्तमान काल में जीवकोपार्जन की शिक्षा का महत्व अधिक बढ़ गया है, जो शिक्षा उपयोगी हो उस पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। शिक्षा के प्रति यह दृष्टिकोण कि शिक्षा का ध्येय केवल शिक्षा ही है, उसमें उपयोगिता पर कोई स्थान नहीं, पूर्ण सपेण परिवर्तित हो चुका है। यह माने जाने लगा है कि वास्तविक शिक्षा वही है, जो व्यक्ति को सम्यक रूप से अपना जीवन व्यतीत करने के निमित्त तैयार करें, वह सुखी बन सके। सुखी वही बन सकता है जिनके समक्ष अर्थोपलब्धि की समस्या का विकट रूप नही उपस्थित रहे और इसके समाधान की क्षमता व्यावसायिक शिक्षा में ही है।

महात्मा गांधी ने अपनी प्रदत्त बुनियादी शिक्षा–प्रणाली में शिक्षा के इन्ही उद्देश्यों को पूर्णरूपेण समावेश करने का प्रयत्न किया है। महात्मा गांधी ने लिखा है –"व्यवसाय या अनेक व्यवसाय एक लड़के–लड़की के सर्वागीण विकास का सर्वोत्तम माध्यम हैं और इसीलिए जहां तक सम्भव हो वही पाठ्यक्रम व्यावसायिक प्रशिक्षण के चारों ओर होना चाहिए।" महात्मा गांधी 'हरिजन' में लिखते हैं – "स्थानीय उद्योग अथवा दस्तकारी ही शिक्षा की धुरी है। इसके द्वारा ही बच्चों को अन्य विषयों की शिक्षा प्रदान की जाएं। यह उद्योग यंत्रवत नही, बल्कि वैज्ञानिक ढंग से क्यों और कैसे का ज्ञान कराते हुए सिखाया जाए तथा इसी प्रसंग में अन्य विषयों की ज्ञान प्राप्ति कराई जाए।"

गांधी जी के समान विनोबा जी स्वावलावी एवं आत्म–निर्भर किशोर चाहते है। सर्वोदय के लक्ष्य को ऐसे ही व्यक्ति धारण कर सकेंगे। महात्मा गांधी और संत

विनोबा के विचारों में पर्याप्त समानता है। गांधी जी ने बुनियादी तालीम में स्वावलम्बन की चर्चा की है और परावलंबन की भावना को हटाने के लिए कृषि उद्योग को इसका आधार माना है, जिसमें नवयुवक अपनी आर्थिक समस्याओं का एक हद तक निदान कर सकने में समर्थवान बने। विनोबा जी ने भी नई तालीम में जीवनोयपयोगी दस्तकारी (उद्योग) को प्रमुख स्थान दिया है।

डॉ. जाकिर हुसैन ने भी शिक्षा में क्रियाशीलता के सिद्धान्त को अपनाया है। उन्होंने कहा है – "ठीक शिक्षा के लिए आवश्यक है कि बच्चे को उसकी दिलचस्पियों, उसके कार्यों और उसके शौक के सहारे शिक्षा दी जाए। वही पचती है, बाकी सब ऊपर की लीपपोत है।" क्रियात्मकता के सिद्धांत की सम्यक विवेचना आपने अपनी पुस्तक "भारत में शिक्षा का पुर्ननिर्माण" में की है। गांधी जी के बुनियादी शिक्षा–दर्शन के प्रबल समर्थक जाकिर साहब बुनियादी शिक्षा दर्शन के बड़े सूत्रधार थे। उन्होंने क्रिया द्वारा ज्ञानोपलब्धि को समर्थन किया है।" 'भारत में शिक्षा का पुर्ननिर्माण' पुस्तक में उन्होंने कहा है – एक प्रकार से किसी युग में कोई भी विद्यालय विद्यार्थियों की किसी स्वक्रिया के बिना नहीं रहा है। पढ़ने–लिखने और हिसाब की कठोरता कसरत में भी तथा दूसरे की कृपा से किसी के मस्तिष्क में सूचनाओं का अंवार भरकर स्मृति में केवल उन्हे जमा रखने में भी कुछ स्वक्रिया रहा करती थी। किन्तु यह अधिक से अधिक एक आकस्मिक संसर्ग था, क्योंकि इसे न लक्ष्य माना जाता और न विशेष शैक्षिक महत्व का समझा जाता था। मैं समझता हूँ कि स्विट्जरलैंड के महान शिक्षा शास्त्री पेस्तालॉजी के कारण शैक्षिक चिंतन और व्यवहार में स्वक्रिया के सिद्धांत को अभिन्न अंग माना गया और उचित ढंग से इसे स्वीकार किया गया। अब तक प्रायः इसने सार्वभौम में मान्यता प्राप्त कर ली है किन्तु अपने रोज के अनुभव पर आप भी कह सकते है कि किसी सिद्धान्त को मान लेना अक्सर सिद्धान्त के लिए बहुत बुरी चीज होती है। अत्युत्साही समर्थक मूल सिद्धान्तों को मानने वाले कुशल सशंयवादी सिद्धान्तों की कायापलट करना भी जानते हैं। उनको नष्ट करने के लिए यह उनके पास सबसे आसान तरीका है।

सन् 1957 में डॉ. जाकिर हुसैन ने बुनियादी शिक्षा योजना की महत्ता पर प्रकाश डाला है। उसका निम्न अंश विद्यालयों में ''प्रोडक्टिव एडूकेशनलीवर्क'' को स्पष्ट करता है – ''इसलिए जरूरी है कि मस्तिष्क के विकास का काम चाहे कला से हो या विज्ञान से हो, चाहे साहित्य से हो, चाहे उद्योग से हो, उसका समाजसेवा से सम्बन्ध जोड़ा जाय पूरे आदमी बने। हमें अपने सब शिक्षा केन्द्रों को ऐसा ही बनाना चाहिए कि उनमें हरेक के मस्तिष्क और बुद्धि का पूरा–पूरा विकास भी हो और वे सामाजिक आदर्शों की सेवा के लिए भी तैयार हों। मैंने जो कहा है –''शिक्षा के सब केन्द्रों वह इसलिए कि बगैर इस 'प्रोडक्टिव एजूकेशनली वर्क' के और बगैर इस सामाजिक सम्बन्ध के कोई केन्द्र चाहे छोटा या बड़ा शिक्षा का सच्चा केन्द्र नहीं कहला सकता।'

इस प्रकार व्यावसायिक शिक्षा के सम्बन्ध में डॉ. जाकिर हुसैन साहब द्वारा की गई व्याख्या बहुत स्पष्ट एवं संदेह रहित है। आलोचकों का मन्तव्य भी खंडित हो जाता है क्योंकि तकनीकी शिक्षा–विज्ञान या उद्योग (मेडीकल क्षेत्र या इंजीनियरिंग क्षेत्र आदि) निश्चित रूप से मनुष्य के मस्तिष्क का विकास करने के साथ–साथ उसके भावी जीवन के लिये आर्थिक रूप से उपयोगी होते हुए सामाजिक उत्थान में भी उसका पूर्ण योगदान होता है।

सामाजिक शिक्षा

आधुनिक समाज का उत्तरोत्तर नैतिक पतन होता जा रहा है। भौतिक जीवन की प्रमुखता देने वाले व्यक्ति अपने स्वार्थों की दौड़ में अपने कर्त्तव्यों सिद्धान्तों तथा आदर्शों को पूर्णतया भूल चुके है। समाज की इन पतनोन्मुख दशा को देखकर गांधी जी ने अपनी शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति में नैतिकता को समाविष्ट करना बताया। उनके अनुसार –''मैंने सबसे ऊंचा स्थान हृदय की संस्कृति या चरित्र–निर्माण को दिया है और मुझे अनुभव हुआ कि सबको सम्पन्न रूप से नैतिक शिक्षा दी जा सकती है। इस बात से कोई प्रयोजन नहीं है कि उनकी आयु और पालन–पोषण में कितना

ही अन्तर क्यों नही।"

शिक्षा के सामाजिक आधार में बुनियादी शिक्षा के अंतर्गत श्रम के आयोजन एवं उद्योग की प्रधानता द्वारा वर्ग–भेद की गहरी खाई को पाटने की व्यवस्था की गई है। शिक्षा क्षेत्र में पूर्व प्रभावित वर्ग अनुकूल शिक्षा–सिद्धान्त की समाप्ति की जाकर सामान्य रूप से समानता के आदर्श की रक्षा की गई है। श्रम की व्यवस्था एवं उद्योगों का चयन समाज में फैली हुई बेकारी की समस्या का उन्मूलन कर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सामाजिक कुशलता का निर्माण करता है, जीवन में सादगी लाता है। शिक्षा–पद्धति में प्रचलित जनतंत्रात्मक शासन–पद्धति से अनुशासनहीनता की समस्या भी उत्पन्न नही होती।

शिक्षा द्वारा शिक्षण में संलग्नशील एक शिक्षक के व्यक्तित्व में उन सामाजिक तत्वों के सम्मिश्रण की आवश्यकता है, जिनके द्वारा विद्यार्थियों को प्रभावित करके उन्हें सामाजिकीकरण के निमित तैयार कर सके। अगर शिक्षक का व्यक्तित्व स्वस्थ्य एवं संतुलित नहीं है, तो अपने प्रस्तुत पाठ के आधार पर उनमें उन गुणों को विकसित कर सकने में वे असमर्थ होंगे, जिनके द्वारा छात्रगण सामाजिक श्रृंखलाओं से तादात्य स्थापित करते हैं तथा समाज के एक गुणी और योग्य नागरिक बनाते हैं। विचार प्रधान बहुमुखी व्यक्तित्व वाले पुरूष से ही श्रेष्ठ शिक्षक होने की आशा की जा सकती है। धैर्य, निष्पक्षता एवं न्याय, सहयोगात्मक भाव प्रेम और सहानुभूति, प्रसन्नता मिलन सारिता और शिष्ट मर्यादापूर्ण व्यवहार मधुर वाणी और शालीनता, बोलचाल पर सयंम, विनोद प्रियता और मितमाषिता श्रम और कर्म के प्रति लगाव, उच्च्च विचार और सरल जीवन के प्रति आस्था, नियमितता, सन्नद्रता, उदारता, नेतृत्व शक्ति आदि सामाजिक गुण हैं। हमें इन गुणों को शिक्षा के माध्यम से समाज में विकसित करना है।

सामाजिक वातावरण, जिसके अन्तर्गत जीवन के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रम समाज सेवा, उत्सव और त्योहारों के आयोजन राष्ट्रीय सांस्कृतिक कार्य तथा विभिन्न विषयों की योजना आदि है। इन कार्यक्रमों को शिक्षा

क्रम में समावेश करने में बालकों में राष्ट्रीयता सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक शिष्टाचार तथा सहकारिता की भावना का विकास होता है। उनके व्यक्तिगत स्वार्थ के संकेन्द्रित दृष्टिकोण सामाजिक हित में परिवर्तित हो जाते है। उनके जीवन के पारस्परिक ईर्ष्या, भेदभाव आदि निकल जाते हैं और उनमें भातृत्व का उदय होता है। इस प्रकार प्रजातांत्रिक प्रणाली की शासन व्यवस्था में बुनियादी तालीम महत्वपूर्ण है।

गांधी जी और रूसो में अंतर यह है कि गांधी जी चाहते थे कि बालकों का भरण–पोषण तथा शिक्षा समाज के भीतर अपने जीवन की दैनिक प्रक्रिया करते हुए सामाजिक, भौतिक एवं औद्योगिक प्रतिवेशों के अनुकूल हो। बच्चों पर किसी प्रकार का ज्ञान लादा नहीं जाए, बल्कि जो भी ज्ञान उन्हें मिले, उसका सम्बन्ध समाज से प्रकृति से एवं उपयोग से इस प्रकार अनुवांछित हो कि वे तीनों प्रतिवेशों की गोद में पलते हुए स्वभावतः ज्ञान प्राप्त कर सके। इस प्रकार की शिक्षा किसी समाज के उत्थान और विकास की आधारशिला होगी।

शिक्षा ऐसी हो कि मनुष्य समाज में रहकर समाज और विश्व के कर्तव्यों को पूरा करता हुआ प्राणिमात्र की सेवा करे और उस सेवा से आत्मोत्थान करे। आज विश्व में धर्म–धर्म के कारण स्वार्थ–स्वार्थ के कारण समाज में संघर्ष चल रहा है। विश्व एक दूसरे को हिंसा द्वारा परास्त करना चाहता है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से, एक समाज दूसरे समाज से, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से डरता है। सारे विश्व में भय और विषमता का साम्राज्य फैला हुआ है। इस प्रकार की सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए इस प्रकार की सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था होना चाहिए जो समाज में शांति, सौहार्द, आपसी प्रेम सहयोग एवं सहकारिता को बढ़ाए।

स्वामी श्रद्धानन्द के विचारों में किसी भी समाज अथवा राष्ट्र की उन्नति तभी हो सकेगी जब वहां नागरिकों का विचार उच्च होगा। विचारों की उच्चता के पश्चात ही मनुष्य में मानवोचित गुणों का आविर्भाव होता है, श्रेष्ठता के लक्षण आते हैं तथा वे शक्तियां प्रादुर्भूत होती हैं जिनके सहारे वह अपना ही नहीं अपितु अपने समाज, राष्ट्र

और विश्व तक का कल्याण करता है। इस प्रकार की शिक्षा ही सामाजिक विकास का आधार है।

डॉ. राधाकृष्णन समाज को एक ऐसे श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित रूप में विकसित देखना चाहते है, जिसके उच्च आदर्श मानवता के श्रेष्ठ गुणों से आबद्ध हो, जिस उच्च समाज के व्यक्ति वर्ग वर्ण आदि की सकीर्णता में ही अपने अमूल्य समय और अनमोल जीवन का नाश नहीं करते हों। अपनी पुस्तक 'सर्च फार ट्रुथ' के पृष्ठ 71 पर इस भावना को उन्होने व्यक्त किया है। उनके शिक्षा–दर्शन में भारतीय संस्कृति धार्मिक,[1] नैतिक एवं लोक कल्याण–मय विचारों का सामंजस्य तथा विश्व बंधुत्व की भावना है।

महात्मा गांधी के समान शिक्षा द्वारा डॉ. राधाकृष्णन लोकराम निर्माण हेतु कर्त्तव्य एवं नागरिकता की भावना से ओत–प्रोत कुशल जीवन–यापन करने की क्षमता सम्पन्न चरित्रवान शिष्ट और स्वावलम्बी नागरिक तैयार करना चाहते हैं जिनमें आदर्श जीवन–यापन करने की शक्ति हो तथा जो मानवता के विकास हेतु अपनी अमूल्य निधि त्यागने को तैयार रहते हो।

बिनोवा जी के विचारों में सर्वोत्तम समाज की स्थापना तभी हो सकेगी, जब हम सच्चे अर्थ में शिक्षित होंगे। शिक्षा द्वारा सच्चे मानव एवं आदर्श समाज की स्थापना करनी है। प्लेटो की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य आदर्श समाज के लिए ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना था जो किसी कार्य को सहृदयता एवं विवेक से करें। सामाजिक अपेक्षाएं बदलती रहती है। अनुभूतियो तथा अपेक्षाओं के अनुसार मनुष्य के सर्वागीण विकास के लिए तथा काल–प्रवाह के अनुकूल मनुष्य स्वभाव गढ़ने के लिए जो शिक्षा व्यवस्था स्थापित की जाती है, उसे ही हम सामाजिक शिक्षा कह सकते है। हम कह सकते है कि समाज–शिक्षा का कोई सीमित मापदंड नहीं हो सकता है, चूंकि समाज का स्वरूप समाज की आवश्यकता के अनुसार बदलता रहता है। समाज तो पानी की तरह है उसमें जो रंग डालिए वह उसी रंग को पकड़ लेगा। 'समाज शिक्षा' एक अपेक्षा है,

1. 'My Search for Truth' By Dr. Radha Krishnan, Published by Hind Pocket Books, Delhi, P. 71

भावना है, अतः यह विचार अधिक गहन और सूक्ष्म प्रतीत होता है।

समाज शिक्षा के उद्देश्यों में (1) समग्र प्रजा के उन्नत जीवन के लिए उन्नत से उन्नत मार्गो को प्रशस्त करना (2) परम्परित जातीय धार्मिक तथा देशीय संकुचिताओं को दूर करना (3) 'वसुधैव कुटुम्ब' की भावना का प्रचार प्रसार करना, 'सा विद्या या विभुक्तये' सिद्धान्त के आधार पर मुक्त सामाजिक मानव का संस्करण करना।

इस तरह 'समाज–शिक्षा जीवन को पहचानने समझने तथा व्यक्तिगत दृष्टिकोण विकसित करने वाला यह एक अभिगम दृष्टिकोण है। इसमें नागरिकता, सहिष्णुता, उदारता, मानवता तथा वृत्ति मुक्ति पाने दिलाने की युक्तियों का एक मार्ग सूचित होता है। इन्ही विचार–तत्वों के आधार पर यदि परिभाषा देनी हो तो कह सकते है कि 'सामाजिक–शिक्षा' कोई अलंकृत सिद्धान्त नहीं; परन्तु व्यक्ति से समूह तक की स्वतन्त्रता की हामी गतिशील क्रिया है, नेतृत्व का प्रशिक्षण है व्यक्ति का उभार है, नवीनता का उन्मेष है, उन्नत जीवनयापन की उन्नत प्रक्रिया का मूल श्रोत है। अर्थात मनुष्य को मनुष्य बनाने का मार्ग है।

सम्पूर्ण रूप में देखा जाय तो समाज–शिक्षा का क्षेत्र अतिशय विस्तृत है। कुटुम्ब विद्यालय, मन्दिर–मस्जिद, विधानसभा, संसद भवन, समस्त राजनैतिक दल, समस्त क्लब, बैंक, बाजार, सहकारी मंडली, पंचायत आदि सब संस्थायें सामाजिक–शिक्षा का कार्य करती है अथवा उन्हें यह कार्य करना चाहिए।

स्त्री शिक्षा

प्राचीन भारत में स्त्रियों को पुरूषों के समान शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार न था। मुस्लिम काल में पर्दा–प्रथा के कारण अमीर घरानों की लड़कियां व्यक्तिगत रूप से शिक्षा लेती थी। प्राचीन काल में कुछ विदुषी नारियों का उल्लेख मिलता है जिनमें विश्वतारा, घोषा, लोपमुद्रा, अपाला, उर्वशी, गार्गी और मैत्रयी का नाम उल्लेखनीय है। बौद्धकाल में स्त्रियों की शिक्षा के लिए पृथक संघ थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय स्त्रियों की शिक्षा में प्रगति नहीं हुई।

मिशनरियों ने लड़कियों की शिक्षा के लिए कुछ स्कूल खोले। सन् 1819 में डेविड हेयर ने बालिका–समाज नामक संस्था की स्थापना की। राज राममोहन राय और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने स्त्री शिक्षा के लिए कई विद्यालय खोले। सन् 1854 में बुड के घोषणा पत्र में स्त्री शिक्षा का भार शासन ने स्वयं लिया और 1882 तक प्रत्येक स्तर में बालिकाओं की शिक्षा में पर्याप्त सुविधायें हो गयी। सन् 1902 में स्त्रियों के लिए 12 महाविद्यालय 467 माध्यमिक विद्यालय तथा ५,६२८ प्राथमिक विद्यालय हो गए थे। 1904 में श्रीमती ऐनीवेसेन्ट ने बनारस में केन्द्रीय हिन्दू बालिका विद्यालय की स्थापना की। सन् 1916 में लेडी हार्डिंग चिकित्सा विद्यालय दिल्ली में स्थापित हुआ। महर्षि कर्वे ने इसी समय "श्रीमती नाथीबाई दामोदर 61 ठाकरसी महिला विश्वविद्यालय" बम्बई में स्थापित किया।

सन् 1927 में 'अखिल भारतीय स्त्री–शिक्षा सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें नारियों ने पुरूषों के समान अधिकारों की मांग की। 1937 से 1947 तक स्त्री शिक्षा में संतोषजनक प्रगति हुई। सन् 1946-47 में बालिकाओं के लिए कुल 28,196 शिक्षा संस्थाएं चल रही थी।

सन् 1949-50 की अपेक्षा सन् 1956-57 में स्त्री शिक्षा में उमित रूप में वृद्धि हुई। यह प्रगति बालकों की तुलना में कम ही थी। सुविधाओं के अभाव में शिक्षा का विकास पिछड़े क्षेत्रों में न के बराबर ही हुआ।

स्त्री शिक्षा की राष्ट्रीय समिति ने सन् 1970 में अपने वार्षिक प्रतिवेदन में इस प्रकार के सुझाव दिये है।

1. राष्ट्रीय पुनः निर्माण एवं बलिकाओं में शिक्षा प्रसार के कार्यक्रम समान है, आगे स्त्री–शिक्षा पर विशेष ध्यान देना होगा।
2. स्त्री और पुरूषों की शिक्षा के भेद को समाप्त करना।
3. स्त्री–शिक्षा के लिये योग्य अध्यापकाओं की नियुक्ति की जाय जो ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने को तैयार रहें।

4. स्त्री–शिक्षा के लिए पृथक रूप से अधिक से अधिक धन जुटाया जाय।
5. स्त्री–शिक्षा के लिए केन्द्र को अपना दायित्व बढ़ाना होगा तथा राज्यों को इस काम हेतु विशेष वित्तीय मदद करनी होगी।

अध्यापिकाओं की संख्या में बढ़ोत्तरी अध्यापिकाओं के आवास की व्यवस्था आवश्यक होगी।

हमारे मानवीय साधनों के पूर्ण विकास परिवारों का सुधार, समाज का सुधार, बच्चों के चरित्र का निर्माण, देश का उत्थान आदि के लिए महिलाओं की शिक्षा पुरूषों की शिक्षा से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

स्त्री–शिक्षा के प्रति जागृति के अभाव में अन्य समस्यायें भी रही जैसे – बाल–विवाह, विद्यालयों का अभाव, महिला शिक्षिकाओं का अभाव, उचित पाठ्यक्रम का अभाव, गरीबी एवं अन्धविश्वास कि शिक्षित स्त्रियां कुशल गृहणी नहीं बन सकती।

केन्द्र एवं राज्य सरकार ने इस दिशा में ठोस कदम उठाये है। केन्द्रीय सरकार ने की श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में मई 1958 में स्त्री–शिक्षा की राष्ट्रीय समिति की नियुक्ति की।

1959-60 में बलिकाओं की शिक्षा के विभिन्न क्रमों तथा वयस्क स्त्रियों की शिक्षा से सम्बन्धित समस्याओं पर सरकार को परामर्श देने के लिए महिला शिक्षा की एक राष्ट्रीय परिषद स्थापित की गई।

कोठारी कमीशन ने भी सरकार को इस विषय में ठोस सुझाव दिये है। अर्थाभाव को दूर करने के लिए कमीशन ने छात्रवृत्ति एवं वित्तीय सहायता के लिए जोर दिया है। विस्तृत पैमाने पर छात्रावास व्यवस्था, ग्रामीण क्षेत्रों में पढ़ाने वाली शिक्षिकाओं के लिए विशेष भत्ता आदि का प्रबन्ध करने की सिफारिश की है। उच्चतर शिक्षा को उन व्यवसायों से सम्बन्धित किया जाय जिनकी राष्ट्र व समाज को आवश्यकता है।

पं. नेहरू ने एक बार कहा था कि लड़के की शिक्षा एक व्यक्ति की शिक्षा है तथा लड़की की शिक्षा सम्पूर्ण परिवार की शिक्षा है। स्त्री शिक्षा द्वारा ही परिवार को

स्वर्ग बनाती है। स्त्री–शिक्षा से सम्पूर्ण समाज का विकास होता है।

"यन्त्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तन्न देवता" का उद्‌घोष करने वाले वैदिक समाज में स्त्रियों को पुरूषों के समान शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था।

आज स्वतन्त्रता के पश्चात राष्ट्रीय सरकार ने स्त्री शिक्षा के लिए पर्याप्त उत्साह प्रदर्शित किया है। संविधान की धाराओं में महिलाओं को पुरूषों के समान अधिकार दिये गये।

शासन द्वारा सह–शिक्षा को प्रोत्साहन छात्रवृत्तियां, छात्रावासों का निर्माण, ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने वाली अध्यापिकाओं के लिए अलग भत्ते की व्यवस्था। विशेष पुरस्कार संरक्षकों द्वारा बालिकाओं को शिक्षित करने के लिए जनमत तैयार करने के कार्यक्रम आदि सम्बन्धी कदम उठाये गये। शासन के सहयोग एवं आर्थिक मदद के कारण महिलाओं को फार्म फैक्टरी, इंजीनियरिंग, अध्यापन, वाणिज्य, कानून, प्रशासन, खान रेल पुलिस आदि विभिन्न क्षेत्रों में पुरूषों के समान अवसर तथा सुविधायें देना प्रारम्भ कर दिया। इसका प्रभाव यह बढ़ा कि महिलाओं ने विभिन्न व्यावसायिक पाठ्‌यक्रमों में भाग लेना प्रारम्भ किया है। महिलाओं के लिए अलग आई.टी.आई पॉलिटेक्निक, अध्यापक प्रशिक्षण संस्था, सिलाई विद्यालय, नर्स ट्रेनिंग सेन्टर, शारीरिक शिक्षा केन्द्र, चिकित्सा शिक्षा केन्द्र, वाणिज्य शिक्षा–केन्द्र स्थापित है तथा इन केन्द्रों के अतिरिक्त पुरूषों के साथ भी विभिन्न केन्द्रों पर महिलाएं प्रशिक्षण ले रही है एवं दक्षता में पुरूषों की बराबरी कर रही है।

वर्तमान समय में स्त्री–शिक्षा के सम्पूर्ण अवसर प्राप्त है। पुरूषों और महिलाओं को शिक्षा के लिए शासन और सामाजिक स्तर पर कोई भेदभाव या बन्धन नहीं है। पुरूषों के समान स्त्री भी अपनी इच्छानुसार शिक्षा के किसी भी क्षेत्र में ज्ञान प्राप्त कर सकती है। लेकिन कठिनाई यह है कि आज उच्च शिक्षा के लिए आर्थिक रूप से महिलाओं के लिए संकट है, विशेष तौर पर बालकों पर शिक्षा के नाम पर अधिक व्यय किया जाता है और ध्यान भी दिया जाता है। सम्पन्न वर्ग ही बालक एवं बालिकाओं

को शिक्षा के लिए समान रूप से सुविधायें दे सकता है। इस विसंगति की गहराई तक जाना और दूर करना केन्द्र एवं राज्य शासन के हाथ में है।

अनुशासन

शिक्षा में अनुशासन का प्रमुख स्थान है। अनुशासनहीनता आने पर विद्यार्थी अपने सही लक्ष्य की ओर न चलकर गलत रास्ते पर चला जाता है और उसके अन्दर उच्छृङ्खलता पनपती है।

कुछ शिक्षाशास्त्री यह कहते हैं कि विद्यालय या समाज में स्वतन्त्रता के कारण अनुशासन में बाधा पड़ती है। स्वतन्त्रता और अनुशासन वास्तव में आपेक्षित होते है और यदि यह कहा जाये कि स्वतन्त्रता और अनुशासन वास्तव में एक ही मनोवृत्त के दो पहलू हैं तो अनुचित नही है। समाज एवं शिक्षा के क्षेत्र में इन दोनों की आवश्यकता भी है। ये दोनों व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक हैं।

अनुशासन शब्द के लिये अंग्रेजी में "डिसिप्लिन" शब्द का प्रयोग किया गया है और अनुशासनहीनता के लिये "इन डिसिप्लिन"।" "डिसिप्लिन" शब्द लैटिन के शब्द डिसिप्ल्यूऊस से निकला है। डिसिप्लिन का अर्थ है अनुदेश नियंत्रण को मानना व्यवस्था आदि। इसी शब्द से डिसिप्लिन भी निकला है। अस्तु शिष्य का अर्थ ऐसे व्यक्ति से होता है जो अपने गुरू का अनुदेश स्वीकार और उनसे ज्ञानार्जन करे। अतएव अनुशासन (अनु + शासन) अर्थात शासन या व्यवस्था का अनुशरण शिक्षा विकास की एक पूर्वदशा या एक साधन भी कहा जा सकता है। डी. वी. ने लिखा है – "एक अनुशासित व्यक्ति वह है जो अपने कार्यों पर विचार करने उन्हें समझ बूझकर करने का प्रशिक्षण पा चुका है। इस योग्यता में ज्ञान भंग करने वाली अव्यवस्था तथा कठिनाई की स्थिति में एक बुद्धिपूर्ण निश्चित मार्ग पर चलने की शक्ति जोड़ दो तो तुम्हें अनुशासन का तत्व मिल जायेगा।"

आर. सी. रिकार्डसन के अनुसार "अनुशासन को अपने गूढ़ता और अधिक महत्वपूर्ण अर्थ में प्रत्येक तथा सभी परिस्थितियों में तुरन्त एवं मूल्य प्रवृत्यात्मक ढंग से

आज्ञापालक की आदत कहा जा सकता है।

वास्तव में अनुशासन का विचार संकुचित एवं व्यापक बताया गया है। संकुचित विचार से अनुशासन केवल 'आज्ञा' या 'व्यवस्था' होता है। जिसमें व्यंक्ति कुछ कठोर नियमों को यंत्रवत पालन करता है जिस प्रकार सेना का सिपाही सेनानायक के आदेश का पालन करता है। यहाँ पर उनका व्यवहार आत्मानुभूति पर आधारित न होकर दूसरे के आदेश पर आधारित होता है। व्यापक विचार से अनुशासन का तात्पर्य "सुव्यस्थित बाह्य आचरण" से नहीं है जिस पर बलात नियंत्रण लादा गया हो। बल्कि व्यापक विचार से अनुशासन के अन्तर्गत व्यक्ति अपने आन्तरिक आचरण एवं प्रेरणाओं पर स्वयं नियंत्रण की क्षमता रखता है।

जनतन्त्र में स्वतन्त्रता को अधिक महत्व दिया जाता है लेकिन अनुशासन स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं है। अतएव जन्तन्त्र से अनुशासन का तात्पर्य बालक तथा बालिकाओं को जनतन्त्र के सामाजिक जीवन के लिये तैयार करना है। इस प्रकार का विचार मूलर महोदय का है "जनतन्त्र का सामाजिक जीवन उच्छृखंलता या स्वच्छन्दता का नहीं होता है बल्कि उसमें भी एक व्यवस्था होती है अच्छा आचरण होता है और आपस में ऐसा आचरण किया जाता है कि उससे उत्तम फल प्राप्त हो सके। अनुशासन इस प्रकार जीवन को प्राप्त करने का साधन है। अनुशासन की कसौटी होती है अच्छा व्यवहार जो बालकों में अपेक्षित है। ऐसे व्यवहार और आचरण के लिये अच्छे विचारों की आवश्यकता है और बालकों के चरित्र में पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अनुशासन का अर्थ इस न्यायपूर्ण एवं अच्छे आचरण और व्यवहार से है जो जनतन्त्रीय जीवन एवं समाज के लिये आवश्यक एवं अपेक्षित है तथा जिनका मूल अच्छे चरित्र में होता है। इसी पर जनतन्त्र की वास्तविक स्वतन्त्रता निर्भर है।

अनुशासन में अध्यापक एवं छात्र में एक प्रकार का आचरणिक सम्बन्ध स्थापित होता है। अनुशासन में छात्र अध्यापक के प्रति विनम्र होता है और अध्यापक उनके ऊपर पूरा ध्यान रखता है और सहानुभूति से काम लेता है। जब कि अनुशासनहीनता

की स्थिति में बालक का आचरण अध्यापक के प्रति उद्धंड होता है जिसमें अध्यापक को अध्यापन कार्य पर सुरूचि पैदा नहीं होती है और वह अपने वेतन के लिये समय की खाना पूरी करता है। इससे विद्यालय और समाज का वातावरण दूषित होता है। इसलिये अनुशासनहीनता पर क्रमबद्ध तरीके से वैज्ञानिक आधार पर सहृदयतापूर्वक अंकुश लगाना चाहिये। अनुशासनहीनता के प्रति यदि दंड विधान को प्राथमिकता दी गई तो परिणाम विपरीत ही होंगे। महात्मा गाँधी, विनोबा भावे, डा. जाकिर हुसैन ने शिक्षा में दंड विधान को पूरी तरह नकारा है। अनुशासनहीन बालकों अध्यापक एवं अभिभावक को स्वयं अपने अच्छे आचरण बर्ताव तथा सहृदयपूर्ण वातावरण से सुधारा जाना ज्यादा उपयोगी साबित होगा।

विद्यालय में अध्यापक का आवश्यक कार्य अनुशासनहीनता को दूर करना और बचाना है। अनुशासन स्थापित करने के लिये शिक्षाशास्त्रियों ने तीन सिद्धान्त बताये हैं। नारमन मेकमन और ऐडम्स ने इसकी विवेचना की है। ये सिद्धान्त (1) दयनात्मक (2) प्रभावात्मक (3) मुक्त्यात्मक है।

दमनात्मक सिद्धान्त का तात्पर्य शारीरिक दण्ड तथा बल प्रयोग करना है। इसका समर्थन आदर्शवादी दार्शनिक करते हैं। जबकि प्रतिरोध प्रकृतिवादी एवं यथार्थवादी शिक्षाशास्त्रियों ने किया और इस प्रकार के अनुशासन को अमनोवैज्ञानिक ठहराया और अजनतन्त्रवादी कहा है। प्रभावात्मक सिद्धान्त के अनुकूल बालक का चरित्र अध्यापक के चरित्र के प्रभाव से बनता है। बालक में अनुकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। यदि अध्यापक का आचरण एवं व्यवहार अच्छा है तो उसका अनुकरण बालक स्वयं करेंगे। इस प्रकार के सिद्धान्त का समर्थन प्रयोगवादी एवं यथार्थवादी दोनों करते हैं।

मुक्त्यात्मक सिद्धान्त का आधार बालक की स्वतन्त्र प्रकृति है। प्रकृतिवादी शिक्षाशास्त्री इसके समर्थक है। बालक को मुक्त वातावरण में अपनी रूचियों, शक्तियों, प्रवृत्तियों आदि के साथ विकास करने देना चाहिये। इसे मनोवैज्ञानिक कारण बताया गया है। स्वतन्त्रता से ही अच्छे चरित्र का निर्माण होता है, व्यक्तित्व का पूर्ण विकास

होता है।

इन तीनों सिद्धान्तों को देखने से मालूम होता है कि अति उचित नहीं है। हमें एक ऐसे मध्य मार्ग को ग्रहण करना चाहिये जिससे बालक के व्यक्तित्व का विकास हो। इस सम्बन्ध में रॉस की बात मान्यनीय है उसने लिखा है – "प्रभाव की विधि अधिक महत्वपूर्ण एवं वांछनीय है।" इससे सच्चा अनुशासन स्थापित होता है। अनुशासन का दृष्टिकोण तीनों सिद्धान्तों के समन्वय से निर्मित होना चाहिये।

अनुशासनहीनता को दूर करने के लिये उसके कारण जानना जरूरी है। अनुशासनहीनता के मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक तथा शैक्षिक कारण हो सकते है। केन्द्र के भू. पू. शिक्षामंत्री डा. श्री माली की उक्ति है "इस दुर्गति का निवारण तभी सम्भव है जब हम उन कारणों को दूर कर दें जो समाज में तनाव पैदा करते हैं और उसे अस्त–व्यस्त बनाते है। इसके लिये हमें आज अति स्पर्धी सामाजिक व्यवस्था को पूर्णतया बदलना होगा जिसके कारण आर्थिक अरक्षा शोषण और घृणा समाज में घर किये हुये है। इनके स्थान पर ऐसी नई सामाजिक व्यवस्था लानी होगी जो सहयोग पर निर्भर हो जिसमें आर्थिक सुरक्षा हो, जो लोगों में आपसी मित्र भावना व प्रेम पैदा करे।"

अनुशासन कायम करने के लिये पुरस्कार एवं उचित (जिसमें क्षति न हो) दण्ड का प्रयोग किया जावे इसमें अच्छे काम के लिये प्रेरणा मिलेगी और बुरे काम की आदत छूटेगी।

राष्ट्रीय एकता

यदि किसी राष्ट्र का नागरिक राष्ट्रीयता की भावना से ओत–प्रोत है तो राष्ट्र उन्नति के शिखर पर चढ़ता रहेगा। राष्ट्र को सवल व सफल बनाने के लिये नागरिक में राष्ट्रीयता की भावना विकसित करना आवश्यक है जिसमें शिक्षा का प्रमुख योगदान होता है। प्राचीन युग में स्पार्टा तथा आधुनिक युग में नाजी जर्मनी एवं फासिस्ट इटली में शिक्षा द्वारा ही वहाँ के नागरिकों में राष्ट्रीयता का विकास किया गया तथा आज भी

चीन में प्रारम्भिक कक्षाओं से साम्यवादी भावना का विकास किया जाता है। तानाशाही, समाजवादी तथा साम्यवादी एवं जनतन्त्रीय सभी प्रकार के राष्ट्र अपनी–अपनी व्यवस्था को बनाये रखने के लिये अपने–अपने नागरिकों में शिक्षा द्वारा राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करते हैं।

राष्ट्रीयता की शिक्षा से राजनीतिक एकता, सामाजिक उन्नति, आर्थिक उन्नति, संस्कृति का विकास भ्रष्टाचार का अन्त स्वार्थ त्याग भावना का विकास एवं राष्ट्रीय भाषा का विकास आदि का लाभ सन्निहित है।

इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता की शिक्षा से नागरिकों में राष्ट्र के प्रति आभार भक्ति, आज्ञापालन, आत्म–त्याग, कर्त्तव्यपरायणता तथा अनुशासन आदि गुणों का विकास होता है तथा सभी प्रकार के भेदभावों को भुलाकर एकता के सूत्र में बंधकर राष्ट्र की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार की उन्नति होती है।

भारत में विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों तथा प्रजातियों एवं भाषाओं के कारण आश्चर्यजनक विलक्षणता तथा विभिन्नता पाई जाती है। इस विभिन्नता से यह नहीं समझना चाहिये कि भारत में आधारभूत एकता का अभाव है। जादूनाथ सरकार तथा हरबर्ट रिजले आदि विद्वानों का मत है कि भारत में परस्पर विरोधी विचारों सिद्धान्तों एवं भाषाओं रहन सहन के ढंगों, आचार–विचार तथा वस्त्रों एवं खाद्यान्न आदि बहुत सी बातों में विभिन्नता होते हुये भी जीवन की एकता पाई जाती है।

राष्ट्रीय एकता की समस्या के सम्बन्ध में 'माध्यमिक शिक्षा आयोग' के अनुसार – "हमारी शिक्षा की ऐसी आदतों तथा दृष्टिकोणों एवं गुणों का विकास करना चाहिये जो नागरिकों को इस योग्य बना दे कि वे जनतंत्रीय नागरिकता के उत्तरदायित्वों को वहन करके उन विघटनकारी प्रवृत्तियों का विरोध कर सके जो व्यापक राष्ट्रीय तथा धर्म–निरपेक्ष दृष्टिकोण के विकास में बाधा डालती है।"[1]

1. Secondary Education Commission Report (1952-53), P. 23

राष्ट्रीय एकता के विकास के लिये मुख्य बाधायें जातिवाद, साम्प्रदायिकता, प्रांतीयता, राजनीतिक दल, विभिन्न भाषायें, सामाजिक भिन्नता, आर्थिक विभिन्नता, उचित नेतृत्व का अभाव और अनुचित शिक्षा आदि हैं।

इन बाधाओं को दूर करने के लिये भारत सरकार में दो समितियों का गठन किया – एक भावात्मक एकता समिति 1961 तथा दूसरी राष्ट्रीय एकता समिति 1967। भावात्मक एकता समिति के अध्यक्ष डा. सम्पूर्णानन्द थे। ऐसे ही राष्ट्रीय एकता समिति की अध्यक्षता श्रीमती गाँधी ने की थी।

राष्ट्रीय एकता समिति ने जहाँ एक ओर राष्ट्रीय एकता के लिये शैक्षिक कार्यक्रमों का सुझाव दिया वहाँ दूसरी ओर शिक्षा के उद्देश्यों तथा कार्यक्रमों के विषय में भी सुझाव दिये।

राष्ट्रीयता की शिक्षा में गुणों के साथ–साथ कुछ दोष भी है। इसमें संकुचित राष्ट्रीयता का विकास, व्यक्ति की स्वतन्त्रता की उपेक्षा, कट्टरता का विकास, युद्ध पृथकत्व की भावना का विकास, स्वार्थपरता तथा अनैतिकता को प्रोत्साहन, घृणा तथा भय का विकास, सभ्य विकास में बाधक आदि हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में अन्ध राष्ट्रवाद मानव सभ्यता के लिये कलंक सिद्ध हो रहा है। संकुचित राष्ट्रवाद से अब मानव का हित नहीं हो सकता। अतः शिक्षा में संकुचित राष्ट्रीयता की भावना को त्याग कर राष्ट्रीयता के व्यापक दृष्टिकोण को अपनाना चाहिये। आधुनिक युग में प्रत्येक राष्ट्र को अपना दृष्टिकोण उदार बनाना चाहिये तथा राष्ट्रीयता के व्यापक सिद्धान्त को अपनाकर नागरिकों में विश्व–बन्धुत्व एवं विश्व नागरिकता की भावना को प्रोत्साहित करना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीयता भावना से विश्व में शांति बनी रहेगी और प्रत्येक राष्ट्र उन्नति के शिखर पर चढ़ता रहेगा।

पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था – "हम लोगों को संकुचित, सीमित विचार, प्रांतीयता, साम्प्रदायिकता और जातिवाद से ग्रसित नहीं होना चाहिये क्योंकि हमें एक बड़े लक्ष्य को प्राप्त करना है।"[1]

1. Jawahar Lal Nehru Speeches Vol. III, P. 35

भावात्मक एकता का अर्थ उस भावना से है जो राष्ट्र की विभिन्न जातियों, धर्मों तथा समूहों के लोगों के आपसी भेदभावों को मिटाकर सबको संवेगात्मक रूप से समन्वित करते हुये एकता के सूत्र में बांधती है।

भावात्मक चेतना के विकसित हो जाने से राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने पारस्परिक भेदभावों को भूलकर अपने निजी हितों के अपेक्षा राष्ट्र की आवश्यकताओं आदर्शों एवं आकांक्षाओं को सर्वोपरि समझने लगता है। हमारी शिक्षा को उद्देश्य यह होना चाहिये कि वह भारतवासियों में ऐसी भावात्मक एकता का संचार करे जिसमें वे अपनी जाति, धर्म, वर्ग तथा क्षेत्र के संकीर्ण आधारों पर होने वाले भेदभावों को भूलकर सम्पूर्ण भारत को अपना देश समझने लगे और समस्त भारतवासियों को अपना भाई।

डा. सम्पूर्णानन्द के शब्दों में – "देश में एकता है और वह एकीकृत रहेगा भी, चाहे इसके निवासियों में कितनी ही भिन्नता क्यों न पाई जाये। पर आम राष्ट्रीय और भावात्मक एकता के लिये जो मांग की गई है वह उन विघटनकारी प्रवृत्तियों को दूर करने के लिये की गई है, जो देश की शक्ति को निर्बल बनाना चाहती है।"

उक्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षा पाठ्य पुस्तकों में संशोधन एवं सुधार किया जाये। उनमें से अराष्ट्रीय बातों को निकालकर केवल उन्हीं तत्वों को सम्मिलित किया जाये तो भावात्मक एकता के विकास में सहायता प्रदान करें।

साम्प्रदायिकता

साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता के मार्ग में महान बाधा है हमारे देश में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि अनेक सम्प्रदाय पाये जाते है। यही नही इन सम्प्रदायों में भी अनेक सम्प्रदाय हैं। उदाहरण के लिये अकेला हिन्दू धर्म ही अनेक सम्प्रदायों में बंटा हुआ है। इन सभी सम्प्रदायों में आपसी विरोध तथा घृणा की भावना इस सीमा तक पहुँच गई है कि एक सम्प्रदाय का व्यक्ति दूसरे सम्प्रदाय को फूटी आँख से भी नहीं देख सकता। प्रायः सभी सम्प्रदाय राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा केवल अपने–अपने साम्प्रदायिक हितों को पूरा करने में ही जुटे हुये हैं। इसमें राष्ट्रीय एकता को खतरा है।

देश में अनेक सम्प्रदायों हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और पारसी आदि लोग रहते हैं। हिन्दुओं में – सनातनी, आर्यसमाजी, जैन, बौद्ध और सिक्ख आदि। इनमें हिन्दू, मुसलमान दो सम्प्रदाय ऐसे है, जिनमें आधारभूत भिन्नता है। कहाँ तक कहें भारत में रहने वाले मुसलमान भाई अपने को भारत का नागरिक ही नहीं मानते, उनकी श्रद्धा इस्लामी राष्ट्रों विशेषकर पाकिस्तान में अधिक देखी जाती है। पाकिस्तान का जन्म ही साम्प्रदायिक विद्वेष से हुआ और भारत खण्डित हुआ है। इन सम्प्रदायों के बीच द्वेष भावना भावनात्मक एकता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है।

हमारे राज्य में अपने–अपने धर्म मानने की तो छूट है परन्तु राज्य धर्म के नाम पर भेदभाव बरतता है। राज्य ने बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक का धर्म के नाम पर भेद किया है। शिक्षा के क्षेत्र में अल्पसंख्यकों को अपने विद्यालय स्वयं चलाने और उनमें धर्म की शिक्षा देने का अधिकार प्राप्त है जबकि बहुसंख्यकों को यह अधिकार नही है। विधि–विज्ञान के क्षेत्र में हमारे हिन्दू धर्म पर आधारित 'हिन्दूला' और इस्लाम धर्म पर आधारित 'मुस्लिम ला' है। इस आधार पर राज्य को धर्म निरपेक्ष या धर्म सापेक्ष क्या कहा जाये। जब राज्य यह प्रतिबन्ध लगाता है कि राज्य द्वारा संचालित अथवा अनुदान प्राप्त किसी भी शिक्षण संस्था में धर्म की शिक्षा नहीं दी जायेगी तो ऐसा लगता है कि धर्म निरपेक्षता के नाम पर धर्म विहीनता की बात है।

एक तथ्य यह भी है कि हम अपने–अपने धर्म को श्रेष्ठतम समझते है। हमें यह तथ्य जानना चाहिये कि संसार के सभी धर्म मनुष्य को कर्तव्यबोध कराते है और इस दृष्टि से उनमें आधारभूति समानता है। धर्म निरपेक्षता की प्राप्ति के लिये हमें स्कूलों में धर्म की शिक्षा का निषेध नहीं करना है। अपितु सभी धर्मों के सामान्य सिद्धान्तों की शिक्षा अनिवार्य रूप से देनी है।

धर्म निरपेक्षता हमारे लोकतंत्र का मूल सिद्धान्त है जिसका अर्थ है कि राज्य व्यक्ति–व्यक्ति में धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा। धर्म विद्वेष के कारण नागरिकों में धार्मिक उन्माद उत्पन्न होता है और साम्प्रदायिकता जन्म लेती है। साम्प्रदायिकता के भयंकर राक्षसी रूप का अनुभव हमें है। हमने उसका घृणित चेहरा देखा है। भाई–भाई के समान पास–पास रहने वाले पागलपन में एक दूसरे के खून के प्यासे हो जाते है और पागलपन की सीमा यहाँ तक उभार लेती है कि गैर धर्म के भाई का खून बहाने में धार्मिक लाभ महसूस करते हैं। वर्तमान में साम्प्रदायिकता का एक घृणित रूप आतंकवाद ने भी एक बड़ा आकार ग्रहण कर लिया है जिसकी चपेट में अनजान, नादान, युवा और वृद्ध आ रहे है और राज्य के पास इस समस्या के निदान के लिये अधिकाधिक साधन समय और सतर्कता के उपाय देने पड़ रहे है और देश पर अतिरिक्त आर्थिक बोझ पड़ रहा है जो कि देश के विकास में उपयोगी होता। साम्प्रदायिक शक्तियों और आतंकवादियों का कोई धर्म नहीं होता। यह मानवीयता से परे पशु समान हो जाते हैं।

साम्प्रदायिकता को मिटाने के लिये, यद्यपि यह दुरुह कार्य है, हमें अनवरत एक ऐसी संगठित शिक्षा प्रणाली को प्रभावी करना होगा जो सर्वधर्म समभाव की शिक्षा दें। नागरिकों में मानवीय गुणों का विकास करे और इन्सान में भाईचारा और सद्भाव उत्पन्न करे। सबका मालिक एक है और सभी उसकी प्रिय सन्तानें है इस प्रकार का साहित्य सृजन हो और शिक्षा में उसका प्रमुख स्थान हो तभी कुछ अंश तक साम्प्रदायिकता पर काबू पा सकते हैं। हमारे पूज्य महात्मा गाँधी ने अपना सारा जीवन ईश्वर अल्ला

एक ही नाम का जाप करते–करते बिताया और दुखद परिणाम यह रहा कि उनका जीवन साम्प्रदायिकता की भेंट चढ़ गया।

आधुनिक युग में शिक्षा प्रसार के साधन प्रचुर मात्रा में है। हमें पत्र–पत्रिकाओं, रेडियो, दूरदर्शन, चल–चित्र आदि माध्यमों से देश की जनता के नाम लगातार यह संदेश देना चाहिये कि इंसानियत ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है और मानव–मानव में कोई भेद नहीं है।

जीवन मूल्यों की आवश्यकता

शिक्षा में हम केवल प्रक्रिया के वर्णन से ही सम्बन्ध नहीं रखते हैं। जब हम कहते हैं कि शिक्षा जीवन है तो हमारा अभिप्राय अच्छे जीवन से ही है। हम कहते हैं कि शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है। इस उचित एवं अनुचित का या अच्छे एवं बुरे का निर्णय करना आवश्यक है। हम कुशिक्षा नहीं चाहते है। शिक्षा शब्द में ही भद्र एवं अभद्र का प्रयत्न निहित है। हम उद्देश्यों का निर्धरण करते समय स्पष्ट रूप से कहते हैं कि शिक्षा द्वारा अमुक परिवर्तन लाने चाहिये। मनोविज्ञान एवं समाज–शास्त्र में व्यवहार जिस प्रकार का है उसकी व्याख्या कर दी जाती है और उसके औचित्य पर विचार नहीं किया जाता। शिक्षा में औचित्य का निर्धारण आवश्यक है।

स्वामी दयानन्द के अनुसार शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा पदार्थ के स्वरूप का यथावत ज्ञान प्राप्त करते हुये वांछनीय गुणों के विकास द्वारा स्वयं अपने तथा दूसरों के जीवन को सुखी बनाया जा सके। इस प्रकार स्वामी जी के अनुसार शिक्षा सबसे महान तथा सबसे मूल्यवान गुण है। उनके अनुसार शिक्षा के बिना मनुष्य केवल नाम मात्र का मनुष्य है। शिक्षा प्राप्त करना, सद्गुणों का बनना, ईर्ष्या से मुक्त होना तथा धार्मिकता का उत्पान करते हुये व्यक्तियों के कल्याण का उपदेश देना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। इस प्रकार स्वामी जी के अनुसार शिक्षा जीवन मूल्यों को संरक्षित करना है। स्वामी जी ने लिखा है – "हमारा केवल उद्देश्य यह है कि मानव जाति

उन्नति करे तथा फले फूले। मनुष्य इस बात का ज्ञान प्राप्त करे कि सत्य क्या है और असत्य क्या है वे असत्य का त्याग करें तथा सत्य को स्वीकार करे।''

महात्मा गाँधी एक महान राजनीतिज्ञ के साथ महान शिक्षा–शास्त्री भी थे। उनका विश्वास था कि दूषित समाज में किसी आदर्श राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः उन्होंने सामाजिक क्रांति को भी जन्म दिया, जिसमें शिक्षा का प्रमुख स्थान है। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा योजना उनके शिक्षा दर्शन का मूर्तरूप थी। इस शिक्षा का उद्‌देश्य भारतीय जनता के हृदय तथा मन को पवित्र करके एक शोषण–विहीन समाज की स्थापना करना था। गाँधी जी पहले व्यक्ति थे जो भारतीय जीवन में वातावरण के अनुसार ऐसी शिक्षा योजना चाहते थे जो कार्यरूप में परिणत करके भारतीय समाज में एक नया जीवन डाल सके।

रवीन्द्र नाथ टैगोर का विश्वास था कि सच्ची शिक्षा द्वारा वर्तमान की सभी वस्तुओं में मेल और प्रेम भावना विकसित होगी। शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिये कि वह बालक को जीवन तथा विश्व के स्वर के मिलने से पूर्णतया अवगत कराये तथा दोनों के मध्य सन्तुलन स्थापित करे।

टैगोर ने स्वयं लिखा है – ''सर्वोत्तम शिक्षा वह है जो हमें सूचना तथा ज्ञान ही प्रदान नहीं करती अपितु हमारे जीवन का विश्व के समस्त जीवों के साथ मेल उत्पन्न करती है।''

अरविन्द घोष एक महान दार्शनिक के साथ–साथ उच्चकोटि के शिक्षाशास्त्री थे। उनके अनुसार मानव में केवल शारीरिक आत्मा ही नहीं होती अपितु उसका बौद्धिक मानसिक, बृम्ह सम्बन्धी, विशेष मस्तिष्क सम्बन्धी तथा उच्च आध्यात्मिक अस्तित्व भी होता है। श्री अरविन्द के अनुसार सच्ची शिक्षा वह शिक्षा है जो बालक के सामने स्वतन्त्र वातावरण प्रस्तुत करें तथा उसकी रूचियों के अनुसार उसकी क्रियात्मक बौद्धिक, नैतिक तथा सौन्दर्यात्मक शक्तियों को विकसित करके उसमें आध्यात्मिक विकास में सहायता प्रदान करे। उन्होंने स्वयं कहा है – ''सच्ची और वास्तविक शिक्षा
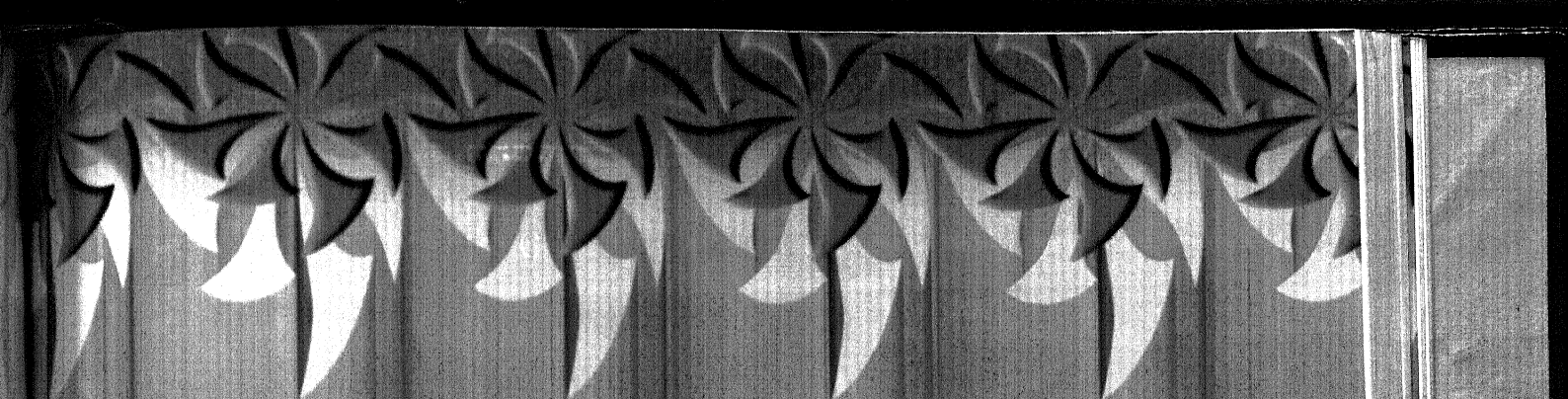
वह है जो मानव की अन्तर्निहित समस्त शक्तियों को विकसित करके उसे सफल बनाने में सहायता प्रदान करती है।"

इस तरह श्री अरविन्द घोष जीवन मूल्यों के प्रति अत्यधिक सजग थे। इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने कहा है – "आप उस व्यक्ति को शिक्षित मानते हैं जिसने कुछ परीक्षायें पास कर ली हो तथा जो अच्छे भाषण दे सकता हो। पर वास्तविकता यह है कि जो शिक्षा जनसाधारण को जीवन–संघर्ष के लिये तैयार नहीं कर सकती, जो चरित्र निर्माण नहीं कर सकती जो समाज सेवा की भावना को विकसित नहीं कर सकती तथा जो शेर जैसा साहस पैदा नहीं कर सकती, ऐसी शिक्षा से क्या लाभ है।"

डा. राधाकृष्णन के जीवन पर रवीन्द्र ठाकुर तथा विवेकानन्द का विशेष प्रभाव पड़ा था। वह गाँधी जी के दर्शन से भी अभिभूत थे। उनकी शैक्षिक विचारधारा में भारतीय संस्कृति के प्रति उदार दृष्टिकोण, धार्ममिकता, नैतिकता एवं जीवन–कल्याण की त्रिवेणी एवं विश्व–बन्धुत्व की उच्च भावना प्रकट होती है। उनकी दृष्टि में "शारीरिक कुशलता और बौद्धिक सजगता खतरनाक सिद्ध होगी, यदि आध्यात्मिक अशिक्षा बनी रहेगी।"

हमारे प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद एवं तृतीय राष्ट्रपति डा. जाकिर हुसैन भी भारतीय जीवन मूल्यों की आवश्यकता को गहराई से समझते थे। डा. जाकिर हुसैन महान शिक्षा–शास्त्री थे तथा डा. राजेन्द्र प्रसाद के शिक्षा के प्रति अति गम्भीर एवं फलदाई सुझाव थे। हमारे प्रथम तीनों राष्ट्रपति स्वामी विवेकानन्द विनोबा भावे एवं महात्मा गाँधी के दर्शन एवं शिक्षा विचारों के प्रति गहन आस्था रखते थे। सभी ने जीवन मूल्यों की आवश्यकता पर बल दिया है और भारत को अन्य राष्ट्रों के मुकाबले आध्यात्मिक एवं दर्शन क्षेत्र में श्रेष्ठ माना है। हमारा प्राचीनतम दर्शन आध्यात्मिक रूप से विश्व में प्रथम स्थान रखता है।

अष्टम अध्याय

निष्कर्ष एवं सुझाव

अष्ठम अध्याय

निष्कर्ष एवं सुझाव

निष्कर्ष

वर्तमान शिक्षा का मूल्यांकन करने तथा निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये आवश्यक है कि वर्तमान शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं एवं अवधारणाओं का गहराई से अध्ययन किया जाये।

"हमारा युवा वर्ग शिक्षा के उन मूल्यों से बहुत दूर चला गया है जो हमारी धरोहर थे, जिनसे हमारा समाज स्व–नियंत्रित होकर चलता था। जिन्हें हम मूल्य शिक्षा या नैतिक शिक्षा कहा करते थे। यह नैतिक मूल्य भर चुके है और इसके फलस्वरूप अमर्यादित आचरण बढ़ा है। सूचना और संचार क्रांति ने हमें वैचारिक प्रदूषण की सौगात दी है।"

आज टी. वी. चेनल क्या–क्या नहीं दिखा रहे है। बच्चा परिवार के अन्य सदस्यों के साथ बैठकर वह सब कुछ देखता है जो उसके भविष्य के लिये घातक है। उसके आँखे बचपन से ही नंगी तस्वीरें देखने की अभ्यस्त हो रही है। उसका परिवेश अश्लीलता और योगवाद से भरा जा रहा है।

बढते बाजारवाद ने ईमानदारी और नैतिकता को त्याग दिया है शिक्षा में मूल रूप ये यह सिखाया जा रहा है कि कमाई करो उपयोग करो। अब यह उक्ति कि "जैसा खाओ अन्न वैसा होगा मन" हमारे मस्तिष्क से विलुप्त हो चुकी है। अब घर गाँव, समाज, मूल्य, आदर्श, नैतिकता शास्त्र, धर्म, ज्ञान, सहिष्णुता और सहृदयता सभी पर बाजारवाद हावी है।

धोखा, छल, फरेव, धूर्तता अब समाज के प्रमुख तत्व बनते जा रहे हैं जो दिशाहीनता का परिचायक है और दिशाहीनता ही भटकाव की जननदात्री है। आज शिक्षक भी शिक्षक नही है। वे कर्मचारी हो गये है कोच हो गये हैं। उन्हें वेतन और टयूसन फीस तक लगाव है। बालकों के भविष्य के प्रति कोई चिन्ता नहीं और न कोई

लगाव है। निश्चित रूप से सामाजिक और नैतिक मूल्यों में गिरावट आ रही है। शिक्षक या गुरू भी परेशान है दिग्भ्रमित है। लोक कल्याणकारी सरकारों द्वारा शिक्षा और शिक्षकों को बाजार के भरोसे छोड़े जाने से निश्चित रूप से सामाजिक और नैतिक मूल्यों में गिरावट आ रही है। क्योंकि बाजार अपने ढंग से चलता है, जहाँ इन मूल्यों की कोई जगह नहीं रहती हैं।

आज बच्चों को सेक्स शिक्षा की वकालत की जा रही है लेकिन इसकी सीमायें, मर्यादायें निर्धारित नहीं की गई है। होना यह चाहिये कि मूल आधारित शिक्षा पर जोर दिया जाये। पाठ्यक्रमों में गाँधी, महाराणा प्रताप, विवेकानन्द, बहादुरशाह जफर, रफी अहमद कितवई सभी आदर्श है।

वास्तव में वर्तमान समय सामाजिक पतन का दौर है नैतिक मूल्य समाप्त हो चुके हैं। सूचना क्रांति और मोबाइल युग इसमें आग में घी का काम कर रहे है। वैचारिक प्रदूषण और खुलेपन के अन्धानुकरण ने हमें पथभ्रष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

सरकार यह स्वीकार करने लगी कि शिक्षा कुपोषण की शिकार है। कुछ लोग यह कहते हैं कि दोनों बच्चों की खुराक एक ही बच्चा (उच्च शिक्षा) हड़प किये जा रहा है और इसके चलते दूसरा बच्चा (प्राथमिक शिक्षा) भुखमरी का शिकार है।

योजना आयोग

प्रधानमंत्री ने हाल की योजना आयोग की पूर्व बैठक में यह घोषणा की कि ग्यारहवी योजना अवधि में सरकार शिक्षा के लिये आवंटन में चार गुना बढ़ोत्तरी करे और सरकार निजी खिलाड़ियों को केन्द्रीय संस्थानों में शामिल करने पर पहल कर रही है। दूसरे वह छात्रों द्वारा ली जाने वाली फीसों में बढ़ोत्तरी करने और उसके साथ–साथ यह सुनिश्चित करने के लिये कि उच्च शिक्षा तक पहुँच से कोई वंचित न रहे, छात्रवृत्तियों तथा ऋणों की एक समान्तर समर्थक प्रणाली की दलील दी जा रही है। इन दोनों प्रस्तावों की भ्रामकता नब्बे के बाद के दशक के हमारे अनुभव से साबित

हो जाती है जब शिक्षा क्षेत्र में भारी विस्तार हुआ था। यह विस्तार मुख्यतः निजी क्षेत्र में हुआ था। 1990-91 से 2005-06 के बीच के 15 वर्षों में 12316 नये कालेज शुरू हुये। इसी तरह 1990-91 तक 185 विश्वविद्यालय थे जो 2005 तक 369 हो गये। इस अवधि में सबसे ज्यादा संख्या में विश्वविद्यालय निजी क्षेत्र में ही स्थापित हुये "डीम्ड विश्वविद्यालयों" के नाम पर। उनकी संख्या 29 से बढ़कर 109 हो गयी। यह 276 फीसदी बढ़ोत्तरी है।

शिक्षा क्षेत्र में हुये इस भारी विस्तार से उच्च शिक्षा में 17 से 23 वर्ष आयु वर्ग के युवाओं की संख्या में कोई खास बदलाव नहीं आया। यह अभी भी 9 फीसद पर ही बना हुआ है। दूसरी ओर इस योज्य आयु वर्ग की आबादी में अमरीका में 92 फीसद उच्च शिक्षण संस्थानों में शिक्षा ले रही है, यू. के. में यह संख्या 52 फीसद है और जापान में 45 फीसद। महत्वपूर्ण बात यह है कि दुनिया के कम औसत आय वाले विभिन्न देशों के औसत से हम नीचे है (विश्व औसत 23 फीसद है)।

निजीकरण

शिक्षा के बढ़ते निजीकरण के चलते अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, अन्य पिछड़ा वर्गों तथा मुसलमानों के सिर्फ 6 से 8 फीसद ही उच्च शिक्षा में है और आबादी में उनके फीसद से यह बहुत कम है। ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले छात्रों की संख्या में भी गिरावट आ रही है।

अध्ययन से जाहिर है कि बाजार बढ़ती भूमिका के चलते आर्थिक रूप से वंचित ग्रुपों, महिलाओं तथा अल्पसंख्यक वर्गों के मेरिट प्राप्त छात्रों की भागीदारी खतरे में पड़ गयी है। विश्वव्यापी अनुभव भी इसी तथ्य को दिखाता है कि निजी भागीदारी के आधार पर कोई देश उच्च शिक्षा में दाखिले में प्रगति को हासिल नहीं कर सकता।

उच्च शिक्षा में समुचित दाखिले की दर सुनिश्चित करने का एक ही रास्ता है कि सरकार शिक्षा पर खर्च को बढ़ाए।

अमरीका प्राईमरी और सेकेन्डरी शिक्षा पर अपने सकल घरेलू उत्पाद (जी.

डी.पी.) का 4.1 फीसद खर्च करता है और उच्च शिक्षा पर 2.9 फीसद अर्थात शिक्षा पर वह अपने सकल घरेलू उत्पाद का कुल ७ फीसद खर्च करता है। जबकि भारत में शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का सिर्फ 3.68 फीसद ही खर्च किया जाता है।

पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं, फेक्ट्ररी के सुधार कार्यक्रमों और छात्रवृत्तियों आदि के लिए बजट में भारी कटौती की गई है जो शिक्षा की गुणवत्ता को बुरी तरह प्रभावित कर रही है।

हमारे देश में दाखिले के अनुपात में बढ़ोत्तरी के लिए निजी संस्थानों की विफलता का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि वे भारी–भरकम फीसे वसूलते हैं और "स्ववित्त संस्थानों" के रूप में स्थापित किए गए है। वास्तव में यह संस्थान भारी मुनाफा कमा रहे है और कई बार तो जो उनकी लागत आती है उससे भी कहीं अधिक वसूलते है।

फीसों की बढ़ोत्तरी

फीसों में भारी बढ़ोतरी कम तथा मध्यम आय वाले परिवारों के छात्रों और महिला छात्राओं की अच्छी खासी संख्या को उच्च शिक्षा तक न जाने के लिए मजबूर कर सकती है। यहां तक कि सरकार की सी.एबी.ए. की रिपोर्ट में भी यह टिप्पणी की गई है कि हमारे देश में छात्रों से वसूल की जाने वाली फीसें पूरी दुनिया में सबसे ज्यादा हैं और इनमें और बढ़ोतरी नहीं की जानी चाहिए।

यह आश्चर्यजनक है कि सरकार हमेशा आने वाली लागत के सिलसिले में फीसों के बारे में सोचती है, न कि जनता की आर्थिक स्थितियों के सिलसिलें में। यहां तक कि एक सरकारी एजेन्सी द्वारा गठित कमेटी ने भी यह सुझाव दिया था कि जिस क्षेत्र में सम्बन्धित शिक्षण संस्थान स्थित है, वहां के लाभों की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर फीस तय की जानी चाहिए।

उच्च शिक्षा में छात्रवृत्तियों के लिए बजट में भारी कमी आरक्षण के बावजूद अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के बीच दाखिले के अनुपात में कमी की

एक मुख्य वजह है और इससे शिक्षा में समानता की अवधारणा का क्षरण होता जा रहा है।

छात्रऋणों की अवधारणा भी उच्च शिक्षा में दाखिलों में बढ़ोतरी सुनिश्चित नहीं कर सकती। छात्रों को ऋण देने की यह अवधारणा दुनिया के करीब 80 देशों में चल रही है और इसका अनुभव बहुत ही खराब है। यहां तक कि सरकार की सी.ए.बीई. रिपोर्ट में भी इस अवधारणा का यह कहते हुए विरोध किया गया है कि उच्च शिक्षा की जिम्मेदारी सरकारी क्षेत्र से निजी क्षेत्र में देने के और सरकार से छात्रों तथा उनके माता–पिता पर डालने के अलावा और कुछ नही है। इसमें पक्का यकीन होता है कि यह योजना हमारे देश के अनुकूल नहीं है और इसके इच्छित परिणाम नहीं निकलेंगे और न दाखिले में बढ़ावा होगा।

दुर्भाग्य से सरकार उच्च शिक्षा प्रदान करने की जिम्मेदारी लेने की बजाय और यह सुनिश्चित करने की बजाय कि सभी जरूरतमन्दों को उच्च शिक्षा हासिल हो, साम्राज्यवादी दबावों के सामने घुटने टेक रही है।

अगर हमने यही इलाज लेने पर जोर दिया तो हम ऐसी स्थिति में होंगे जब बीमार बच्चा और ज्यादा बीमार हो जाएगा और हमारे देश के भविष्य के लिए नुकशानदेह हो सकता है। हम डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. राधाकृष्णन, डॉ. जाकिर हुसैन और विशेषतों महात्मा गांधी द्वारा प्रस्थापित शिक्षा सुधारों और बुनियादी शिक्षा पर काम नहीं कर सकते है बल्कि भटकाव का शिकार रहेंगे।

उच्च शिक्षा के नियोजन गतिशीलता तथा गुणवत्ता जैसे पक्षों पर उचित मार्गदर्शन और सामजंस्य बनाये रखने के लिए नियामक संस्थायें स्थापित की गई है। यू.जी.सी., ए.आई.सी.टी.ई., एन.सी.टी.ई., मेडीकल कांउसिल, फार्मेसी कांउसिल जैसी संस्थायें स्वायत्त मानी जाती है, परन्तु वास्तव में सम्बन्धित मंत्रालय इन पर अपना पूरा नियंत्रण बनाये रखता है। इसीलिए इन नियामक संस्थाओं की साख तेजी से गिरी है।

वैश्वीकरण

विंस्टन चर्चिल ने कहा था कि भविष्य के साम्राज्य ज्ञान के साम्राज्य होंगे। आज वैश्वीकरण के युग में सभी इस तथ्य को समझ रहे है कि उपनिवेशवाद के राजनीतिक औचित्व का युग समाप्त हो गया है, लेकिन आर्थिक उपनिवेशवाद तेजी से अपना शिकंजा कसता जा रहा है। अब विदेशी कम्पनियां अपने व्यापार केन्द्र खोल रही हैं। ऐसी स्थिति में शिक्षा के स्वरूप तथा संरचना के बड़े परिवर्तनों की त्वरित आवश्यकता है।

सरकारी और पब्लिक स्कूलों के मध्य संसाधनों की चौड़ी खाई है। प्रतिभा विकास पर परिवार की आर्थिक स्थिति स्कूल का वातावरण, संसाधन प्रोत्साहन जैसे अनेक तत्वों का प्रभाव पड़ता है। घर में परवरिश, सामाजिक परिवेश तथा शैक्षिक माहौल से बच्चे का व्यक्तित्व बनता बिगड़ता है। भारत में छात्रों की योग्यता परीक्षा में प्राप्त अंको तक सीमित रह गया है। आई.आई.टी., आई.आई.एस., मेडिकल जैसी परीक्षायें विद्यार्थियों को लकीर का फकीर बना देती है। इस प्रक्रिया में छात्रों की रूचि तथा प्रतिभा दब जाती है। अभिरूचि के अनुसार शिक्षा प्रदान करने पर जो बालक महान लेखक कलाकार, पेन्टर या संगीतज्ञ बन सकता था। वह इंजीनियरिंग की परीक्षा पासकर ग्रीन कार्ड की आकांक्षा लेकर भीड़ का हिस्सा बनकर रह जाता है।

क्या यह मान लिया गया है कि सरकारी स्कूलों में प्रतिभाशाली बच्चों को शिक्षा नहीं दी जा सकती। क्या प्रतिभा का विकास केवल निजी पब्लिक स्कूलों में ही सम्भव है तो प्राइवेट स्कूलों की मनमानी फीस लेने से कैसे रोका जा सकेगा ? केन्द्रीय स्कूलों और सैनिक स्कूलों के मानक निजी स्कूलों के समकक्ष क्यों नहीं हो सकते।

पब्लिक स्कूलों का प्रदर्शन बेहतर हो इस पर एतराज नहीं उठाया जा सकता लेकिन सरकार को ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहिए जिससे उसके अपने स्कूलों की विश्वसनीयता गिर जाए। पब्लिक स्कूल स्वायत्तता के नाम पर फीस का निर्धारण स्वयं करते हैं। जैसे–जैसे विकास दर बढ़ेगी, सेंसेक्स बढ़ेगा वैसे–वैसे इनकी

मांग बढ़ेगी फीस बढ़ेगी सरकारी स्कूलों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा अनुमान लगाना कठिन नहीं है। देश की प्रगति तथा उसकी विकास दर का सम्बन्ध प्रारम्भिक शिक्षा की गुणवत्ता के विस्तार से सीधा जुड़ा है।

अपने यहां अनेक राज्य सरकारों ने मेरिट स्कालरशिप देने की व्यवस्था की है। कहीं–कहीं सामान्य व्यवस्था के अतिरिक्त ग्रामीण विद्यालयों के छात्रों के लिए अलग प्रावधान है। प्रतिभा, विकास के अवसर देने में नवोदय की संकल्पना तथा क्रियान्वयन निःसंदेह एक सशक्त उदाहरण है। सरकारी व्यवस्था में भी अच्छे स्कूल चल सकते है।

अपेक्षा तो यह होनी चाहिए कि देश के हर बच्चे की नवोदय के स्तर की शिक्षा उपलब्ध हो सके। सोवियत रूस में स्कूल स्तर पर हर बच्चे की अभिरूचियों तथा प्रतिभा स्तरों का रिकार्ड रखा जाता था। फिर क्षेत्रीय स्तर पर बच्चों का चयन होता था। म्यूजिक में विशेष अभिरूचि वाले बच्चों को म्यूजिक स्कूल में भेजा दिया जाता था। वहां के सामान्य पाठ्यक्रम पढ़ते थे। अतिरिक्त समय में विषय विशेष के लिए अलग से अध्ययन की व्यवस्था होती थी। विषय के श्रेष्ठ जानकार इस प्रकार के स्कूलो से जुड़कर अपनी सेवायें प्रदान करते थे। सफलता का श्रेय इन स्कूलों को तो जाता ही था, उन सामान्य स्कूलों का भी उसमें योगदान था जहां बच्चों की प्रतिभा को प्रारम्भिक अवस्थायें पर रखा जाता था। वहां बच्चों को भवन, अध्यापक, पुस्तकें, पुस्तकालय, कार्य संस्कृति अनुशासन इत्यादि अपेक्षानुरूप उपलब्ध थे। फिजिक्स स्कूल में ऐसे उपकरण थे जो अंतरिक्ष विज्ञान के बड़े–बड़े संस्थानों से उपलब्ध कराये गए थे। बच्चों को प्रोजेक्ट बनाने को उत्साहित किया जाता था। अध्यापकों की भागीदारी का विशेष महत्व माना जाता था।

अध्यापक प्रशिक्षण

हमें सबसे पहले अध्यापक को प्रशिक्षण संस्थानों पर ध्यान देना होगा, वहां की स्थितियों से शिक्षा जगत परिचित है। अध्यापकों का प्रशिक्षण यदि निम्न स्तरीय

रहेगा तो उसका प्रभाव स्कूलों में अध्यापन पर चार दशकों तक पड़ेगा। विकसित देशों में अध्यापक प्रशिक्षण ही नहीं, उनके लगातार पुर्नप्रशिक्षण को भी आवश्यक माना जाता है। अनेक देशों में अध्यापकों को टीचिंग प्रमाण पत्र कुछ वर्षो के अंतराल पर 'रिन्यू' कराना पड़ता है। विकसित देशो की श्रेणी में भारत के 2020 तक शामिल होने की आशा तभी साकार रूप लेगी जब स्कूली स्तर पर बच्चों को बेहतर शिक्षण का माहौल उपलब्ध कराया जाएगा। उपेक्षित वर्ग के बच्चों को ऐसे स्कूल देने होंगे जो वास्तव में अपेक्षानुसार साधनों, संसाधनों से युक्त हो। जब तक ऐसा नही होगा उनके लिए विकास का कोई अर्थ नहीं होगा।

राजनीति

यह आश्यर्चजनक है कि अभी तक किसी ने भी माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की दशा–दुर्दशा पर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा। कहीं इसलिए तो नहीं कि शिक्षा समवर्ती सूची का विषय है। सच्चाई जो भी इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि शिक्षा के क्षेत्र में अनेक समस्यायें महज इसलिए उभर आई है क्योंकि यह केन्द्र और राज्य दोनो के अधिकार क्षेत्र वाला विषय है। केन्द्र और राज्य सरकारें शिक्षा के सवाल पर अक्सर अपनी असहमति प्रकट करती रहती है। इसमें भी ज्यादा खराब बात यह है कि इस असहमति के मूल में संकीर्ण राजनीतिक स्वार्थ ही अधिक होते है। यह एक तथ्य है कि पिछले वर्षो में केन्द्रीय सत्ता में परिर्वतन के साथ ही कुछ विषयों का पाठ्यक्रम भी बदल जाता रहा। यदि केन्द्र सरकार शिक्षा के मामले में सुधार के लिए संकल्पबद्ध है तो उसे ऐसी कोई पहल करनी ही होगी जिसमें शिक्षा व्यवस्था में सुधार के प्रयोग राजनीतिक विवाद का विषय न बने। ऐसी पहल तभी सार्थक हो सकती है जब शिक्षा के सवाल शैक्षिक मामलों के विशेषज्ञ हल करे न कि राजनेता। शैक्षिक सुधार के मामले में पहले ही बहुत देरी हो चुकी है और उसके दुष्परिणाम भी सामने आ गये है। उद्योग–व्यापार जगत बार–बार ऐसे निष्कर्ष सामने रख रहा है कि देश में उसकी जरूरत लायक युवा शक्ति का अभाव पैदा हो गया है। इस अभाव के

लिए किसी न किसी स्तर पर प्राथमिक शिक्षा ले लेकर उच्च शिक्षा तक का मौजूदा ढांचा उत्तरदायी है।

माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक स्तर की शिक्षा में सुधार के लिए केन्द्र सरकार ने ब्लाक स्तर पर छः हजार उच्च गुणवत्ता वाले मॉडल स्कूल खोलने की योजना बनाई है। केन्द्र सरकार यह भी चाहती है कि हर पांच किलोमीटर पर एक माध्यमिक और सात किलोमीटर पर उच्चतर माध्यमिक स्कूल खुले। उसका यह भी इरादा है कि ऐसे स्कूलों में प्रशिक्षित शिक्षकों की ही भर्ती हो। प्रशिक्षित शिक्षकों की भर्ती में कोई पक्षपात न होने देने के लिए कर्मचारी चयन आयोग अथवा किसी स्वतन्त्र एजेन्सी की सेवाये लेने पर भी विचार किया जा रहा है। यह आवश्यक है कि शिक्षा में सुधार को लेकर राज्य सरकारों को भी यह समझना होगा कि इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय भी नहीं है। भारत के विकास के लिए यह अनिवार्य है कि शिक्षा के सम्पूर्ण ढांचे में आभूल–चूल सुधार के लिए कोई राष्ट्रीय अभियान छिड़े। ऐसे किसी अभियान में सभी की भागीदारी होनी चाहिए। यदि माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक स्तर की शिक्षा को सर्वसुलभ और गुणवत्तापूर्ण बनाया जा सके तो प्राथमिक और उच्च शिक्षा की कई समस्याओं का भी समाधान हो सकता है।

13 करोड़ 80 लाख मुसलमान हमारे देश की बहुसांस्कृतिक, बहुभाषी एवं बहुधार्मिक राष्ट्रीयता के अभिन्न अंग है, मगर 60 वर्ष की आजादी के बाद भी देश के विकास की उपलब्धियों से वंचित है। शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ेपन का उदाहरण है कि मुसलमानों की साक्षरता दर राष्ट्रीय औसत से बहुत कम है। 6 से 14 वर्ष की आयु के मुस्लिम बच्चों में से 25 प्रतिशत या तो पूर्णतः निरक्षर है या बीच में ही स्कूल छोड़ चुके हैं।

समाजवादी व्यवस्था

दूसरी ओर (पूर्व) समाजवादी देश सोवियत संघ में शिक्षा व्यवस्था का रूपातरण कर असाधारण उपलब्धियां हासिल की गई थी। लेनिन ने कहा था "युवाओं

के शिक्षण संगठन तथा उनकी शिक्षा का मूलगामी रूपातरंण कर ही हम वह हासिल कर पायेगे जो युवा पीढ़ी के प्रयासों के फल के रूप में एक ऐसा समाज बनायेगा, जो पुराने समाज जैसा नहीं होगा।''

यूनेस्को द्वारा जारी आंकड़ो के अनुसार 1970 में अमेरिका में 2.5 फीसदी लोग निरक्षर थे और फ्रांस में 3.6 फीसद, पर यह इसके बावजूद था कि अमेरिका में 1852 से 1900 में तथा फ्रांस में 1982 में अनिवार्य एलीमेन्टरी शिक्षा के लिए कानून स्वीकार किये जा चुके थे। इससे पता चलता है कि विकसित पूंजीवादी देश करीब 100 वर्ष में वह हासिल नहीं कर पाये थे जो सोवियत संघ ने 50 वर्ष में ही हासिल कर दिखाया था। हम अपने देश में तो खैर आजादी के साठ साल बाद भी अनिवार्य एलामेन्टरी शिक्षा का कानून भी पारित नहीं करा पाये है। सोवियत संघ ने यह रूपातंरण जिस रफ्तार से हासिल किया गया उसका अंदाज इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि 1934 तक वहां सार्वभौम आरम्भिक (एलेमेन्टरी) शिक्षा का लक्ष्य हासिल किया जा चुका था। 1970 तक सोवियत संघ से निरक्षरता का पूरी तरह से उन्मूलन हो चुका था। 1975 में सोवियत संघ दुनियाभर में ऐसा पहला देश था जहां 72 फीसद मजदूरों ने मिडिल या उससे ऊपर के स्तर तक शिक्षा पायी थी। पूंजीवादी व्यवस्था की दिलचस्पी बुनियादी तौर पर लोगों को उसी हद तक शिक्षित करने में थी जिस हद तक शिक्षित करना उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़ी कार्यस्थल की उसकी जरूरतों का पूरा करने के लिए आवश्यक था। अपने तमाम ऊंचे–ऊंचे वादों और मीठी शब्दावली के बावजूद पूंजीवादी व्यवस्था की जनता को असली शिक्षा देने में कोई दिलचस्पी नहीं थी क्योंकि वह इस सूक्ति से डरती थी कि 'शिक्षा ही मुक्तिदाता है।'' पूंजीवादी व्यवस्था के इस रूख की अभिव्यक्ति सत्तर के दशक के वर्षो में विभिन्न देशों की सरकारों द्वारा शिक्षा की मद के लिए रखे गये आवंटनों में होती है। इस दशक में सोवियत सरकार अपने कुल बजट का सातवें से आठवां तक हिस्सा औपचारिक शिक्षा पर खर्च कर रही थी और सोवियत संघ के कुल राष्ट्रीय उत्पाद का ७ फीसद हिस्सा औपचारिक शिक्षा

मुहैया कराने में लग रहा था, जबकि पश्चिमी विकसित देशों में यही हिस्सा 5 फीसद तक था। सोवियत शिक्षा प्रणाली में जो उपलब्धियां हासिल की जा सकी इसलिए कि वह जनता के प्रति अपनी वचनबद्धताओं का निर्वाह करने के प्रति ईमानदार थी। लेनिन ने पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि पूंजीपति तथा शासक वर्ग जो कहते है उसके विपरीत कोई अराजनीतिक शिक्षा प्रणाली तथा अराजनीतिक स्कूली व्यवस्था हो ही नहीं सकती है। ऐसा स्कूल जो जीवन से परे हो, राजनीति से परे हो, एक झूठ और पाखंड है।

इतना ही नहीं शासन ही छात्रों के लिए पोषक खाने की, जरूरतमंदो के लिए प्रयुक्त रिहायसी सुविधाओं की, मुफ्त परिवहन सुविधाओं की और इसके अलावा तरह–तरह की छात्रवृत्तियों की व्यवस्था करता था। करीब 70 फीसद छात्रों को शासन द्वारा छात्रवृत्ति मिलती थी। इस सबके ऊपर से, उच्चतर शिक्षा संख्याओ में भी शिक्षा मातृभाषा में ही दी जाती थी। सोवियत उच्च शिक्षा संस्थाओं में सोवियत संघ के जनगण तथा जातीयता समूहो की 70 से ज्यादा भाषाओं में शिक्षा दी जाती थी। इसके पीछे मकसद यह सुनिश्चित करना था कि सेकेन्डरी शिक्षा के बाद हर एक नागरिक को उच्च शिक्षा तक पहुंच हासिल हो।

सोवियत शिक्षा व्यवस्था की एक और विशेषता इस तथ्य में निहित थी कि शासन ने कानून बनाकर देश के सभी शिक्षा संस्थाओं में शैक्षणिक मानकों तथा शिक्षा में सहायक सामग्री की समानता की गारंटी की थी। इससे छात्रों के लिए जरूरी नही रह गया था कि शिक्षा के अपने सपने पूरे करने के लिए अपने घर–गांव से बहुत दूर जाएं। इस तरह वंचितों को उच्च शिक्षा मुफ्त ही मिलती थी और वह भी अपने घर के निकट। इससे समाज के सबसे गरीब तवकों का शक्तिकरण हुआ।

सत्तर के दशक में अमेरिका में सम्पन्न उप नगरों में रहने वाले बच्चों के लिए प्रति छात्रव स्कूल का बजट, शहर की मलिन बस्तिओं में रहने वाले छात्रों के मुकावले दस गुना अधिक था। अपने ही देश में संसाधनों के आवंटन में ग्रामीण स्कूलों

के साथ मुख्यतः अनुसूचित जाति तथा जनजाति की आबादी वाले इलाकों में स्कूलों के साथ भेदभाव किया जाता है।

जनता के बहुमत को शिक्षा तक पहुंच से वंचित कर हम अमूल्य मानवीय संसाधनों की बर्बादी ही कर रहे है।

सोवियत संघ में उच्चतर शिक्षा के ऊंचे वैज्ञानिक स्तर और उसकी जनतांत्रिक आधार भूमि को दुनिया भर ने पहचाना था। सत्तर के दशक के दौरान एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के प्रकाशक विलियम वैंटन ने राय दी थी कि सोवियत संघ में विज्ञान की शिक्षा का स्तर अमेरिका की शिक्षा से कही ऊंचा था। इसलिए अचरज की बात नहीं है कि सोवियत संघ ने ही अतंरिक्ष में पहला उपग्रह भेजा था और उसी ने पहली बार मनुष्य को अतंरिक्ष में भेजा था। सोवियत संघ के स्पूतनिक छोड़ने के बाद अमेरिका में शिक्षा तथा प्राद्योगिकी के क्षेत्र में निवेश में जबरदस्त बढ़ोतरी की गई थी। वास्तव में इस चिन्ता ने अमेरिका में वैज्ञानिक शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रांति ही ला दी थी।

यह हमेशा ध्यान रखा जाना चाहिए कि सोवियत संघ ने ये सभी उपलब्धियां बहुत प्रतिकूल तथा कठिन हालत में हासिल की थी। सारी दुनिया यह जानती है कि सोवियत शिक्षा प्रणाली बहुत ही शानदार थी। यह बात हर एक स्तर की शिक्षा के बारे में सच थी खास तौर पर हाईस्कूल तथा उच्चतर शिक्षा के बारे में।

व्यवसायीकरण

केन्द्र सरकार शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) का मात्र 3.7 फीसद ही खर्च कर रही है, 6 से 14 आयु वर्ष के बीच के सभी बच्चों को मुफ्त और आवश्यक शिक्षा देने के मामले में भी केन्द्र सरकार पीछे हट रही है। माडल राइट टू एजूकेशन बिल 2006 के सवैधानिक आदेश का क्रियान्वयन भी सरकार ने छोड़ दिया है। हर स्तर पर शिक्षा का व्यवसायीकरण करने के लिए भी सरकार का अप्रत्यक्ष सहयोग हो रहा है। करोड़ो बच्चे छोटे–छोटे कामों में ठेंका मजदूरों की तरह काम कर रह हैं। उन्हें स्कूलों तक ले जाने की सरकार की कोई योजना नहीं है। सभी बच्चों को

शिक्षा देने के मामले में सरकार गम्भीर नहीं है। और उनके स्कूलों में प्रवेश के बारे में झूठे दावे किये जाते है। सरकारी स्कूलों में आ रही गिरावट के लिए सरकार ही जिम्मेदार है और शिक्षकों को उसका शिकार बनने के लिए मजबूरी है जबकि शिक्षकों के सम्मान और प्रतिष्ठा बहाल किये जाने की जरूरत है।

निजी गैर सहायता प्राप्त संस्थानों के नियमन के लिए और बेहतर तथा गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए एक सर्वसमावेशी केन्द्रीय कानून बनाया जाना आवश्यक है।

भाषा

ज्ञान आयोग ने आरम्भ से ही बच्चों को शिक्षा देने की सिफारिश की है। वर्तमान रूचि में अब कक्षारम्भ से ही बच्चों को अंग्रेजी शिक्षा देने की सिफारिश की जाती है। क्या श्री अरविन्द स्व. श्री विवेकानन्द, कविगुय रवीन्द्र नाथ ठाकुर, महामना मालवीय, महात्मा गांधी, राजेन्द्र प्रसाद, स. राधाकृष्णन, जाकिर हुसैन, विनोबा भावे आदि सभी मनीषियों में गलत कहा था ? सबका सुनिश्चित मत था कि अंग्रेजी ने भारतीय शिक्षा ही नहीं यहां के चिन्तन और मेधा को भी प्रतिकूल ढंग से प्रभावित किया है। गांधी जी ने अपने हिन्द स्वराज में लिखा था "अंग्रेजी शिक्षा से दंगे जुर्म वगैरह बढ़े है। अंग्रेजी शिक्षा पाये लोगो ने प्रजा को ठगनें, उसे परेशान करने में कुछ न उठा रखा है।" श्री अरविन्द ने कहा था कि युवकों में फैला भ्रष्टाचार अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का सीधा परिणाम था। अंग्रेजी ज्ञान को बाहर के विश्व को देखने–जानने की खिड़की से अधिक मूल्य किसी ने नहीं दिया था। अंग्रेजी को ही मुख्य शिक्षा माध्यम बनाने के लिए आज जो भी तर्क दिये जा रहे है – ठीक वही तर्क आठ दस दशक पहले भी थे। यदि सत्यनिष्ठ शोध है तो निष्कर्ष यह मिलेगा कि अंग्रेजी भारतीय जनगण के राष्ट्रीय आत्मिक और भावात्मक तीनों प्रकार के सहज संप्रेषण को रोक रही है। वस्तुतः अंग्रेजी का क्रमशः अधिकार तथा भारतीय भाषाओं की बढ़ती विषमता राष्ट्रीय अस्मिता और एकता के लिए घी में जहर का काम कर रही है। हमारा शिक्षित युवा भी अपने देश से अजनबी और चरित्र से मृष्ट बन रहा है। नागार्जुन ने ठीक लिखा था कि अंग्रेज बेकार

ही यहां से चले गए। यदि हमारी शिक्षा केवल अमेरिका और यूरोपीय देशों की कम्पनियों के लिए 'मानव संसाधन' यानी नौकर का साधन भर है तो अंग्रेजो को भगाने की क्या आवश्यकता थी।

डॉ. राजेन्द प्रसाद के विचार से भाषा कभी मृत नहीं होती। इसके विपरीत दूसरी भाषाओं से मिलकर यह उन्हें समृद्ध करती है। किसी भी भाषा का मुख्य उद्देश्य संवाद होता है। हाल के समय का अधिकांश भाग हिन्दी और पंजाबी काव्य उर्दू शब्दों से मरा पड़ा है। प्रत्येक भाषा दूसरी भाषाओं से समृद्ध होती है। परजीवी सिद्धान्त भाषा पर खरा उतरता है। हमारी राष्ट्रीय भाषा हिन्दी समृद्ध हो गई होती। यदि हमारे भाषा पंडित इसमें दूसरी भाषाओं के शब्दों के मिश्रण का विरोध न करते। हमारे प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र ने हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में अपना जोरदार सुझाव दिया था कि हिन्दी भाषा को उर्दू, पंजाबी, अंग्रेजी आदि तमाम भाषाओं के प्रचलन में रहे शब्दों का समावेश कर हिन्दी भाषा को समृद्ध बनाना चाहिए और एक विशिष्ट शब्दकोष का निर्माण करना चाहिए और इसी उद्देश्य से उन्होंने हिन्दी का नामांतरण कर 'हिन्दुस्तानी' कहे जाने का सुझाव दिया था। यह खेद का विषय है कि इन सुझावों पर गम्भीरतापूर्वक अमल नहीं किया गया।

महात्मा गांधी ने 1917 में कहा था कि जिस भाषा के द्वारा भारत का अपना धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक काम हो और जिसे भारत के ज्यादातर लोग बोलते हों वहीं देश की भाषा है। हिन्दी में ये सारे लक्षण मौजूद है, अंग्रेजी में ऐसा कोई लक्षण नहीं है। नेहरू ने संविधान सभा (13 सितम्बर 1949) में राष्ट्रभाषा पर कहा "भाषा हमारी निकट संवधिनी है। हम हमने अंग्रेजी इसलिए स्वीकार की है कि वह विजेता की भाषा थी इसलिए नहीं कि वह महत्वपूर्ण भाषा है। अंग्रेजी कितनी ही महत्वपूर्ण भाषा क्यों न हो उसे हम सहन नहीं कर सकते इसलिए हमें अपनी ही भाषा को अपनाना चाहिए।"

संविधान (अनुच्छेद 35) में 'हिन्दी भाषा के विकास के लिए निर्देश शीर्षक से

कहा गया है कि संघ का कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए, विकास करे जहां आवश्यक हो वहां उसके शब्द भण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणत अन्य भाषाओं से शब्द लेते हुए उसकी समृद्धि करे। इसके बावजूद भारत के कामकाज की भाषा अंग्रेजी है। एशिया महाद्वीप के 48 देशों में भारत को छोड़कर किसी भी देश की मुख्य भाषा अंग्रेजी नहीं है। यहाँ तक कि यूरोप के 43 देशों में से 40 की भाषा अंग्रेजी नहीं है।

पं. प्रताप नारायण मिश्र ने अपने 'ब्राह्मण' पत्र के सम्पादकीय में व्यक्त किया था–विचार, बल, धन कुछ भी न हो पर एका हो तो सब हो सकता है। वह देश धन्य है जहां एका की प्रतिष्ठा है। पूरे भारत भू–भाग को ऐसी संजीवनी देने में समर्थ है तो केवल मातृभाषा हिन्दी।

सरकारी भाषा के विषय पर 1956 में राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त अधिकारिक भाषा आयोग ने गम्भीर विचार विमर्श किया था। बी.जी. खेर की अध्यक्षता वाले इस आयोग ने गणतन्त्र के स्तर पर हिन्दी को अधिकारिक भाषा के रूप में अपनाए जाने की वकालत की और संसद तथा उच्चतर न्यायपालिका समेत अन्य संस्थानों में धीरे–धीरे अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी में कामकाज आरम्भ करने की बात कही।

भारतेन्दु ने कहा था "निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कामूल। बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हियका शूल।" इसके पूरे पक्षधर होते हुए यह मतलब कतई नहीं लेना चाहिए कि हम दूसरी भाषाओं को हेय समझने लग जाये। शिक्षा क्षेत्र में भाषा का विशिष्ट स्थान है। भारत में हिन्दी भाषी बहुसंख्यक है तथा हिन्दी भाषी क्षेत्र भी विस्तारित है इसलिए देश में शिक्षा के विकास तथा विस्तार के लिए जनसुलभ भाषा का प्रयोग अति वांछनीय और आवश्यक है।

डॉ. जाकिर हुसैन के विचार थे कि स्वतन्त्र भारत में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन होगे उनमें शैक्षिक परिवर्तन सर्वोपर होगा। भारतीय जड़ो से पनपी शिक्षा व्यवस्था लागू की जाय और औपनिवेशिक मानसिकता बढ़ाने वाली विदेशी शासकों द्वारा लादी गई

शिक्षा प्रणाली समाप्त की जाएगी। आज तक ऐसा नहीं हो पाया है। पहले 10 वर्षों में जो कुछ हुआ या नहीं हो पाया उसे ध्यान में रखकर डॉ. जाकिर हुसैन ने 1958 में अपने विचार व्यक्त किए। पटेल स्मारक व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा था कि भारत के लोगों का भविष्य इस पर निर्भर करेगा कि हमारी शिक्षा व्यवस्था किन मूलभूत विचारों और सिद्धान्तों पर आधारित की गई है। यह भी महत्वपूर्ण होगा कि शिक्षा व्यक्ति के समन्वित विकास में कैसे और किस सीमा तक सहायता करती है। शिक्षा के मूलभूत उद्देश्यों और उन्हें प्राप्त करने के रास्तों को अच्छी तरह समझना जरूरी है। आम सरकारी तन्त्र में शैक्षिक प्रगति केवल संख्याओं के द्वारा प्रदर्शित की जाती है। शिक्षा की गुणवत्ता उपयोगिता और स्वीकार्यता कितनी बढ़ी इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता सरकारी तन्त्र में जरूरी नहीं मानी जाती है। पिछले वर्षों में ऐसे अनेक उदाहरण सामने है जिनमें केवल राजनीतिक उद्देश्य प्राप्त करने के लिए तथा तथाकथित शैक्षिक नवाचारों एवं योजनाओं की घोषणा की गई है।

आरक्षण

इस समय शिक्षा से जुड़े सभी लोग आश्चर्यचकित है है कि क्या केवल आरक्षण या अल्पसंख्यक वर्ग ही शैक्षिक विकास की सबसे महत्वपूर्ण प्राथमिकताएं तय करने के आधार है। संविधान सभा की बहसों पर सरसरी दृष्टि डालने से भी स्पष्ट होता है कि आरक्षण को अनियत काल तक चलाने के पक्ष में न गांधी थे, न नेहरू और न अम्बेडकर। आरक्षण अपने आप में विभेदीकरण है। इसकी अल्पकालिक आवश्यकता अनेक कारणों से बनी थी तब शासद किसी ने सोचा भी न होगा कि राजनीतिक दल इन प्रावधानों का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए करने लगेंगे।

शिक्षाविदों का आचरण

उच्च शैक्षणिक संस्थानों में आ रही गिरावट के पीछे एक प्रमुख कारण हमारे शिक्षाविदों द्वारा अपनी जिम्मेदारियों को स्वयं त्याग देना। आज शिक्षा व्यवस्था राजनैतिक सत्ता और वैचारिक संघर्ष के इशारों पर नाच रही है। यह इसलिए सम्भव हुआ कि

शिक्षाविदों के समुदाय ने संकीर्ण हितों के लिए स्वयं को जिम्मेदारियों से अलग कर लिया। शिक्षाविदों ने राजनीतिक तंत्र को यह मौका दिया कि वह उनके ऊपर पैर रखकर आगे बढ सके। शिक्षा विशेषज्ञों ने सबसे पहले राजनीतिक सत्ता की मदद व्यक्तिगत महत्वकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ली या फिर अपने संस्थानों के राजनीतिक झुकाव को बल प्रदान करने के लिए। आत्म त्याग का इससे भी गम्भीर स्तर यह है कि शिक्षाविदो के समुदायें ने स्वयं को एक ऐसे पेशेवर समुदाय के रूप में देखना बन्द कर दिया है जिसकी अपनी एक पहचान है।

यह विडम्बना है कि देश के संस्थापकों ने शैक्षणिक संस्थानों के लिए जो रक्षा कवच स्थापित किया था उसे धीरे–धीरे नष्ट कर दिया गया। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के बारे में कल्पना की गई थी कि यह विश्वविद्यालय और मंत्रालय के बीच बफर का काम करेगा लेकिन यह भी उच्च शिक्षा में सरकारी दखल का हाथियार बन गया है। सत्ता के दखल के समक्ष बुद्धिजीवी वर्ग का मौन अब सीमित न होकर एक व्यापक परिदृश्य है। हमें सोचने की आवश्यकता है कि एक वर्ग के रूप में विद्वत समुदाय की विश्वसनीयता बहुत कम रह गई है। हम अपनी आंखों के सामने देश की उच्च शिक्षा प्रणाली को कुम्हलाने दे रहे हैं। इसकी रक्षा का कार्य विद्वत समुदाय को ही करना होगा, राजनीतिक दबावों, प्रलोभनों और वैचारिक टकराव से निपेक्ष होकर।

राज्य में प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक का ढांचा दुर्दशा ग्रस्त है। सर्वाधिक चिंताजनक स्थिति प्राथमिक शिक्षा और विश्वविद्यालय आधारित उच्च शिक्षा दो ऐसे मोर्चे है जिनमें आमूल–चूल सुधार सरकार की प्राथमिकताओं में शामिल होना चाहिए। खेद की बात है कि न तो प्राथमिक शिक्षा का तन्त्र अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सक्षम नजर आता है और न ही उच्च शिक्षा का वर्तमान ढांचा कोई हित करता प्रतीत होता है। गुणवत्ता विहीन शिक्षा का कोई मूल्य नहीं होता और यह निराशाजनक है। जरूरत इस बात की है कि ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया जाए जो किसी भी स्तर पर शिक्षा की गुणवत्ता को प्रभावित न कर सके।

राज्य के प्राथमिक विद्यालयों में छात्रों की जो संख्या है उसके संदर्भ में यह छुपा नहीं कि ग्रामीण क्षेत्रों में छात्रों का एक बड़ा वर्ग उनका होता है जो छात्रवृत्ति और मध्यान्ह भोजन के आकर्षण में स्कूलों में आता है। यह स्थित शिक्षा की गुणवत्ता के लिहाज से प्राथमिक विद्यालयों की असंतोषजनक स्थिति को उजागर करती है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की अपेक्षा थी कि समग्र रूप से स्वीकार्य तथा समयानुकूल ज्ञानार्जन तभी सम्भव है जब सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ शिक्षा तथा ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में सारे परिवर्तनों की निरतंरता की समझ बढ़े और इसके महत्वपूर्ण अवयवों को भविष्योन्मुखी परिवेश में रखकर उनकी उपयोगिता का परीक्षण किया जाए। शैक्षिक व्यवस्था में राष्ट्रीयता तथा स्थानीयता के अंश अपने–अपने ढंग से लाना जरूरी है। जो समय के साथ अनावश्यक हो जाए उसे हटा दिया जाए जो नया ज्ञान यातकनीक उपयोगी लगे उसे जोड़ना आवश्यक है।

मदरसा

राष्ट्रीय भावना के प्रतिकूल शिक्षा की एक दिशा यह भी है कि मदरसे पढ़ा 13 वर्षीय बालक पैगम्बर मुहम्मद उनके सम्बन्धियों और उनके जेहाद के बारे में सब कुछ जनता है परन्तु उसे भारत के बारे में बहुत कम जानकारी है। भारत और पाकिस्तान के बीच क्रिकेट मैच में मुस्लिम समुदाय की भावना से भी हम भली भांति परिचित है।

आजादी के 60 साल बाद भी करोड़ो बच्चे स्कूलों से बाहर है। कामनवेल्थ खेलों के लिए हजारों करोड़ का प्रावधान सरलता से हो जाता है। स्कूलों की दुर्दशा है भवन, अध्यापकों तथा अन्य शिक्षा साधनों की उपलब्धता नहीं है। प्राइवेट स्कूलों जिन्हें हास्यपाद ढंग से पब्लिक स्कूल कहा जाता है की संख्या लगातार बढ़ रही है, उनकी फीस भी बढ़ रही है। शैक्षिक असमानता को लगभग संस्थागत कर दिया गया है। हर कोई चाहेगा कि ग्रामीण बच्चों तथा पब्लिक स्कूल के बच्चों में उपलब्धि स्तर पर असमानता न रहे।

प्राथमिक शिक्षा

देश के अनेक राज्यों में प्राईमरी शिक्षा का ढांचा बहुत ही गया गुजरा है। तमाम प्राथमिक विद्यालय बिना ब्लेकबोर्ड, टाट, पट्टी और अन्य बुनियादी सुविधाओं के चल रहे है। कहीं–कहीं तो यह स्थिति है कि प्राथमिक विद्यालयों को एक अदद छत भी नसीब नहीं है। प्राथमिक शिक्षा बुनियादी शिक्षा है और उसके ढांचे की उपेक्षा करने का अर्थ है राष्ट्र की बुनियाद को खोखला करना। शिक्षा के ढांचे में सुधार के बाद ही गुणवत्ता प्रधान शिक्षा की अपेक्षा की जा सकती है।

आज भारत में शिक्षा का मूलभूत अधिकार ईमानदारी से क्रियान्वित हो गया होता और सारे प्रयास गुणवत्ता तथा कौशल उत्कृष्टता बढ़ाने पर केन्द्रित होते तो भारत आश्चर्यचकित प्रगति कर सकता था। शिक्षा में गुणवत्ता और उत्कृष्टता की प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा तथा शोध जैसी श्रेणियों में रखकर नहीं देखा जा सकता है। इसकी अपनी निरतंरता है जिसे स्वीकार न करना और उसकी ओर ध्यान न देना अनेक समस्याओं को सामने लाता है।

सच्चर समिति

सच्चर समिति ने जो निष्कर्ष देश के सामने रखे है वे नये नहीं है। मुस्लिम समाज तथा अन्य वर्षो के आर्थिक दृष्टि से विपन्न समुदायों के लगभग उसी स्थिति में बने रहने के कारण दूढ़ना कठिन नहीं है। जो कार्य 1960 के पहले हो जाने थे वे आज भी हमारे राजनेताओं तथा जन–गतिविधियों की प्राथमिकता में नहीं है। सामाजिक न्याय, क्षमता और समानता के अवसर हर वर्ग को मिले यह संविधान सम्भत तथा सर्वमान्य है। कुल मिलाकर केन्द्र बिन्दु शिक्षा की गुणवत्ता, उसमें व्यवसायिक कोशलों का समावेश, उद्योग जगत से शिक्षा के जुड़ाव आदि के आस–पास निहित है। इन पर ध्यान न देकर अनेक समस्याओं को जन्म दिया गया है। यदि कोठारी आयोग की कामन स्कूल व्यवस्था, मातृभाषा में शिक्षा, कार्य अनुभव और व्यावसायिक शिक्षा के प्रसार वाली संस्तुतियां 1968 की शिक्षानीति के बाद निष्ठापूर्वक क्रियान्वित की गई

होती तो आज समिति बनाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

सच्चा कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में टिप्पणी की है कि शिक्षा के प्रति सरकार की उदासीनता के बावजूद मुस्लिम लड़कियां उसके प्रति उदासीन नहीं है, लेकिन उनके पढ़ने के रास्तें में कई रोड़े है। सबसे बड़ा रोड़ा है उनके मां–बाप की गरीबी एक बहुत बड़ा रोड़ा है असुरक्षा की भावना। गरीब बच्चियों के लिए सुरक्षा के माहौल में मुफ्त शिक्षा मुहैया कराने की जिम्मेदारी सरकार की है। जब तक इस जिम्मेदारी को निभाने का फैसला वह नहीं करेगी। तब तक सुरक्षा और सस्ती पढ़ाई के मौके के अभाव में गरीब मां बाप अपने बच्चों को शिक्षा और उससे प्राप्त होने वाली जागरूकता व आत्म विश्वास से वंचित रखेंगे।

आबादी का विशाल हिस्सा मानवीय विकास के सबसे महत्वपूर्ण सूचकाकों जैसे साक्षरता के स्तर, शिक्षा तथा स्वास्थ्य, रक्षा सुविधाओं तक पहुँच आदि के मामलें में बुरी तरह से पिछड़ा हुआ है। जहां मुसलमानों के बीच यह अहसास आम है कि उनके साथ भेदभाव हो रहा है तथा वे वंचनाओं के शिकार है, इस समुदाय की सामाजिक आर्थिक तथा शैक्षणिक दशा का विश्लेषण करने के लिए भी काई गम्भीर प्रयास ही नहीं किये गए है, फिर हालत को सुधारने की बात ही क्या है, राजेन्द्र सच्चर कमेटी ने इस पिछड़े समुदाय की सामाजिक–आर्थिक तथा शैक्षणिक हैसियत को जानने में महत्वपूर्ण योग दिया है। सच्चर कमेटी की सिफारिशों को लागू करने के मामलें में सच्चर कमेटी की रिपोर्ट का वैसा हश्र न होने दिया जाए जैसा इससे पहले इसी तरह की रिपोर्टो तथा आयोगों का हुआ है। डॉ. गोपाल सिंह की अध्यक्षता में जिस कमेटी का गठन किया गया था उसने 1983 के जून में ही अपनी रिपोर्ट सरकार को दे दी थी लेकिन उस रिपोर्ट को पूरी तरह दबा दिया गया।

शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का कम से कम 6 फीसदी खर्च करने के लक्ष्य को हासिल करने के लिए जैसा कि कोठारी आयोग का कहना था कि केन्द्रीय बजट का कम से कम 10 फीसद अवश्य शिक्षा के लिए आवंटित किया जाना चाहिए।

93वे संविधान संशोधन के पारित होने के फौरन बाद केन्द्रीय संसाधन विकास मंत्रालय ने इस संविधान संशोधन के अनुरूप कानून बनाने के लिए सभी राज्य सरकारों को पत्र लिखा था।

पर्यावरण शिक्षा

स्कूलों में पर्यावरण शिक्षा का समुचित प्रबन्ध आवश्यक है। पर्यावरण शिक्षा के दौरान कक्षा में पढ़ाई के साथ–साथ क्षेत्र क्रियाकलापों तथा प्रयोग आधारित गतिविधियों पर ज्यादा से ज्यादा जोर दिया जाना चाहिए ताकि पर्यावरण की शिक्षा नैतिक मूल्यों तथा प्रयोग पर आधारित हो सके। शिक्षार्थियों को अपने आस–पास के परिवेश की सम्यक जानकारी प्राप्त करने का मौका मिलना चाहिए। उनका ज्ञानार्जन संज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक तीनों स्तरों पर होना चाहिए। इस विषय की सही ढंग से पढ़ाई के लिए योग्य शिक्षकों की उपलब्धियां के लिए शिक्षक प्रशिक्षण पाठयक्रम में पर्यावरण शिक्षा विषय का समावेश होना चाहिए।

सन् 1911 में गोपाल कृष्ण गोखले ने इम्पीरियल असम्बली में मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का बिल पेश किया तब दरभंगा के महाराम ने इसके खिलाफ बड़े जमीदारों के 11,000 दस्खतों वाली याचिका तैयार की। इसमें कहा गया कि यदि बच्चों को स्कूल जाना अनिवार्य हुआ तो खेतों में मजदूरी के लिये बच्चें नहीं मिलेंगे। प्रतिरोध की दूसरी मुखर आवाज तत्कालीन नवधनाडय वर्ग की ओर से उठा और यह पारित नहीं हो सका।

95 साल पुरानी आवाज को आज भी तवज्जो दी जा रही है। संविधान में शिक्षा को दिये गए समवर्ती दर्जे का अर्थ हमेशा के लिए खत्म हो सकता है। समवर्ती विषय का निहितार्थ है कि इसके प्रति केन्द्र राज्य सरकारों और स्थानीय सभी की संयुक्त जबावदेही रहेगी। शिक्षा को दिशा व गति देने उसकी नीति बनाने और आवश्यक वित्त उपलब्ध कराने में केन्द्र की निर्णायक भूमिका रही है।

कोठारी आयोग (1966) द्वारा अनुशंसित और 1986 की शिक्षा नीति में

शामिल समान स्कूल प्रणाली के अनुसार हर बच्चे–बच्ची को चाहे वह किसी भी वर्ग, जाति, लिंग मजहब अथवा भाषा की हो, उसे अपने पड़ोस के स्कूल में पढ़ना होगा। शिक्षा के निजीकरण की ताकतों को यह मंजूर नहीं था। अतः बहु–परती शिक्षा की नीति अपनाई गई। गैर बराबरी एवं सामाजिक विषमता को आगे बढ़ाने वाली विश्व बैंक की इस दृष्टि को आधार मानकर दसवी पंचवर्षीय योजना में सर्व शिक्षा अभियान शुरू किया गया। कोई भी नीति जो बहु–परती शिक्षा को आगे बढ़ाती है, वह कभी भी गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने में सफल नहीं हो सकती और बगैर गुणवत्ता की शिक्षा जनता को स्वीकार्य नहीं होगी। सर्व शिक्षा अभियान की असफलता का आधार यही है।

कपिल सिब्बल समिति का प्रारूप कहता है निजी स्कूलों को अपनी 25 प्रतिशत सीटें गरीब बच्चों को मुफ्त देनी होगी। नतीजा यह हुआ कि बहस शिक्षा के अधिकार से हटकर इस बात पर चली गई कि इससे निजी स्कूलों के मालिकों को और शिक्षा के बाजार को कितना घाटा होगा। मध्यम व अभिजात वर्ग को यह चिन्ता सताती रही कि उनके बच्चों को निचली जाति के बच्चों के साथ पढ़ने में कितनी तकलीफ होगी।

1986 की शिक्षा नीति के अनुसार 6 वर्ष से कम आयु के बच्चों को यदि पोषण, स्वास्थ्य एवं पूर्ण प्राथमिक शिक्षा की सुविधाएं नहीं मिलेगी तो वे प्रारम्भिक शिक्षा के लिए भी तैयार नहीं हो पाएंगे। इसी प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा पाने के बाद बच्चे कहां जायेंगे यदि उन्हें माध्यमिक स्तर (कक्षा 9-10) एवं उच्चतर माध्यमिक स्तर (11-12) के स्कूल उपलब्ध नहीं होंगे। बाहरवी कक्षा के सार्टिफिकेट के बगैर उच्च शिक्षा और अन्य सभी कैरियरों के दरवाजे बन्द है। अतः 18 वर्ष की उम्र तक के सभी बच्चों को शिक्षा का मौलिक अधिकार दिया जाना समानता और सामाजिक न्याय का आवश्यक एजेन्डा बन चुका है। वैश्विक बाजार की ताकतें चाहती है कि शिक्षा खरीद–फरोख्त की वस्तु बन जाए ताकि इससे मुनाफा कमाया जा सके। अनुच्छेद 21 (क) में मुफ्त शिक्षा का सिद्धान्त स्थापित होने के बाद कोई भी स्कूल चाहे वह सरकारी हो या गैर सरकारी

प्रारम्भिक शिक्षा के स्तर पर किसी भी प्रकार की फीस नहीं ले सकता। दरअसल अनुच्छेद 21 (क) ने फीस की अवधारणा को ही गैर संवैधानिक बना दिया है। मुफ्त शिक्षा तभी मुफ्त होगी जब फीस के अलावा मां–बाप को बच्चों की पढ़ाई पर नाना प्रकार के जो खर्च करने पड़ते है उनसे भी छूट मिले। कोठारी शिक्षा आयोग ने अपनी रिपोर्ट में सरकारी स्कूलों से पलायन पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा था कि यदि ऐसा होता रहा तो सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता में भारी गिरावट आएगी। तब शासक वर्ग की सरकारी स्कूल व्यवस्था की गुणवत्ता बरकरार रखने की राजनैतिक इच्छा शक्ति नहीं बचेगी। आर्थिक नीतियों के उदाहरण के चलते नब्बे के दशक में ही फैसला हो गया था कि दस लाख अधिक सरकारी स्कूलों की व्यवस्था को ध्वस्त करना करना है तो उसकी गुणवत्ता को गिरने दिया जाय। जब गुणवत्ता गिरेगी तब गरीब मां–बाप भी निजी स्कूल खोजेंगे। यदि कम फीस की भी हैसियत नहीं होगी तो ऐसे बच्चे बाल मजदूरों की फौज में शामिल हो जायेंगे। समान स्कूल प्रणाली की सफलता के लिए निजी स्कूलों को सम्मिलित किया जाना आवश्यक होगा। आज बाजार और कारोबार से जूझता शिक्षा का मौलिक अधिकार को उबारने की आवश्यकता है।

विदेशी शिक्षा संस्थान

वाणिज्य विभाग के ट्रेड पालिसी डिवीजन ने "ट्रेड इन एजूकेशनल सर्विसेज" (शिक्षा सेवाओं में व्यापार) शीर्षक से एक पेपर वितरित किया है, जिसमें वास्तव में विदेशी संस्थानों के प्रेवश पर कोई वंदिश न लगाने और इस प्रवेश को वैध बनाने के लिए खुली छूट देने वाला रूख अपनाने की वकालत की गई है। अपने पूरे व्यवसायिक अंदाज में मंत्रालय ने ऐसे संस्थानों को विदेशी एजूकेशन प्रावाइडर्स (विदेशी शिक्षा देने वाले) संस्थान बताया है। नियमन के किसी वैधानिक ढांचे के बगैर ऐसे संस्थानों को मौका देना भारत के लिए खतरनाक होगा। उदारीकरण की आर्थिक नीतियों की मेहरबानी से भारतीय शिक्षा का क्षेत्र ऐसे धोखवाजों से भरा पड़ा है जो "डिग्री मिलें" स्थापित कर रहे है। विदेश के प्रतिष्ठित संस्थानों के साथ समुचित पारस्परिक सहयोग

से हमारी उच्च शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार के विचार पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। हमारे अपने आई.आई.टी. संस्थान कुछ बेहतरीन संस्थानो के सहयोग के जरिये ही उभरकर सामने आए है। लेकिन वेरोकटोक विदेशी विश्वविद्यालयों तथा दूसरे संस्थानों का प्रवेश एक बिल्कुल भिन्न मामला है।

उच्च शिक्षा

अभी भारत उच्च शिक्षा के मामले में दुनिया में सबसे न्यूनतम कवरेज वाला देशों में एक है। हमारी आबादी के संबधित आयु वर्ग (17-23 वर्ष) का सिर्फ 10 फीसद हिस्सा ही उच्च शिक्षा तक पहुंच पाता है। यह कहने की जरूरत नहीं कि भारत का लक्ष्य अगर सचमुच भविष्य में ज्ञान सम्बन्धी अर्थव्यवस्था में एक शक्तिशाली देश के रूप में उभरना है तो इस स्थिति में भारी बदलाव लाना होगा। भारत की 54 फीसदी आबादी इस समय २५ वर्ष से कम उम्र की है, इसे देखते हुए हमारे देश के भविष्य के लिए शिक्षा प्रणाली को मजबूत बनाना भारी महत्व रखता है। यदि वर्तमान में सरकार द्वारा बजट में सकल घरेलू उत्पाद के 6 फीसद के बराबर हिस्सा शिक्षा के लिए दिया जायेगा, जो अभी 3 फीसद से भी कम है।

भारत में उच्च शिक्षा में निम्न प्रवेश की स्थिति इस तथ्य के बावजूद है कि चीन और अमेरिका के बाद दुनिया में हमारी उच्च शिक्षा प्रणाली तीसरी सबसे बड़ी प्रणाली है। भारत में इस समय 17973 उच्च शिक्षा संस्थान है। इनमें 348 विश्वविद्यालय है जिनमें से 70 निजी विश्वविद्यालय है। दुनिया के उन अनेक देशों, जिन्होंने विदेशी शिक्षा संस्थानों को अपने यहां आने की इजाजत दी है, ने पूरी ताकत से अपने राष्ट्रीयहितों तथा सार्वजनिक नीतिगत प्राथमिकताओं की रक्षा की है।

शिक्षा के सवाल पर टालस्टाम गांधी, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, विवेकानन्द, श्री अरविन्द, डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन जैसे मनीषियों के विचारों का अध्ययन आवश्यक है। देश में शिक्षा का घोर राजनीतिकरण किया जा रहा है। टालस्टाम और रवीन्द्र नाथ के अनुसार शिक्षा का आदर्श आगे नहीं पीछे है अर्थात बच्चों को भविष्य का नागरिक बनाने

का आदर्श रखना भूल है। आदर्श तो स्वयं बच्चे है, जो प्रकृति के सर्वाधिक अनुकूल स्वस्थ्य–प्रशन्न, निर्भय, निश्छल, आत्मतृप्त और देवस्वरूप होते हैं। इन सर्वोत्तम मनोभाव को बनाए रखते हुए उनके बढ़ने, विकसित होने का प्रबन्ध करना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। श्री अरविन्द मानते थे कि बाहर से कुछ भी नहीं सिखाया जा सकता। वह शिक्षा का उपकरण मन या अन्तःकरण को मानते थे। नैतिक और धार्मिक शिक्षा की अवहेलना करने से मानव जाति नष्ट हो जाती है। विवेकानन्द ने कहा था कि अंतर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। उनके अनुसार कोई ज्ञान बाहर से नहीं आता।

योजना आयोग ने जून ०६ में ग्यारहवी पंच वर्षीय योजना के लिए "तीव्र तथा और ज्यादा सर्वसमावेशी विकास की ओर" शीर्षक से एक दृष्टिकोण परिवत्र जारी किया था। संक्रमण काल के लिए तीव्र तथा ज्यादा सर्व समावेशी विकास के लिए इस दृष्टिकोण परिपत्र में " शिक्षा सेवाओं" समेत अनेक क्षेत्रों में नयी पहल कदमियों तथा "और ज्यादा सर्वसमावेशी पुनर्गठन" का आहान किया गया है, जो वास्तव में शिक्षा को निजीकरण तथा व्यवसायीकरण की ओर ले जाएगा।

सर्वशिक्षा अभियान के बावजूद प्राइमरी शिक्षा की दुर्दशा यह बताने के लिए पर्याप्त है कि शिक्षा के माध्यम से राष्ट्र को सबल बनाने के मामले में किस हद तक काम चला रवैया अपना लिया गया है। सम्भवतः यही कारण है कि प्राइमरी स्कूलों में एक बड़ी संख्या में छात्रों को शिक्षित करने के नाम पर साक्षर बनाया जा रहा है। चूंकि प्राइमरी स्कलों की दुर्दशा दूर होने का नाम नहीं ले रही है इसलिए बच्चे सही ढंग से साक्षर भी नहीं हो पा रहे है। दरअसल प्राइमरी से लेकर उच्च्य शिक्षा तक जो बेहतर विद्यालय है वे ऐसे टापू बनकर रह गये है, जहां सभी की पहुंच नहीं है। परिणाम यह है कि शिक्षा के केन्द्रो के जरिए असमानता की खाई है। लगातार चौड़ी होती चली आ रही है। यह एक यथार्थ है कि हमारा देश अन्दर ही अन्दर इंडिया और भारत के बीच विभाजित होता जा रहा है जिसका कारण असमान शिक्षा ही है। हमारे नीति–निर्माता

शिक्षा की महत्ता से अच्छी तरह परिचित है लेकिन वे सभी को गुणवत्ता प्रधान शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए संकल्पबद्ध नहीं। कभी–कभी तो ऐसा लगता है कि हमारे राजनेता यह चाहते ही नहीं कि देश की जनता विशेषकर नई पीढ़ी शिक्षित और जागरूक बने तथा अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति सजग हो। एक के बाद एक अध्ययन और सर्वेक्षण यही बताते हैकि प्राइमरी शिक्षा के मामले में देश का हाल बुरा है। यदि प्राइमरी शिक्षा के बुनियादी ढांचे को मजबूत नहीं बनाया जा सका और सभी को गुणवत्ता प्रधान शिक्षा उपलब्ध नहीं कराई जा सकी तो देश के उज्जवल भविष्य की बातें करना एक तरह से दिवा स्वप्न देखने जैसा होगा।

गांधी जी के अनुसार शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति का मूलभूत मानवीय अधिकार है। इसमें किसी प्रकार का भेदभाव जहां भी हो रहा है वह अस्वीकार्य है। शिक्षा के प्रसार तथा सभी तक उसे पहुंचाने की आवश्यकता विकासशील देशों के सामने एक बड़ी चुनौती के रूप में उभरी। यह चुनौती आज भी है। शिक्षा की गतिशीलता, उपयोगिता, स्वीकार्यता, गुणवत्ता तथा प्रतिष्ठा जैसे पक्षों पर हर तरफ चर्चा और विचार मंथन लगातार होते रहे है। महात्मा गांधी ने अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों से ही शिक्षा की समझ स्वयं स्कूल चलाकर तथा बच्चों को पढ़ाकर प्राप्त की। जैसे–जैसे उनके अनुभव परिपक्व हुए उन्होंने स्वतन्त्र भारत के लिए अपनी शिक्षा व्यवस्था की संकल्पना को व्यावहारिक रूप में क्रियान्वित कर उसका प्रारूप तथा परिणाम देश के सामने रखा। इतना सब करने के बाद भी स्वतन्त्र भारत ने शिक्षा को उपनिवेश वादी व्यवस्था बनाए रखना ही उचित समझा। पिछली तीन पीढ़ियों में मानस अपेक्षाओं, आकांक्षाओं और मानव मूल्यों को लेकर क्या कुछ बदल गया है और इस बदलाव को शिक्षा व्यवस्था कितना आत्मसात कर पाई है। मौजूदा समय परिवर्तन का नहीं, तीव्र–गति परिवर्तन का है। शिक्षित–असिंक्षित, गरीब–अमीर, शहरी–ग्रामीण और कितने ही अन्य प्रकार के भेद न केवल और अधिक उभरे है लगातार बढ़ते ही जा रहे है। सारा विश्व मानता है कि प्रत्येक देश की शिक्षा व्यवस्था उसकी अपनी संस्कृति से जुड़ी होनी चाहिए और उसकी

जड़े जितनी गहराई तक जाएंगी, आगे के समय वह उतनी पुष्पित पल्लिवित तथा घनी छाया देने वाली होगी।

हम सहस्त्राब्दी विकास लक्ष्यों को हासिल करने में एक बार फिर विफल हो रहे है। भारी चिन्ता का दूसरा क्षेत्र है छात्रों को स्कूलों में बनाए रखने की दर का। खुद सरकार स्वीकार करती है कि स्कूलों में छात्रों को बनाए रखने के प्रश्न पर प्रगति की दर संतोषप्रद नहीं है। इसमें आश्यर्च की कोई बात नहीं कि देश में पांचवी कक्षा के बाद स्कूल छोड़ने वाले बच्चों की तादाद 38.49 फीसद है। आठवी कक्षा के बाद स्कूल छोडने वाले बच्चों की तादाद 52.79 फीसद हैं और दसवी कक्षा के बाद स्कूल छोड़ने वाले बच्चो की तादाद 61.58 फीसद है। यह आंकड़ा केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट पर आधारित है। स्कूल छोड़ने वाले छात्रों में से अधिकतम हमारे समाज के निर्धनतम तथा वंचित तवकों से होते है। इनमें छात्राएं होती है और अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों से सम्बन्धित छात्र होते है।

लार्ड मेकाले ने भारत की शिक्षा प्रणाली पर सरकारी नियंत्रण स्थापित किया ताकि बिट्रेन विरोधी विचारों को बच्चों के दिमाग में प्रवेश करने से रोका जा सके। देश में एक बड़ा वर्ग बन गया जो ब्रिटिश शासन को ही उत्तम मानता था। भारत पर ब्रिटिश कुशासन स्थापित करने में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान था जो बात मेकाले पर लागू होती है। वह स्वतन्त्र भारत के शासकों पर भी लागू होती है। भारत के शासक भी शिक्षातंत्र के माध्यम से भारत की जनता को गुमराह कर सकते है। आधुनिक शिक्षा के माध्यम से यह मान्यता बना दी गई है कि सामाजिक व्यवहार का आधार सरकार है न कि भगवान। जब कि हिन्दू, ईसाई और इस्लाम सभी धर्म जोर देकर कहते है कि सामाजिक व्यवहार का आधार भगवान की वाणी है। शिक्षा के माध्यम से जनता को अपनी गिरफ्त में लेना शासकों के लिए थोड़े समय के लिए लाभकारी होता है। डॉ. राधाकृष्णन का विचार था कि भारत एकमात्र सभ्यता है जो ५००० वर्षो से भी अधिक समय से अनवरत् जीवित रही है। इसका श्रेय देश की शिक्षा प्रणाली को जाता है। मूल

बात यह है कि शिक्षा को सरकारी नियंत्रण से मुक्त रखने से जनता की स्वतन्त्र चिन्तन करने की शक्ति बनती है जो राज्य को भटकने से रोकती है। हमें अपनी पारम्परिक समाज केन्द्रित शिक्षा व्यवस्था को पुर्नजीवित करना चाहिए। अपनी शिक्षा व्यवस्था को सरकार के हवाले करने के स्थान पर समाज के हवाले करना चाहिए।

ग्याहरवी पंचवर्षीय योजना का दृष्टिकोण परिपत्र और शिक्षा अवधारणागत भ्रम से भरा हुआ है। उसमें बिना किसी औचित्य के सार्वजनिक निजी भागीदारी की वकालत की गयी है जो शिक्षा के निजीकरण तथा व्यवसायीकरण की ओर ले जायेगी। इससे फीसों में बढ़ोतरी और दूसरे बदलावों की वकालत की गई जिसमें खासतौर से लड़कियां और वांचित तवकों के छात्र शिक्षा से जुड़ने की बजाय उससे वंचित हो जाएंगे। दृष्टिकोण परिपत्र में ऐसी एक भी योजना नहीं पेश की गयी है जो शिक्षा में हर स्तर पर लड़कियों और वंचित तवकों के छात्रों को आकर्षित करने वाली हो, उन्हें दाखिला देने से या उन्हें शिक्षा से जोड़े रखने से सम्बन्धित हो। किसी भी योजना के लिए ऐसी एक भी योजना नहीं पेश की गयी है जो शिक्षा में हर स्तर पर लड़कियों और वंचित तवकों के छात्रों को आकर्षित करने वाली है, उन्हें दाखिला देने से या उन्हें शिक्षा से जोड़े रखने से सम्बन्धित हो। किसी भी योजना के लिए ऐसी कोई सिफारिश इस दृष्टिकोण परिपत्र में नहीं की गई है जो करोड़ों बाल श्रमिकों स्कूलों में लाने वाली हो। शिक्षा मुहैया कराने की सार्वजनिक जिम्मेदारी की प्रमुखता पर जोर देने की बजाय यह निजी स्कूली तथा उच्च शिक्षा को बढ़ावा देता है। शिक्षा तक पहुंच तथा समानता को लेकर दृष्टिकोण परिपत्र में कोई चिन्ता जाहिर नहीं की गई है। दृष्टिकोण परिपत्र में उन निजी स्कूलों के लिए जिन्हें सरकार से वित्तीय मदद तथा दूसरे रूपों में समर्थन मिलता है गरीब तथा वंचित तबकों के छात्रों को दाखिला सम्भव व आसान नहीं हो पाता है।

एक लेख में इस प्रकार का विचार आया है कि – केन्द्र सरकार ने छह से चौदह वर्ष के बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए विशेष व्यवस्था बनाने का इरादा

प्रकट किया गया है, नेक है लेकिन उस पर अमल आसान नहीं। केन्द्र सरकार मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा के लिए प्रस्तावित कानून में यह प्रावधान करना चाहती है कि सभी स्कूलों में २५ प्रतिशत निर्धन बच्चों के लिए स्थान आरक्षित हों। चूंकि सरकार इन बच्चों की शिक्षा का खर्च स्वयं वहन करने के लिए तैयार है इसलिए गैर–सरकारी स्कूलों को एतराज नहीं होना चाहिए, लेकिन वे ऐसा कर भी सकते है। इस संदर्भ में यह विस्मृत नहीं किया जा सकता कि देश की राजधानी में ऐसे तमाम गैर सरकारी स्कूल है जो उच्च न्यायालय के निर्देशों के बावजूद निर्धन तबके के बच्चों को दाखिला देने के लिए तैयार नहीं। दुर्भाग्य से ऐसा तब है जब इन स्कूलों ने रियायती दर पर भूमि हासिल करते समय एक निश्चित संख्या में निर्धन परिवारों के बच्चों को शिक्षा प्रदान करने का वचन दिया था। कुछ ऐसा ही रवैया रियायती मूल्य पर जमीन हासिल करने वाले अस्पतालों ने भी अपना रखा है। साफ है कि मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा सम्बन्धी विधेयक में मानव संसाधन विकास मंत्रालय के मन मुताबिक प्रावधान नत्थी होने से बात बनने वाली नहीं। यदि स्कूलों में निर्धन वर्ग के बच्चों के लिए आरक्षण की व्यवस्था हो भी जाती है तो उनमें और विशेष रूप से गैर सरकारी स्कूलों में प्रवेश लेने वाले निर्धन तवके के बच्चे खुद को अन्य बच्चों से अलग–अलग महसूस कर सकते है, खासकर यह प्रावधान देखते हुए कि आरक्षित वर्ग के छात्रों को आठवीं तक अनुतीर्ण करने की अनुमति नहीं होगी। क्या एक स्कूल में अलग–अलग बच्चों के लिए भिन्न–भिन्न नियम बनाना ठीक होगा।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय यह भी चाह रहा है कि स्कूलों को निर्धन वर्ग के छात्रों के लिए विशेष पढ़ाई करानी होगी ताकि उनका स्तर ऊंचा उठ सके। यह एक उचित सुझाव है, लेकिन क्या इस पर कार्य हो सकेगा। इसी तरह क्या सरकारी तन्त्र गैर सरकारी स्कूलों की निगरानी कर सकेगा। प्रश्न यह भी है कि यदि केन्द्र और राज्य सरकारे यह सब सुनिश्चित कर सकती है तो फिर सरकारी स्कूलों की दुर्दशा दूर करने में सक्षम क्यों नही हो पा रही है ? क्या यह चिन्ताजनक नहीं कि एक बड़ी संख्या

में सरकारी स्कूलों में पठन–पाठन का स्तर गिरता चला जा रहा है। प्राइमरी शिक्षा से सम्बन्धित सरकारी स्कूलों की तो और भी अधिक दुर्दशा है। क्या यह किसी से छुपा है कि ऐसे विद्यालयों में बच्चे शिक्षित होने के नाम पर साक्षर हो रहे है। निःसंदेह बच्चों को शिक्षा प्रदान करने के नाम पर उन्हें अक्षर ज्ञान कराना उनके साथ किये जाने वाला अन्याय हैं। जब यह स्वयं सिद्ध है कि किसी भी राष्ट्र के विकास में शिक्षा की भूमिका सर्वोपर है तब प्राइमरी और माध्यमिक स्तर पर सरकारी स्कूलों की बढ़ती दुर्दशा तो राष्ट्रीय चिन्ता का विषय बनना चाहिए। केन्द्रीय सत्ता सबको शिक्षा उपलब्ध कराने के उद्देश्य के तहत जिस तरह प्रत्येक स्तर पर गैर सरकारी स्कूलों पर निर्भर होती जा रही है और उनमें आरक्षण के प्रावधान कर रही है उससे कहीं न कहीं यह भी प्रकट होता है कि वह अपने बलवूते स्वयं के सामाजिक दायित्वों का निर्वाहन नहीं कर पा रही है। बेहतर हो कि वह सबको गुणवत्ता प्रधान शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए आधे–अधूरे प्रयास करने के स्थान पर समग्र उपाय करे।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय के तहत कार्यरत राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय संस्थान की मदरसों में आधुनिक शिक्षा प्रदान करने की पहल एक सही शुरूआत है। यह समय की मांग है कि मदरसों के साथ–साथ मुस्लिम समाज का धार्मिक एवं राजनीतिक नेतृत्व इस पहल को समर्थन देने के लिए आगे आए। ऐसी अपेक्षा इसलिए की जाती है क्योंकि आज के युग में केवल धार्मिक शिक्षा से काम चलने वाला नहीं है। निःसंदेह धार्मिक शिक्षा के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता लेकिन किसी से छिपा नहीं है कि आधुनिक विषयों के ज्ञान के बगैर किसी भी वर्ग के छात्रोंके व्यक्तित्व का अपेक्षित विकास सम्भव नहीं। यहां से निकले छात्रों के समक्ष अपने जीवन को संवारने के अवसर बहुत ही सीमित होते हैं। मदरसों से निकले छात्रों को शायद ही कोई ढंग की नौकरी मिल पाती है। मुस्लिम समाज के पिछड़ेपन और गरीबी के लिए एक हद तक मदरसों की शिक्षा को पर्याय समझा जाता है। दरअसल आज के युग में जो समाज आधुनिक शिक्षा से जितना दूर रहेगा वह आगे बढ़ने में उतना ही असफल

साबित होगा। यद्यपि मदरसों को आधुनिक शिक्षा से जोड़ने की पहल इसके पहले भी की जा चुकी है, लेकिन वह परवान नहीं चढ़ सकी। जब भी शासन के स्तर पर ऐसी कोई पहल हुई मुस्लिम समाज के एक वर्ग ने उसे 'संदेह' की नजर से देखा। अनेक बार तो ऐसी किसी पहल को मदरसों और साथ–साथ मुस्लिम समाज के मामलों में अनावश्यक दखल करार दिया गया। देखना यह है कि राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय संस्थान की पहल का क्या हश्र होता है ? जो भी हो यह समझने की जरूरत है कि मदरसों के संदर्भ में सच्चर समिति की सिफरिशें मुस्लिम समाज का भला करने में सहायक सिद्ध नहीं होने वाली।

चूंकि राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय संस्थान की ओर से आधुनिक शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए दी जाने वाली सुविधाओं से कोई शर्त नहीं जुड़ी है इसलिए उसे हासिल करने में गुरेज नहीं किया जाना चाहिए। क्या मुस्लिम समाज का नेतृत्व यह सुनिश्चित करेगा कि मदरसे आधुनिक शिक्षा का भी केन्द्र बने। बेहतर होगा कि दारूल उलूम जैसी संस्थाएं मदरसों को इसके लिए प्रेरित करें कि वे राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय संस्थान की ओर से मुहैया कराए जाने वाली सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए आगे आए। प्रेरणा प्रदान करने का यह कार्य उत्तर भारत में खास तौर पर होना चाहिए क्योंकि दक्षिण के राज्यों के मुकाबले उत्तर भारत के मुस्लिम छात्र आधुनिक शिक्षा से कहीं अधिक दूर है। वे सामाजिक पिछड़ेपन के रूप में इसकी कीमत भी चुका रहें है। यह आश्यर्चजनक है कि राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय संस्थान अभी तक मध्य प्रदेश में कुछ मदरसों को सम्बद्ध कर वहां अपना एक केन्द्र ही बना सका है। आज आवश्यकता इस बात की है कि देश का प्रत्येक वह मदरसा राष्ट्रीय मुक्त विद्यालय संस्थान का केन्द्र बने जो आधुनिक शिक्षा से अछूता है। यह ठीक है कि मौलाना मौलवियों का एक वर्ग कम्प्यूटर की उपयोगिता समझने लगा है लेकिन अभी ऐसे मदरसों की संख्या बहुत कम है जहां के छात्र आधुनिक ज्ञान के इस माध्यम से कुछ जानने–सीखने और समझने में समर्थ है।

शिक्षा जगत का एक रूप यह भी है कि अनावश्यक बोझ के कारण छात्रों में परीक्षाओं के प्रति भय होता है जिसकी परिणति आत्म हत्याओं में देखने को मिलती है। इस पक्ष पर एन.सी.आर.टी. के पूर्व निर्देशक श्री जगमोहन सिंह राजपूत का लेख अभी हाल में आया है उनके अनुसार किसी भी समाज तथा उसकी शिक्षा व्यवस्था के लिए यह अत्यन्त दुखद स्थिति है यदि एक भी बच्चा शिक्षा या परीक्षा के कारण आत्म हत्या करता है तो सारे देश का उत्तरदायित्व बनता है कि वह ऐसी परिस्थितियों को बदले ताकि ऐसी घटना की पुनरावृत्ति न हो। कुछ समय पहले इस विषय पर संसद में सार्थक चर्चा हुई। एक अध्ययन का हवाला दिया गया कि परीक्षा के आसपास 15 दिनो में परीक्षार्थियों ने आत्म हत्या के तीन सौ प्रयास किये।

श्री सिंह ने कहा है कि – "सच यह भी है कि सरकार और शिक्षा वास्तविकता से एक–दूसरे से कोसों दूर है। बच्चों पर बस्तों के बोझ पर आर.के. नारायण ने नौवें दशक के प्रारम्भ में राज्य सभा में एक अविस्मरणीय वक्तव्य दिया था। इसके बाद सरकार ने एक समिति का गठन किया इस समिति ने 1992 में "लर्निग विदाउट वर्डन" रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसने अनेक सिफारिशें की ओर जैसा कि अक्सर होता है कक्षा स्तर पर स्थिति यथावत बनी रही। सन् 1993 से 200 तक पाठ्य पुस्तकों तक में कोई बदलाव नहीं किया गया। सन् 1988 में पाठ्यक्रम की जो रूपरेखा बनी थी उसमें एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सुझाव था कि सामाजिक विज्ञान को समेकित ढंग से पढ़ाया जाए। इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र तथा राजनीति शास्त्र की अलग–अलग पुस्तकों की कक्षा 6 से 10 तक कोई आवश्यकता नहीं आंकी गई। यह भी सुझाव दिया गया कि इन विषयों में पुनरावृत्तियों को हटाया जाए, इनके आपसी जुड़ाव पर जोर दिया जाए और व्यवहारिक पक्ष उभारा जाए। अपेक्षा थी कि इससे बच्चों पर अनावश्यक बोझ घटेगा और मानसिक तनाव कम होगा। सन् 1988 के बाद जब नए पाठ्यक्रम के आधार पर पुस्तके तैयार हुई तो भी पुरानी पुस्तकें सामाजिक विज्ञान में जैसे की तैसी बनी रही। कहा जाता है कि उनके लेखक इतने प्रसिद्ध व्यक्तित्व थे कि उनकी पुस्तकों

के स्थान पर नई पुस्तकों को लाने का साहस किसी में नहीं था। .... खेल–खेल में शिक्षा, आनन्दपूर्ण अध्ययन, बच्चे बनाए पाठ्यक्रम बच्चे ही ज्ञान सृजन करे इस प्रकार के अनेक वाक्य विन्यास पिछले चार दशकों से शिक्षा विभाग के हर दस्तावेज में आते रहे हैं लेकिन ये दस्तावेजों तथा चर्चा सभा तक ही सीमित रह जाते हैं। पिछले चार वर्षों में यह सब लगातार दोहराया गया। आत्महत्या करने वालों तथा आत्म हत्या की स्थिति तक पहुंचने वालों की संख्या लगातार बढ़ी है।

शिक्षा व्यवस्थायें फेल केवल बच्चा ही माना जाता है और किसी पर इसकी जिम्मेदारी नहीं होती है। जब बालक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह स्वयं ज्ञान का सर्जन करे तो यह कैसे भुलाया जा सकता है कि उसे एक वातावरण की भी आवश्यकता होती है जहां वह यह कर सके। इस तथ्य को नीतियां बनाते समय पूरी तरह नजर अंदाज कर दिया जाता है कि देश के 75-80 प्रतिशत स्कूल सरकारी है और वहा की स्थिति से अपरिचित कोई नहीं है, वहां ऐसा वातावरण है ही नहीं। सामाजिक विज्ञान में किए गए परिवर्तनों का यह उदाहरण दर्शाता है कि बच्चों के सामने मुश्किलें घटाने के बजाय बढ़ाई जा रही है। एक स्वायत्त संस्था चार–पांच वर्ष की मेहनत से पाठ्यक्रम तथा पाठ्य पुस्तकें तैयार करती है लेकिन सरकार बदलने पर उन्हें अस्वीकार्य घोषित कर दिया जाता है। सी.वी.एस.ई. अप्रैल 2004 के बाद फिर विषयवार पुस्तकों की ओर लौट जाती है। इन्हें पूरी तरह विचार करने तथा मूल्यांकन कर परिवर्तन करने का अवसर ही नहीं दिया जाता है। अंततः बच्चे ही फेल होते हैं, बाकी सब अपने को पास घोषित कर लेते हैं। यह तंत्र तभी बदलेगा जब शिक्षा राजनीति और राजनीतिज्ञों के चंगुल से मुक्त हो सकेगी।

अपने देश की भाषा दुर्दशा में सुधार के लिए निम्न पर कार्य किया जाना आवश्यक है।

सुझाव

1. शिशु देखरेख तथा शिक्षा अधिकार का सार्वभौमीकरण किया जाए तथा उसका क्रियान्वयन किया जाए। मौजूदा आंगनवाड़ियों को अपग्रेड किया जाए और जहां इस तरह की व्यवस्था नही हो वहां ऐसी व्यवस्था की जाए। आंगनवाड़ियों को स्कूली प्रणाली से जोड़ा जाए। 14 वर्ष की उम्र तक के बच्चों के लिए मुफ्त तथा आवश्यक शिक्षा सुनिश्चित की जाए।
2. बाल श्रम को उसके हर रूप में खत्म किया जाए।
3. साझा स्कूल प्रणाली के लिए प्रयास किए जाए। तय किलोमीटर दायरा के भीतर कम से कम एक सरकारी स्कूल सुनिश्चित किया जाए जिसमें शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।
4. स्कूलों को मान्यता धर्म निरपेक्षता लोकतन्त्र, समानता सामाजिक न्याय तथा वैज्ञानिक मिजाज के संवैधानिक सिद्धान्तों के आधार पर ही दी जाए। इन्हीं सिद्धान्तों के मद्देनजर शिक्षा अधिकार विधेयक 2005 को संशोधित किया जाए।
5. शिक्षा कोष को पूरी तरह सरकारी स्कूली शिक्षा पर खर्च किया जाए।
6. शिक्षा पर सफल घरेलू उत्पाद का कम से कम 6 फीसद खर्च किया जाए।
7. रोजगारोन्मुखी कार्य कुशलता और व्यवहारिक कौशल को पाठ्यक्रम में शामिल किया जाए ताकि कार्य संस्कृति तथा रोजगार–परकता को विकसित किया जा सके।
8. सरकारी उच्च शिक्षा संस्थानों में कोई स्व–वित्त कोर्स नहीं होना चाहिए। उदार फ्रीसिप तथा छात्रवृत्तियों और समुचित बुनियादी ढांचे के साथ और ज्यादा सरकारी संस्थान खोले जाए। सरकारी संस्थानों में नए तथा उभरते क्षेत्रों के

कोर्स खोले जाए। सरकारी तकनीकी तथा पेशागत शिक्षा का विस्तार किया जाए। सामाजिक जरूरतों पर शोध के लिए और स्वतन्त्र तथा आलोचनात्मक सोच की रक्षा के लिए धन मुहैया कराया जाए।

9. शिक्षा में किसी तरह का प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति न दी जाए।

10. फीसों के नियमन, आरक्षण के साथ प्रवेश पाठ्यक्रम बुनियादी ढांचागत सुविधाओं और सभी गैर–सहायता प्राप्त संस्थानों जिनमें अल्पसंख्यक गैर सहायता प्राप्त संस्थान भी शामिल है के स्टाफ के वेतन तथा सेवा शर्तो के लिए केन्द्र तथा राज्य स्तरीय कानून बनाए जाएं।

11. कालेजों पर स्वायत्त दर्जान थोपा जाए।

12. कोई निजी विश्वविद्यालय की स्वीकृत न दी जाए। मौजूदा निजी विश्वविद्यालयों को कालेजों के रूप में सम्बद्धता लेनी चाहिए। निजी संस्थानों को डीम्ड विश्वविद्यालयों का जो दर्जा दिया गया है उसे खत्म किया जाए। डीम्ड विश्वविद्यालय का दर्जा देने का पुराना मानदंड बहाल किया जाए। पिछले चार पांच साल में शुरू हुए सभी डीम्ड विश्वविद्यालयों की पुराने मानदंड के आधार पर जांच–पड़ताल हो।

13. शिक्षा का निजीकरण तथा व्यवसायीकरण बन्द किया जाए। सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में शुरू की गई पेशकशों को वापस लिया जाए।

14. शिक्षकों तथा गैर–शिक्षक स्टाफ की नियमित आधार पर नियुक्ति की जाए। ठेका प्रणाली को खत्म किया जाए।

15. फीस का कोई अलग ढांचा न हो। सरकारी संस्थानों में फीस बढ़ोतरी न हो और ज्यादा सरकारी फंड के जरिए गुणवत्ता सुनिश्चित की जाए।

16. बैंक ऋणों पर ब्याज की दरें कम की जाएं और बिना जमानत के बैंक ऋण मुहैया कराया जाए।

17. सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली का जनतांत्रीकरण किया जाए। निर्णयकारी निकायों में छात्रों, शिक्षकों तथा गैर शिक्षक स्टाफ के चुने हुए प्रतिनिधियों की भागीदारी सुनिश्चित की जाए।

18. राष्ट्रीय विकास के लक्ष्यों के अनुरूप अकादमिक प्रासंगिकता तथा शिक्षा की साख हर स्तर पर मजबूत बनाई जाए।

19. सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली की समीक्षा के लिए शिक्षा सम्बन्धी एक राष्ट्रीय आयोग का गठन किया जाए।

20. अध्यापकों के प्रशिक्षण पर ध्यान दिया जाए और एक निर्धारित समय सीमा के बाद उनका पुर्नप्रशिक्षण कराया जाए।

21. शिक्षा पाठयक्रम में अनुशासन सम्बन्धी विषयपूर्व महापुरूषों के जीवन वृतांत को लेकर जोड़ा जाय।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सहायक सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्रमांक	लेखक	पुस्तक का नाम	प्रकाशक	वर्ष
१.	भटनागर आर.पी.	शिक्षा अनुसंधान	लाल बुक डिपो, मेरठ	१९५५
२.	ढौंढ़ियाल सच्चिदानंद फाटक अरविन्द	शैक्षिक अनुसंधान का विधि शास्त्रा	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर	१९७२
३.	राय, पारसनाथ	अनुसंधान परिचय	लक्ष्मी नारायण अग्रवाल अस्पताल मार्ग, आगरा	१९८५
४.	शर्मा आर. ए.	शिक्षा अनुसंधान	सूर्या पब्लिकेशन, मेरठ	१९९५
५.	चौबे, एस.पी.	भारतीय शिक्षा के कुछ दार्शनिक	रामनारायण लाल बुक सेलर्स, इलाहाबाद	
६.	कपिल, एच.के.	अनुसंधान विधियां	हरप्रसाद भार्गव, ४/२३० कचहरी घाट, आगरा	१९८१
७.	तिवारी डा गोविन्द	शैक्षिक एवं मनोवैज्ञानिक अनुसंधान के मूल आधार	विनोद पुस्तक भण्डार आगरा	१९८५
८.	पाण्डे के. पी.	शैक्षिक अनुसंधान	विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी	१९९८
९.	सिन्हा एच.सी.	शैक्षिक अनुसंधान	विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि., नई दिल्ली	१९९७
१०.	सुखिया एस.पी., मेहरोत्रा वी.पी., मेहरोत्रा आर.एस.	शैक्षिक अनुसंधान के मूल तत्व	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	
११.	त्रिपाठी लालवचन	मनोवैज्ञानिक अनुंसधान पद्धति	हरप्रसाद भार्गव कचहरी घाट, आगरा	१९८३
१२.	चौबे एस.पी.	शिक्षा मनोविज्ञान	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	१९९०
१३.	जायसवाल-सीताराम	व्यक्तित्व का मनोविज्ञान	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	१९९१
१४.	मिश्र डा. आत्मानन्द	शिक्षा कोष	ग्रन्थम प्रकाशन, कानपुर	१९७७
१५.	पाण्डेय रामशकल	विश्व के श्रेष्ठ शिक्षा-शास्त्री	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	१९५५

१६.	मलैया के.सी.	भारतीय शिक्षा आयोग और समितियां	लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद	१९७१
१७.	रसूल डा. एस. गुलाम एवं कृष्णमूर्ति डा. सरागु	तुलनात्मक अनुसंधान एवं उनकी समस्यायें	हिन्दी साहित्य भण्डार लखनऊ	१९८०
१८.	सम्पादक मिश्र आत्मानन्द	भारतीय शिक्षा के प्रवर्तक	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	१९७२
१९.	ओड़ लक्ष्मी लाल के.	शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि	राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर	१९७३
२०.	पाण्डेय रामशकल	शिक्षा की दार्शनिक एवं समाज शास्त्रीय पृष्ठभूमि	विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा	१९९०
२१.	पाण्डेय के.पी.	नवीन शिक्षा दर्शन	अमिताश प्रकाशन गाजियाबाद	१९८८
२२.	व्यास रामनरायण	शिक्षा दर्शन विवेचन और सामंजस्य	हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली वि.वि.	१९९१
२३.	विनोबा	शिक्षण और विचार	सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट	१९६०
२४.	अदावल सुबोध एवं अग्रवाल कन्हैयालाल	शिक्षा के सिद्धान्त	दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया, दिल्ली	
२५.	अल्तेकर अनन्तसदा शिव	प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति	मनोहर प्रकाशन १४/३, जतनपुर	
२६.	पाल एस.के. एवं अग्रवाल	शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त	बसुन्धरा प्रकाशन २३६ दाउदपुर, गोरखपुर	१९८६
२७.	विनोबा	शिक्षा, शिक्षक और तत्व बोध	सर्व सेघा संघ प्रकाशन राजघाट काशी, वाराणसी	
२८.	सैयदन के.जी. (रूपान्तरकार आरहाक अतुल)	शिक्षाशास्त्र	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	
२९.	क्षत्रिया के एवं अरोरा विमल	शिक्षा सिद्धान्त	लक्ष्मी नरायन अग्रवाल प्रकाशन, आगरा	

३०.	शर्मा डा. रामनाथ	समकालीन भारतीय शिक्षा दार्शनिक	विनीत पब्लिकेशन, मेरठ लखनऊ, आगरा	
३१.	सेठ गोविन्द दास	युगपुरुष नेहरू	हिन्द पाकेट बुक्स प्रा. लि. दिल्ली	१९६४
३२.	सेठ गोविन्द दास	देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद	हिन्द पाकेट बुक्स प्रा. लि. दिल्ली	१९६५
३३.	सेठ गोविन्द दास	महापुरुषों की जीवन झांकिया	हिन्दी पाकेट बुक्स प्रा. लि. दिल्ली	
३४.	वर्मा नागचन्द्र	डा. जाकिर हुसैन व्यक्तित्व और विचार	चिन्मय प्रकाशन चौड़ा सस्ता रास्ता, जयपुर	१९८४
३५.	इन्द्रसेन	श्री अरविन्द जी का जीवन दर्शन	सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन नई दिल्ली	१९८२
३६.	गाँधी जी	सच्ची शिक्षा	नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद	१९६२
३७	गाँधी जी	शिक्षा की समस्या	नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद	
३८.	गाँधी जी	शिक्षा का माध्यम	नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद	
३९.	गाँधी जी	सर्वोदय	नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद	
४०.	गाँधी जी	विद्यार्थियों से	नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद	
४१.	गाँधी जी	मेरे सपनों का भारत	नवजीवन प्रकाशन अहमदाबाद	
४२.	माचवे डा. प्रभाकर	आधुनिक भारत के विचारक	बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना	१९७८
४३.	-	हिन्दी साहित्य कोष (नाम वाची शब्दावली)	ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी	१९८६
४४.	शर्मा डा.बी.आर.	हमारे स्वतन्त्रता सेनानी	किताब घर मेन रोड गाँधीनगर, दिल्ली	१९९५

४५.	प्रभाकर विष्णु	हम इनके ऋणी है	किताब घर मेन रोड गाँधीनगर, दिल्ली	१६८४
४६.	पारीक डा. सत्येन्द्र	भारत के राष्ट्रपति	श्याम प्रकाशन फिल्म कालोनी, जयपुर	१६८८
४७.	श्री व्यथित हृदय	स्वतन्त्रता-संग्राम के गाँधीवादी सेनानी	जगदीश भारद्वाज सामयिक प्रकाशन ३५४५ जटवाड़ा दरिया गंज, नई दिल्ली	१६८८
४८.	वर्मा रामचन्द्र	शब्द साधना	रचना प्रकाशन ४५ ए खुल्लाबाद, इलाहाबाद	१६७१
४६.	डा. राजेन्द्र प्रसाद	साहित्य शिक्षा और संस्कृति	आत्माराम एण्ड संस दिल्ली	१६५२
५०.	डा. राजेन्द्र प्रसाद	चम्पारन में महात्मा गाँधी	बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना	१६६५
५१.	डा. राजेन्द्र प्रसाद	भारतीय शिक्षा	-	
५२.	डा. राजेन्द्र प्रसाद	इण्डिया डिवाइडेड (खण्डित भारत)	ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी	१६४५
५३.	डा. राजेन्द्र प्रसाद	बापू के कदमों में	ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी	१६३७
५४.	डा. राजेन्द्र प्रसाद	मेरे यूरोप के अनुभव	ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी	१६२८
५५.	डा. राजेन्द्र प्रसाद	संस्कृत का अध्ययन	ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी	१६३७
५६.	डा. राजेन्द्र प्रसाद	गाँधी मार्ग	ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी	
५७.	डा. राजेन्द्र प्रसाद	आत्मकथा	नेशनल बुक ट्रस्ट नई दिल्ली	२०००
५८.	सिंह कर्ण	वेदान्त और विश्व चेतना	प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय नई दिल्ली	१६६६
५६.	सिंह परमेश्वर प्रसाद	हमारे प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद	साधना पब्लिकेशन दिल्ली	२००५
६०.	चौधरी बाल्मीकि	डा. राजेन्द्र प्रसाद सचित्र जीवनी	प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय नई दिल्ली	१६६५
६१.	वर्मा ताराचन्द्र	डा. जाकिर हुसैन व्यक्तित्व और विचार	चिन्मय प्रकाशन चौड़ा रास्ता जयपुर	१६८४

६२.	डा. जाकिर हुसैन	तालिमी खुतवांद (शिक्षा)		
६३.	डा. जाकिर हुसैन	एजूकेशन रिकन्सट्रक्शन इन इंडिया (भारत में शिक्षा पुर्ननिर्माण)		
६४.	डा. जाकिर हुसैन	प्लेटो की पुस्तक का हिन्दी अनुवाद		
६५.	माजदा असद	आत्मिक भारत के निर्माता डा. जाकिर हुसैन	निदेशक प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय नई दिल्ली	१९९५
६६.	सैयदा खुर्शीद आलम	अनुवादक निजामुद्दीन जाकिर साहब की कहानी	नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया नई दिल्ली	२०००
६७.	शर्मा डा. शंकर दयाल	भारतीयता के आधार	पाण्डुलिपि प्रकाशन ७७/१ ईस्ट आजाद नगर, दिल्ली	२०००
६८.	वर्मा डा. वैद्यनाथ प्रसाद	विश्व के महान शिक्षाशास्त्री	बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना	१९७२
६९.	झा राकेश कुमार	गांधी चिन्तन में सर्वोदय	पोईन्टर पब्लिशर्स, जयपुर	
७०.	सक्सेना एन.आर.	शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त	सूर्या पब्लिकेशन, मेरठ	
७१.	सम्पादक कश्यप डा. सुभाष	मौलाना अबुल कलाम आजाद	नेशनल पब्लिकेशन हाउस दिल्ली	
७२.	सम्पादक अग्रवाल सतीश कुमार	साहित्य परिचय (शैक्षिक प्रगति विशेषांक १९७८)	विनोद पुस्तक मंदिर आगरा	
७३.	जवाहरलाल नेहरू	मेरी कहानी	सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली	१९४६
७४.	एस. डा. राधाकृष्णन	स्वतंत्रता और संस्कृति	सन्मार्ग प्रकाशन दिल्ली	
७५.	शर्मा डा. आर. ए.	शोध प्रबन्ध लेखन	लाल बुक डिपो, मेरठ	
७६.	एस. डा. राधाकृष्णन	धर्म और समाज	हिन्द पाकेट बुक्स नई दिल्ली	
७७.	एस. डा. राधाकृष्णन	पूर्व और पश्चिम कुछ विचार		
७८.	एस. डा. राधाकृष्णन	भगवत गीता	हिन्द पाकेट बुक्स नई दिल्ली	

७९.	एस. डा. राधाकृष्णन	सत्य की ओर	हिन्द पाकेट बुक्स नई दिल्ली	
८०.	एस. डा. राधाकृष्णन	धर्म तुलनात्मक दृष्टि में		
८१.	एस. डा. राधाकृष्णन	भारतीय दर्शन भाग १		
८२.	एस. डा. राधाकृष्णन	भारतीय दर्शन भाग २		
८३.	एस. डा. राधाकृष्णन	रवीन्द्र दर्शन		
८४.	एस. डा. राधाकृष्णन	जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली	१९९२
८५.	एस. डा. राधाकृष्णन	उपनिषदों की भूमिका		
८६.	एस. डा. राधाकृष्णन	महात्मा गाँधी सौ वर्ष		
८७.	एस. डा. राधाकृष्णन	गौतम बुद्ध जीवन दर्शन	राजकमल प्रकाशन दिल्ली	
८८.	एस. डा. राधाकृष्णन	आज का भारतीय साहित्य		
८९.	एस. डा. राधाकृष्णन	भारतीय संस्कृति कुछ विचार	हिन्द पाकेट बुक्स नई दिल्ली	२००४
९०.	-	कल्याण विशेषांक (शिक्षा अंक)	गीता प्रेस, गोरखपुर	
९१.	एस. डा. राधाकृष्णन	हमारी संस्कृति	हिन्द पाकेट बुक्स नई दिल्ली	१९९९
९२.	एस. डा. राधाकृष्णन	रचनात्मक जीवन	हिन्द पाकेट बुक्स नई दिल्ली	१९९९
९३.	एस. डा. राधाकृष्णन	हमारी विरासत	हिन्द पाकेट बुक्स नई दिल्ली	
९४.	एस. डा. राधाकृष्णन	सत्य की खोज	हिन्द पाकेट बुक्स नई दिल्ली	
९५.	एस. डा. राधाकृष्णन	उद्देश्यपूर्ण जीवन	हिन्द पाकेट बुक्स नई दिल्ली	
९६.	प्रेमानन्द कुमार	सर्वपल्ली राधाकृष्णन	साहित्य अकादमी रविन्द्र भवन ३५ फिरोजशाह मार्ग नई दिल्ली	२००१
९७.	Alam Froz	Sarvepalli Radhakrishnan A learned soul	Sahni Publication Delhi	2004
९८.	मिश्र भगवतीशरण	भारत के राष्ट्रपति	राजपाल एण्ड संस कश्मीरी गेट, नई दिल्ली	२००५
९९.	शर्मा प्यारेलाल	डा. राधाकृष्णन	पुनीत प्रकाशन इन्दौर	२००५
१००.	पाठक पी.डी. त्यागी जी.एस.डी.	भारतीय शिक्षा में आयोग	विनोद पुस्तक मंदिर आगरा	२००५

१०१.	डा. एस. राधाकृष्णन	आत्मिक साहचर्य	रंजन प्रकाशन दिल्ली	१०६२
१०२.	बारिया धरम	डा. राजेन्द्र प्रसाद	मनोज पब्लिकेशन्स दिल्ली	२००५
१०३.	डा. आलम सईदा खुर्शीद	जाकिर साहब की कहानी उनकी बेटी की जुबानी	अरूणोदय प्रकाशन ३५ डी.डी.ए. फ्लैट मान सरोवर पार्क शाहदरा दिल्ली	
१०४.	आजमी अब्दुल लतीफ	तीसरे राष्ट्रपति डा. जाकिर हुसैन	मार्डन पब्लिशर्स दरियागंज दिल्ली	
१०५.	रश्मि डे	व्यक्तित्व मनोविज्ञान		
१०६.	श्री श्री प्रकाश	भारतीय शिक्षा की समस्यायें	मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ	
१०७.	सिंघल महेश प्रसाद	शिक्षा की वर्तमान समस्यायें	हिन्दी राज्य अकादमी राजस्थान	
१०८.	गुप्ता डा. सुशील प्रकाश	भारतीय शिक्षा का इतिहास समस्यायें	शारदा पुस्तक भवन इलाहाबाद	
१०९.	कोहली वी. के.	शिक्षा की समस्यायें	प्रकाश बुक डिपो, अम्बाला	
११०.	वर्मा जी. आर.	शिक्षा की समस्यायें	प्रगति प्रकाशन, गोरखपुर	
१११.	Dr. Ramesh Chandra	From Scientist to President of India	Sri Narayan Publishiers New Delhi	
११२.	Bhatt, B. D. & Agrwal J.C.	Education or documents in India (1831-1968)	Arya Book Depot New Delhi	1969
११३.	Buch M. B.	A survey of research in Education	Centre of Advance Study	
११४.	Buch M.B.	Second Survey of research in Education		
११५.	Buch M.B.	Third survey of research	N.C.E.R.T. New Delhi	1986
११६.	Buch M.B.	Fourth Survey of research in Education I & II	N.C.E.R.T. New Delhi	1991
११७.	Buch M.B.	Fifth survey of research in Education		
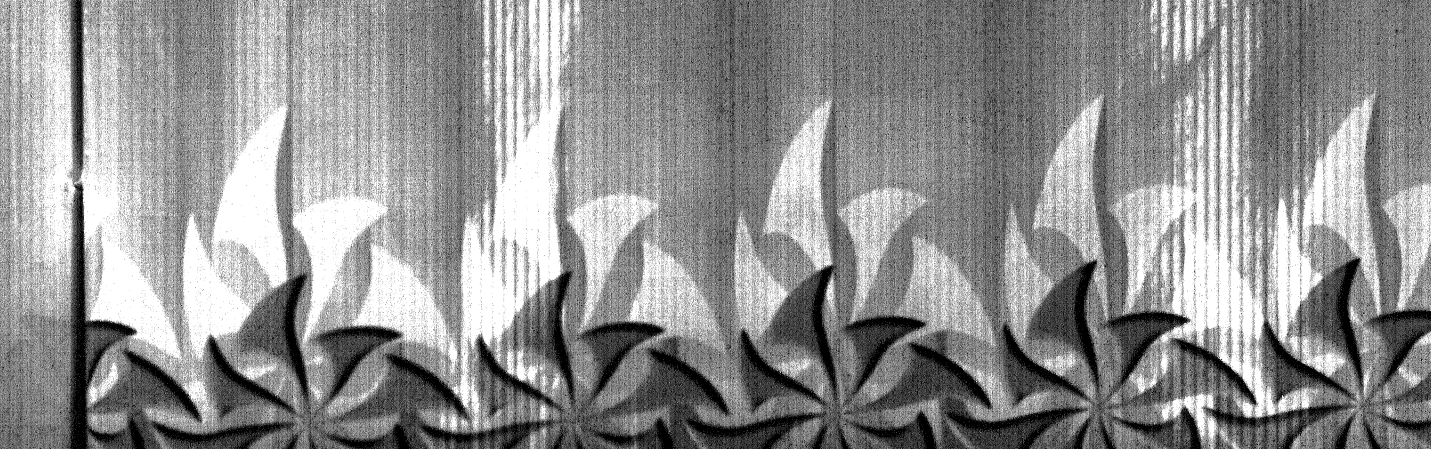
११८.	Singh,Tribhuwan Raj, Umesh Chandra	Four Decades of Educational research	Indian-Multi Enter Varanasi	1981
११९.	Chaube S.P.	Indian & Western Educational Philosopheas	Vinod Pustak Mandir Agra	1995
१२०.	Biswas Arabind Agrawal, Suren	Indian Educationals documents since Independence (Committees, Commissions Corference)	The Academic Publishers	1971
१२१.	Datta C.L.	With two presidents	Vikas Publications Delhi 6	1970
१२२.	Good Barr	Scales Methology of Educational Research Appleton Century com	Macmellon & Company Newyork	
१२३.	Jhon W. Best	Research in Education	Printice hall of India New Delhi	
१२४.	F. L. Whitney	The Elements of Research	Uresiya Pali House New Delhi	
१२५.	Lekosh Kaul	Methodology of Educational Research	Sterling New Delhi	
१२६.	Kerlinger F.N.	Foundation of Behavioural Reseach	Surjeet Publications Patna	
१२७.	अग्रवाल जे.सी.	एजूकेशन इन इण्डिया	आर्य बुक डिपो करोल बाग नई दिल्ली	१९९१-९६
१२८.	वर्मा सांवलिया बिहारीलाल	विश्वधर्म-दर्शन	बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद पटना	१९७५
१२९.	Chaube S.P.	Indian & Western Educational Philosophers	Vinbh Pustak Mandir	1995
१३०.		University News (1993-2004)	Association of Indian Universities Kotla Marg Delhi	1995
१३१.	विनोबा	गीता प्रवचन	सर्व सेवा संघ प्रकाशन राजघाट वाराणसी	2002

परिशिष्ट

(क) जन्मांक

(ख) वंश-वृक्ष

जन्मांक

10
8 सू.
11
9 बु. मं.
7 शु.
12 के.
6 रा.
1
3 श.
5 गु.
2 चं.
4
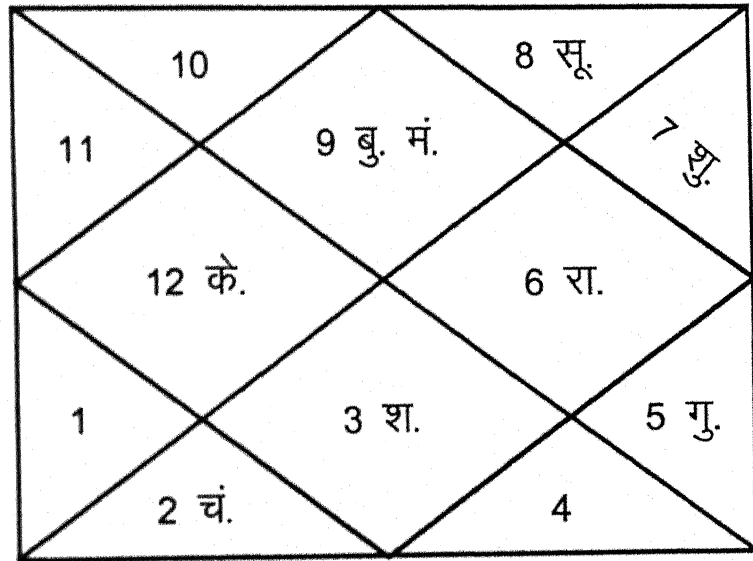
डा. राजेन्द्र प्रसाद

राष्ट्रपति

जन्म तारीख 3 दिसम्बर 1884

जन्मांक

7
5 सू. चं.
8 मं.
बृ. बु. शु.
6
श.
रा. 4
9
3
के 10
12
2
11
1
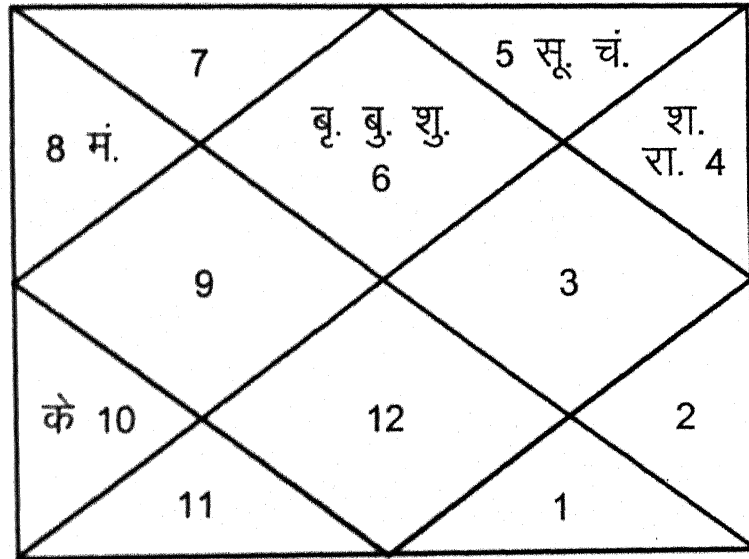
डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन

राष्ट्रपति

जन्म तारीख 5 सितम्बर 1888

जन्मांक

4 के.
2 मं.
5 बृ.
3
1 चं.
6
12 शु.
7
9
11
8 श.
10 सू. बु. रा.

डा. जाकिर हुसैन
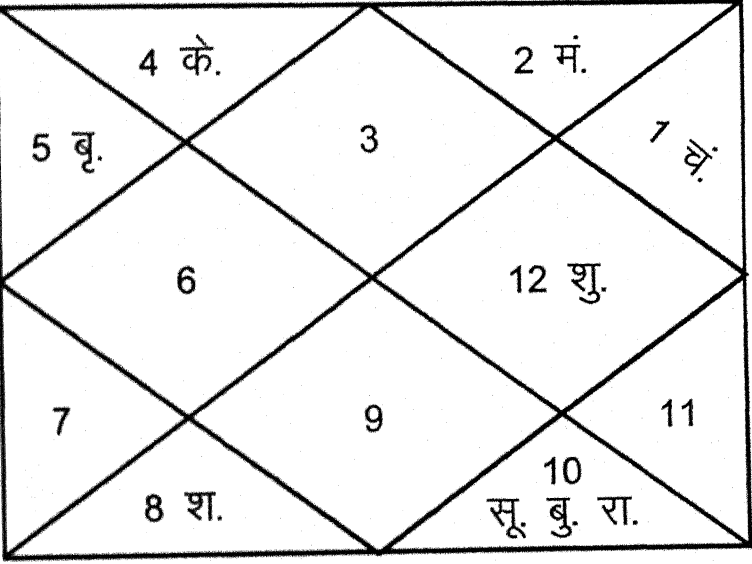
राष्ट्रपति

जन्म तारीख 8 फरवरी 1897

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद जी की वंशावली

डा. राधाकृष्णन का वंश-वृक्ष

सीता रमय्या
(कोन्डामा श्रीम. सीता रमय्या)

↓

वीरास्वामी – पिता सीताम्मा–माँ

↓

पुत्र

राधाकृष्णन
(पत्नी शिवाकामू)

पुत्र

पुत्र

पुत्र

पुत्री

राधाकृष्णन (पत्नी शिवाकामू) ↓

पुत्री
पत्नी जस्टिस शोषाचलम

पुत्र
सर्वपल्ली गोपाल

पुत्री
पत्नी के. एन. राव
डायरेक्टर स्वास्थ्य विभाग

पुत्री
पत्नी शाण्डिल्य
कोच फैक्ट्री वित्तीय विभाग
के डायरेक्टर

पुत्री
पत्नी शेष गिरी
राव एडवोकेट

पत्नी श्रीराम
डाइरेक्टर आफ आडिट
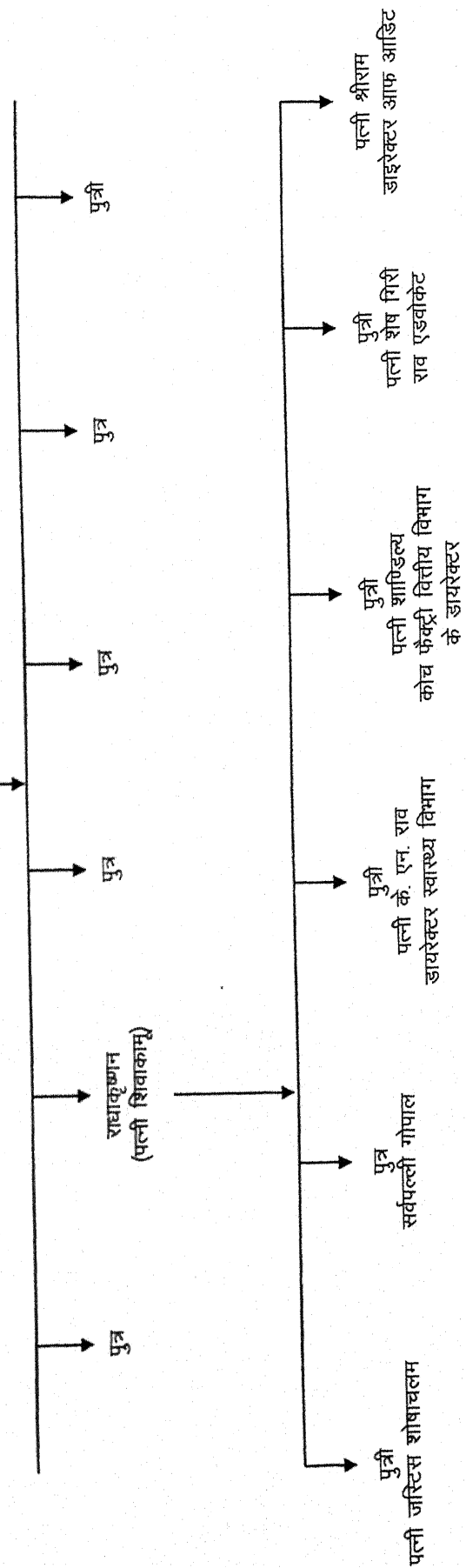
शुकल खैल कबीले में दो भाई सन 1719 में मुहम्मद शाह के समय खैबर और कोहटा अफगानिस्तान से आये।
हसन खाँ
हुसैन खाँ (मददाखुन)
अहमद हुसैन खाँ
मुहम्मद हुसैन खाँ
गुलाम हुसैन खाँ उर्फ मुन्ना खाँ
फिदा हुसैन खाँ
अता हुसैन खाँ (नि:सन्तान)
मुजफ्फर हुसैन खाँ (1966)
देहान्त 27 वर्ष की उम्र
(तपेदिक से)
(स्पेशल मजिस्ट्रेट)
आबिद हुसैन खाँ
(तपेदिक से देहान्त)
जाकिर हुसैन खाँ
जाहिद हुसैन खाँ
(तपेदिक से देहान्त
16–17 वर्ष की उम्र में)
युसुफ हुसैन खाँ
जाफर हुसैन खाँ
(प्लेग से देहान्त 6 वर्ष
की उम्र में)
मु. हुसैन खाँ
अजलम हुसैन खाँ
राशद मेहरो
अनवर हुसैन खाँ
इम्तियाज
हुसैन खाँ
मसूद
हुसैन
खदीजा
सैयदा
पत्नी खुर्शीद आलम खाँ
साफिया (पुत्री)
पत्नी प्रो. जिल्ल उर रहमान खाँ
भौतिक विज्ञान
अलीगढ़ विश्वविद्यालय
पुत्री
पुत्री
पुत्री
पुत्र
पुत्री
पुत्री
पुत्र